इकाई १ :तुलनात्मक राजनीति: महत्व, अर्थ, क्षेत्र एवं स्वरूप

इकाई सरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 तुलनात्मक राजनीति: अर्थ एवं व्याख्या

1.4 तुलनात्मक एवं राजनीतिक क्रियाओं के महत्व

1.5 तुलनात्मक राजनीति का विषय के रूप में विकास

1.6 तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति

1.7 तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

20 वीं सदी से राजनीति विज्ञान के विषय क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राजनीतिक समस्याओं, सिद्धान्तों तथा संस्थाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के मानदण्डों में भी परिवर्तन आया है। तुलनात्मक राजनीति, इसी दिशा में किया गया प्रयास है जिसके माध्यम से राजनीति विज्ञान में होने वाले परिवर्तनों का व्यवस्थिति ढंग से विश्लेषण करके सम्पूर्ण व्यवहार को समझने के लिए सामान्यीकरण किया जा सकता है। तुलनात्मक राजनीति के अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र एंव समस्याओं का विवेचन करने से पूर्व हमें उसके अध्ययन के महत्व को समझना होगा।

वस्तुतः तुलनात्मक राजनीति, राजनीति विज्ञान के बदलते हुए अध्ययन क्षेत्र का परिचायक है। इसके माध्यम से ऐसे नये तरीकों, तकनीकों तथा उपागमों का सृजन किया गया है जिनसे राजनीतिक वास्तविकताओं का (Political Realities) क्रमबद्व अध्ययन किया जा सके। यह भी सत्य है कि राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन किसी नवीन विकास से सम्बद्व नहीं है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन को भी समझा एवं विश्लेषित किया जा सकता है। जीन ब्लोंडेल के अनुसार, ''तुलनात्मक सरकारों का अध्ययन प्राचीनतम अत्यन्त कठिन एवं महत्वपूर्ण है तथा प्रारम्भ से ही मानव के ध्यान का आकर्षण रहा है।''१

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त ---

- तुलनात्मक राजनीति के अर्थ को समझ सकेंगे |
- तुलनात्मक राजनीति के प्रकृति को समझ सकेंगे|
- तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को समझ सकेंगे
- तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के महत्त्व के बारे में जान पायेंगे

1.3 तुलनात्मक राजनीति: अर्थ एवं व्याख्या

आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों का यह दावा है कि उन्होंने राजनीतिक प्रक्रिया के सिद्धान्त एवं प्रतिमान निर्माण की ओर प्रथम चरण के रूप में राजनीतिक विश्लेषण की नूतन अवधारणाओं के सुझाव प्रस्तुत किये हैं। उनका मानना है कि राज्य की अवधारणा विश्लेषण के एक उपकरण के रूप में उन राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना व उपयोगी अध्ययन करने में विशेष सहायक नहीं, जिनमें आकार संगठन, संस्थाओं एवं संस्कृति की आधारभूत भिन्नताएँ हों। अतएव राजनीति विज्ञान में वर्षों से प्रचलित परम्परागत अवधारणाओं जैसे-राज्य, सरकार, कानून, सत्ता के स्थान पर नई अवधारणाओं का प्रयोग अपरिहार्य माना जाने लगा, ताकि राजनीतिक क्रियाओं को गम्भीरता से समझा जा सके। अतएवं समकालीन राजनीति वैज्ञानिकों द्वारा राजनीतिक अध्ययन में राजनीतिक व्यवस्था (Political System) राजनीतिक संस्कृति (Political Culture).राजनीतिक संरचना (Political Structure),राजनीतिक विकास(Political Development) ,राजनीतिक आधुनिकीकरण ; (Political Modernization ,तथा राजनीतिक समाजीकरण (Political Socialization), आदि नई अवधारणाओं का प्रयोग किया जाने लगा। इन नई अवधारणाओं में भी आधारभूत अवधारणा (Basic Concept) राजनीतिक व्यवस्था को माना जाने लगा। इस राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित राजनीतिक प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, राजनीतिक व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त निर्माण के लक्ष्य से युक्त विज्ञान ही तुलनात्मक राजनीति है।

तुलनात्मक राजनीति के अर्थ को विस्तृत विवेचन करने से पहले इसका तुलनात्मक सरकार से अन्तर समझ लेना आवश्यक है। सामान्यतया दोनों का प्रयोग एक-दूसरे के लिए किया जाना स्वाभाविक है। परन्तु दूसरी ओर राजनीति विज्ञान में इनके सुनिश्चित अर्थ भी हैं। जी.के. राबर्टस ने दोनों का अर्थ अलग-अलग स्पष्ट करते हुए तुलनात्मक सरकार की परिभाषा इस प्रकार की है, ''तुलनात्मक सरकार राज्यों, उनकी संस्थाओं तथा सरकारों के कार्यों का अध्ययन है जिसमें शायद राज्य क्रिया से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध रखने वाले पूरक समूहों राजनीतिक दल व दबाव समूहों का भी अध्ययन सम्मिलित है।''६ इसी प्रकार जीन ब्लोंडेल का कहना है, ''तुलनात्मक सरकार समकालीन विश्व में राष्ट्रीय सरकारों के प्रतिमानों का अध्ययन है।७

तुलनात्मक सरकार की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इसमें राज्य से सम्बद्ध औपचारिक संस्थाओं का ही तुलनात्मक अध्ययन होता है। इसमें गैर-औपचारिक संस्थाओं तथा राजनतिक व्यवहार से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाओं सभी प्रक्रियाओं को सम्मिलित नहीं किया जाता। इसमें मुख्य जोर शासन की संस्थाओं के विश्लेषण पर है। राजीतिक व्यवहार के अनेक पक्षों का, जो सरकार का दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों को प्रभावित करते हैं, अध्ययन नहीं किया जा सकता है। दूसरी ओर तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीति व्यवहार की सम्पूर्णता के अध्ययन से है। इसमें उन

प्रभावों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाता है जिससे सरकारों के व्यवहारों का निर्धारण हो सके। ८

एडवर्ड ए. फ्रीमैन तुलनात्मक राजनीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''तुलनात्मक राजनीति सरकारों के विविध प्रकारों व विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण है।'' राय सी. मैक्रेडीज के अनुसार, ''हेरोडोट्स तथा अरस्तू के समय से ही राजनीतिक मूल्यों, विश्वासों, संस्थाओं सरकारों व राजनीतिक व्यवस्थाओं में विविधताएँ प्राणवान रही हैं तथा इन विविधताओं से समान तत्वों की खोज करने के जड़तीय प्रयास को तुलनात्मक राजनीति विश्लेषण की संज्ञा दी जानी चाहिये।''९

जी.के. राबर्टस के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति एक विस्तृत विषय है जिसके अन्तर्गत तुलनात्मक सरकारों के अध्ययन की विषय-वस्तु को सम्मलित किया जाता है तथा साथ ही गैर-राज्यीय राजनीतिक कबीले, समुदाय, वैयक्तिक संघों आदि की राजनीति अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है।''10

राल्फ ब्रेबन्ती ने तुलनात्मक की व्यापक परिभाषा की है, ''तुलनात्मक राजनीति सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में उन तत्वों की पहचान व व्याख्या है जो राजनीतिक कार्यो व उनके संस्थागत प्रकाशन को प्रभावित करते हैं।''11 माइकेल कर्टिस के अनुसार ''तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधिव राजनीति व्यवहार की महत्वपूर्ण निरन्तरताओं, समानताओं व असमानताओं से है।''12 आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति के तीन मौलिक मंतव्य हैं- प्रथम पश्चिमी तथा गैर-पश्चिमी देशों की संस्थाओं का एक साथ विश्लेषण, द्वितीय, राजनीतिक संस्थाओं का क्रमबद्व ढंग से अध्ययन करना एवं तृतीय तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धान्तों में सम्बन्ध स्थापित करना।''13

तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में राजनीति शब्द के तीन लक्ष्यार्थ हैं राजनीतिक क्रियाकलाप, राजनीतिक प्रक्रिया तथा राजनीतिक सत्ता। राजनीतिक क्रियाकलाप के अन्तर्गत वे प्रयास आते हैं जिससे सत्ता के लिए संघर्षरत लोग अपने हितों की यथासम्भव रक्षा कर सकें। राजनीतिक प्रक्रिया के अर्न्तगत उन सभी अभिकरणों की भूमिका आ जाती है जो निर्णय-निर्माण (Decision Making) प्रक्रिया से संग्लन हैं। इसी प्रकार सत्ता एक प्रकार का मानव सम्बन्ध है जिसके माध्यम से राजनीतिक प्रधिकार कुछ नीतियों के बारे में निर्णय करता है जिनका अनुपालन अन्य लोगों द्वारा करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति, राजनीति संस्थाओं तथा राजनीतिक व्यवहार की समानताओं-असमानताओं से सम्बद्ध है। तुलनात्मक राजनीति में एक स्वतत्र अनुशासन के लिए आवश्यक

सुस्पष्ट एवं निश्चित विषय-क्षेत्र है जिसका हम विस्तार से विवेचन इसी प्रकृति एवं क्षेत्र के अन्तर्गत करेंगे।

1.4 तुलनात्मक एवं राजनीतिक क्रियाओं के महत्व

राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन का श्रेय प्रथम राजनीति वैज्ञाननिक अरस्तू को ही जाता है। सर्वप्रथम अरस्तू ने ही। 158 देशों के संविधानों का अध्ययन करके संविधानों का वर्गीकरण निरंकुशतन्त्र (Tyranny) कुलीनतंत्र (Oligarchy) तथा लोकतन्त्र (Democracy) के रूप में किया था। अरस्तू के उपरान्त अनेक विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से अनेक नवीन दृष्टिकोणों एवं उपागमों का सृजन किया, जिससे राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन, विश्लेषण व वर्गीकरण को नया आयाम मिला। डॉ. सी. बी. गेना ने अपनी पुस्तक 'तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ' में तुलनात्मक एवं राजनीतिक क्रियाओं के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लिखित की है।२

(1) राजनीतिक व्यवहार को समझना (**To Understand the Political Behaviours**)

साधारणतया जनसाधारण के लिए तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन का महत्व इस बात में निहित है कि तुलनात्मक अध्ययन से देश की, बाहर के देशों की तथा अन्तराष्ट्रीय राजनीति एवं राजनीतिक व्यवहार को समझने में सहायता मिलती है। एक स्थान की राजनीतिक प्रक्रिया दूसरे स्थान से भिन्न होती है जिसका प्रमुख कारण यह है कि विभिन्न समाजों में रहने वाले मनुष्यों का राजनीतिक व्यवहार भिन्न होता है। आज प्रत्येक राजनीतिक समाज में अभिजनों का महत्व है और ये अपने व्यवहार से राजनीतिक प्रक्रियाओं, संस्थाओं एवं क्रियाकलापों पर प्रभाव डालते हैं। अतएवं विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अभिजनों के राजनीतिक व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन करने से हम विभिन्न देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझा सकते हैं। वार्ड एवं मैक्रेडीज के अनुसार ,''तुलनात्मक राजनीति विभिन्न समाजों के व्यक्तियों के मूल्य जो उन्हें प्रिय हैं, विधियाँ जिनका वे एक-दूसरे को व बाहरी विश्व को समझने में प्रयोग करते हैं तथा एक-जैसी राजनीतिक समस्याओं को हल करने के लिए भिन्न साधनों एवं समस्याओं को अपनाते हैं, इत्यादि को समझने में सहायक होती है।''३

राजनीतिक संस्थाओं, व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की विविधतायें सहजतः ही यह प्रश्न सामने लाती हैं कि क्यों एक राजनीतिक व्यवस्था एक स्थान पर सफल तथा अन्य स्थान पर असफल होती है क्यों मार्क्सवाद रूप में ही अपनी जड़ें जमा पाया? क्यों एशिया-अफ्रीका के देशों में अधिनायवाद की प्रवृति बलवती हो रही है? क्यों भारत में लम्बे समय तक एकदलीय प्रभुत्व (One Party Dominance) बना रहा? इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए आवश्यक है कि इन देशों में राजनीतिक व्यवहार की निरन्तरता की खोज की जाये तथा उसके कारकों का स्पष्टीकरण किया जाये। वास्तव में

तुलनात्मक राजनीति का महत्व इस बात में निहित है कि इससे राजनीतिक व्यवहार की जटिलताओं को समझा व स्पष्ट किया जा सकता है।

(2) राजनीति को वैज्ञानिक अध्ययन बनाना (**Making Politics a Scientific Study**) राजनीति विज्ञान के विद्वानों का अरस्तू के समय से ही यह प्रयत्न रहा कि राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित ज्ञान को विज्ञान का रूप किस प्रकार दिया जाये? तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन इसी प्रयत्न में विशेष सहायक प्रतीत होता, है क्योंकि विज्ञान में नियम प्रतिपादन न केवल राजनीतिक प्रक्रियाओं की अनेकता से सम्भव है, वरन् परस्पर प्रतिकूल व विविधताओं वाले राजनीतिक आचरण से ही उपलब्ध प्रचुर सामग्री से सम्भव है। 1955 के उपरान्त व्यवहारवाद के विकास ने तुलनात्मक राजनीति को इतना महत्वपूर्ण बना दिया है कि यही विज्ञान के रूप में राजनीति विज्ञान के विकास का प्रथम चरण बन गई है। तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन इसलिए भी उपयोगी बन जाता है कि विविधता एवं अनेकता युक्त राजनीतिक तथ्य एवं आँकड़े विभिन्न राजनीतिक क्रियाओं की तुलना से प्राप्त हो सकते हैं। कर्टिस के अनुसार, ''जबसे व्यवहारवादी दृष्टिकोण का प्रचलन हुआ, तबसे आज तक राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता की आधुनिकतम अभिव्यक्ति हम तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में ही पाते है।४ पीटर मर्कल के अनुसार ''वास्तव में राजनीति विज्ञान की श्रेणी में केवल तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही आ सका है इसलिए ही सम्भवतः अरस्तू के बाद से आज तक श्रेष्ठतम विचारक राजनीति के तुलनात्मक विश्लेषण में संलग्न रहे हैं।५

(3) राजनीति में सिद्वान्त निर्माण (**Theory Generation in Politics**) तुलनात्मक राजनीति का महत्व इस बात में भी परिलक्षित होता है कि तुलनात्मक अध्ययन से ही किसी विज्ञान

में सिद्धान्तों का निर्माण एवं नियमों का निरूपण सम्भव होता है। तुलनात्मक राजनीति प्रमाणित सामान्यीकरण तक पहुँचने में सहायता करती है।

मुख्यतः राजनीतिक सिद्धान्तों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है- आदर्शीकृत सिद्धान्त (Normative Theory) था आनुभाविक सिद्धान्त (Empirical Theory) सिद्धान्तों में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में कोई कल्पना मस्तिष्क में कर ली जाती है तथा फिर उस कल्पना को रचनात्मक रूप दिया जाता है। प्लेटो के दार्शनिक राजा के सिद्धान्त को इसी श्रेणी में रखा जाता है। इसके विपरीत आनुभाविक सिद्धान्तों में राजनीतिक व्यवहार के वास्तविक तथ्यों को समझकर सिद्धान्तों का निर्माण होता है। इसमें राजनीति वैज्ञानिक स्वयं तथ्यों के संकलन के लिए राजनीति व्यवहार के क्षेत्र में जाकर राजनीतिक व्यावहार का अवलोकन करता है।

तुलनात्मक राजनीति का अदर्शीकृत सिद्धान्तों के निर्माण में तो कोई योगदान नहीं हो सकता है परन्तु आनुभाविक सिद्धान्त तो केवल इसी के सहारे सम्भव होते हैं, क्योंकि यथार्थ राजनीतिक व्यवहार की तुलना से ही अनुभविक सिद्धान्त का निर्माण होता है। इसी से सामान्य तथ्यों को एकत्रित किया

जाता है, यथार्थ सामान्य नियम बनते हैं तथा इनके आधार पर सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्भव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलनात्मक राजनीति का महत्व राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में सिद्धान्त निर्माण में सर्वाधिक है।

(4) प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों की पुनः प्रमाणिकता (**Re-Validification of Existing Political Theories**) तुलनात्मक राजनीति का सर्वाधिक महत्व इस बात में निहित है कि इसी की सहायता से प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों का, चाहे वे आदर्शी सिद्धान्त हों या आनुभाविक सिद्धान्त, पुनः परीक्षण किया जाता है तथा उनकी प्रमाणिकता परखी जा सकती है। तुलनात्मक राजनीति प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों के पुनः परखने के लिए नवीन उपकरण व नवीनता युक्त विविध तथ्य उपलब्ध कराती है जिससे उनकी प्रमाणिकता का पुनः परीक्षण सम्भव हो सके। किसी भी विज्ञान में, यहाँ तक कि भौतिक विज्ञानों में भी परम सिद्धान्त (Absolute Theoies) नहीं हो सकते हैं। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान में प्रचलित सिद्धान्तों की प्रमाणिकता का पुनः परीक्षण एवं पुनः मूल्यांकन करना अनिवार्य है। यह कार्य तुलनात्मक राजनीति के माध्यम से ही सम्भव हैं

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति का महत्व आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में बढ़ता जा रहा है। इससे हमें विभिन्न देशों की सरकारों एवं राजनीति के बारे में आनुभविक एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने में सहायता मिलती है। इस बात का भी अध्ययन किया जा सकता है कि किसी देश में शासन पद्धति एवं विचारधारा का कितना अटूट सम्बन्ध है तुलनात्मक अध्ययन का महत्व लोकतान्त्रिक एवं लोक कल्याणकारी राज्य व्यवस्थाओं के कारण और भी बढ़ गया है। राज्य की हर गतिविधि का केन्द्र अब राजनीतिक व्यक्ति हो गया है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि इस प्रकार के सर्वव्यापी राजनीतिक व्यवहार को न केवल समझा ही जाये, वरन् उसे सामान्य नियम के सन्दर्भ में देखा जाये, जिससे कि हर स्तर का राजनीतिक आचरण व्यवहारिक सीमाओं की परिधि में समझा जा सके। यही कारण है कि तुलनात्मक राजनीति का महत्व उत्तरोत्तर वृद्धि पर है।

1.5 तुलनात्मक राजनीति का विषय के रूप में विकास

राजनीतिक विज्ञान में तुलनात्मक विश्लेषण की परम्परा कोई नहीं है। यदि इसमें कुछ नयापन है तो वह है तुलनात्मक विश्लेषण के स्थान पर राजनीति के अध्ययन पर बल। डॉ. सी. बी. गेना के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति स्वतन्त्र अनुशासन की अवस्था में अचानक नहीं पहुँच गया है। इसके विकास का न केवल लम्बा इतिहास रहा है, वरन् यह इतिहास अनेकों उतार-चढ़ावों से परिपूर्ण भी रहा है। इसलिए तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति, परिभाषा तथा अध्ययन क्षेत्र के विवेचन के उपरान्त यह देखना आवश्यक है कि यह विकास किस प्रकार हुआ?''14

जी.के. राबर्टस ने तुलनात्मक राजनीति विषय के इतिहास को मुख्य तौर पर तीन कालों में विभाजित किया है:

(1) अपरिष्कृत (Unsophisticated)

(2) परिष्कृत (Sophisticated)

(3) प्रगामी रूप से परिष्कृत (Increasingly Sophisticated)15

(1) अरस्तू काल ; **(The Phase of Aristotle):** तुलनात्मक राजनीति का इतिहास लगभग उतना ही प्राचीन है जितना कि राजनीतिक चिन्तन का इतिहास। इसके सर्वप्रथम चिन्तक एवं लेखक होने का श्रेय अरस्तू को ही प्राप्त है। अरस्तू ने जिन समस्याओं को तुलनात्मक विश्लेषण के लिए चुना व जिन पद्धतियों को राजनीतिक अध्ययन में प्रचलित किया वे आज भी तुलनात्मक राजनीति में विद्यमान हैं तथा अपनी मौलिकता बनाये हुए हैं। अरस्तू ने न केवल राजनीति विज्ञान को अनुशासन के रूप में प्रधानता दी, बल्कि इस बात पर भी बल दिया कि राजनीति का अध्ययन किस प्रकार होना चाहिए तथा किस प्रकार राजनीति सम्बन्धी ज्ञान को एक विज्ञान के रूप में विकसित किया जाये? इसी क्रम में अरस्तू ने तुलनात्मक राजनीति के विकास में अपना योगदान दिया। उसने तुलनात्मक एवं आनुभाविक विश्लेषण करते हुए तत्कालीन विश्व के 158 देशों के संविधानों का अध्ययन किया। इसके लिए उसने आगमनात्मक पद्धति ;प्दकनबजपअम डमजीवकद्ध का सहारा लिया। वस्तुतः अरस्तू ने तुलनात्मक पद्धति को विशेष महत्व देते हुए सरकारों के वर्गीकरण के सुनिश्चित आधार बताये जो तुलनात्मक राजनीति के मौलिक आधार माने जाते हैं।

(2) मैक्यावली एवं पुनर्जागरण काल :

मैक्यावली का युग बौद्धिक पुर्नजागरण का युग था। उसने राजनीति विज्ञान में पद्धति सम्बन्धी प्रश्न फिर उठाये तथा राजनीतिक अध्ययन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का अप्रत्यक्ष प्रयास किया। अपनी पुस्तक '**दि प्रिंस**'में तुलनात्मक राजनीतिक अनुशासन को उसकी देन का पता चलता है। मैक्यावली ने राज्य कला तथा शासन कला के अध्ययन पर बल दिया। उसने राजनीतिक व्यवहार, शासन कला, इत्यादि के बारे में बहुत ही गणेषणात्मक प्रश्न उठाये एक शासक किस प्रकार सफल हो सकता है? शक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है? उसे कैसे कायम रखा जा सकता है तथा किस प्रकार उसका विस्तार किया जा सकता है? उसने राजनीतिक पद्धति में अनुभववाद तथा इतिहासवाद का समन्वय किया।

मैक्यावली ने यद्यपि तुलनात्मक राजनीति पर कोई पुस्तक नहीं लिखी, परन्तु अपनी पुस्तक **द प्रिंस** में विभिन्न शासन व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके तुलनातमक राजनीति का महत्व स्पष्ट किया है। हैरी एम्सटीन ने प्रिंस का तुलनात्मक पद्धति की दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए इसके निष्कर्षों को विकृत ढंग से तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग न किया होता तो आज तुलनात्मक

राजनीति में प्रयुक्त शुद्ध पद्धतियों की खोज न हो पाती।16 इस प्रकार मैक्यावली का तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में असीम योगदान है।

(3) मॉण्टेस्क्यू एवं बुद्धिवाद का युग ;

बुद्धिवाद के युग में तुलनात्मक राजनीति की पद्धतियों को छोड़ जिन समस्याओं को अपनाया गया तथा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये थे वे अत्यन्त परिशुद्ध दिखाई देते हैं। मॉण्टेस्क्यू की रचना '**दि स्प्रिट ऑफ दी लॉज**'विशेष महत्व की है। मॉण्टेस्क्यू ने अनुभूतिमूलक दृष्टिकोण तथा निरीक्षण पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया तथा राजनीतिक प्रश्नों का निरपेक्ष राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही नहीं बल्कि वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विवेचन किया। उसने आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। मॉण्टेस्क्यू संविधान निर्माण की कला को न केवल विकसित करना चाहता था, वरन् उसे वैज्ञानिक आधार भी प्रदान करना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि यदि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था एवं पर्यावरण में सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित किया जाये तो उचित संविधान का निर्माण होगा। मॉण्टेस्क्यू की मान्यता थी कि यह सामाजिक व्यवसथा मानवीय सम्बन्धों एवं संगठनों का ही प्रतीक है। वह सामाजिक परिवर्तन को एक तकनीक कहता है तथा उसे मनुष्यों द्वारा संचालित मानता है।

सी.बी.गेना ने अपनी पुस्तक ''तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ'' में तुलनात्मक राजनीति के सम्बन्ध में मॉण्टेस्क्यू के योगदान को इस प्रकार प्रस्तुत किया है:17

(i) राजनीतिक व्यवस्थाओं का संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण

मॉण्टेस्क्यू ने यह बताया कि राजनीतिक व्यवस्थाओं को न केवल संगठनों की तुलना में समझा जा सकता है और नही केवल कार्यो के सन्दर्भ में इन्हें समझना सम्भव है। अतएवं राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए उनके संगठनों व क्रियाओं का विश्लेषण करना आवश्यक है। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू का तुलनात्मक विश्लेषण आधुनिकतम संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का संकेतक है।

(ii) राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण

मॉण्टेस्क्यू ने स्पष्ट किया है कि राजनीति वयवस्थाएं तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर वर्गीकृत की जायें तथा इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उनके संवर्ग बनाये जा सकें । मॉण्टेस्क्यू द्वारा अपनाई गयी तुलनात्मक पद्धति हर प्रकार के राजनीतिक विश्लेषण के लिए अपरिहार्य मानी गई है।

(iii) राजनीतिक व्यवस्था, समाज, अर्थव्यवस्था एवं परिवेश में

प्रत्येक राज्य में समाज, राजनीतिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा परिवेश में अटूट सम्बन्ध होता है। तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से इन सम्बन्धों की श्रेष्ठता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र का भी संकेत दिया है कि इसमें केवल राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं, कुछ अंशों में सामाजिक, आर्थिक तथा परिवेश के राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

(iv) राजनीतिक गत्यात्मकता के यान्त्रिकी सिद्धान्तों का प्रतिपादन

मॉण्टेस्क्यू का विचार था कि राजनीतिक गतिविधियों के सम्बन्ध में सिद्धान्त निर्माण करते समय मानव गतिविधियों एवं क्रियाओं को केन्द्रीत बिन्दु बनाया जाना चाहिए। यह भी तुलनात्मक ढंग से होने पर ही राजनीतिक व्यवहार की वास्तविक गत्यात्मकताओं की तह तक पहुँच जा सकेगा।

(5) इतिहासवाद का युग

इतिहासवाद तुलनात्मक राजनीति को विकास को उन्नीसवीं शताब्दी में ले आता है। इतिहासवादी युग के दर्शन में कुछ ऐसी विरोधी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ, जिसके सहारे आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि यह योगदान नकारात्मक ही रहा, परन्तु इसे समझे बिना तुलनात्मक राजनीति में आगे के विकास को नहीं समझा जा सकता। यही कारण है कि इतिहासवादी राजनीतिक चिन्तन का तुलनात्मक राजनीति से खुला विरोध होते हुए भी वह इसका महत्वपूर्ण प्रेरक बन गया। इतिहासवादी चिन्तन में हीगल एवं मार्म्स का योगदान उल्लेखनीय है।

हीगल जर्मन दार्शनिक था। उसके अनुसार आत्मा का मोक्ष मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। मानव का विकास एक नैतिकता की दिशा में ही रहा है तथा अन्तिम वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष प्राप्त करना है। उसके अनुसार जो अन्तिम विवेक है, वह भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेता है तथा उसका एक रूप स्वयं मनुष्य है। राज्य भी ऐसा ही अवतरित रूप है। हीगल इसलिए राज्य को ईश्वर का पृथ्वी पर अवतरण कहता है। इस आधार पर वह एक सर्वशक्तिमान राज्य की कल्पना करता है जिसमें मनुष्य पूर्णतया राज्य के अधीन रहता है। उसकी कल्पना के राज्य में समता है तथा विषमता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे राज्यों में तुलनात्मक अध्ययन का कोई महत्व ही नहीं है। कार्लमार्क्स के अनुसार ''वास्तविकता भौतिक पदार्थ है तथा इन भौतिक तत्वों से इतिहास को विकास के लिए प्रेरणा मिलती है। इस विकास का अन्तिम उद्देश्य भौतिक दृष्टि से वर्गहीन तथा राज्यविहीन समाज की ओर अग्रसर होना है।'' मार्क्स के अनुसार सभी समाजों में आधारभूत तत्व एक से हैं तथा उद्देश्य एक से हैं, इसलिए तुलना निरर्थक है।

यद्यपि इतिहासवादी विचारक तुलनात्मक पद्धति में विश्वास नहीं करते फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित कुछ प्रत्यय या अवधारणाएँ तुलनात्मक राजनीति में आधारभूत बन गये हैं। कार्ल मार्क्स का वर्ग

प्रत्यय इसका उदाहरण है। इसी प्रकार इतिहासवादियों द्वारा उठाया गया धर्म एवं संस्कृति का मुद्दा तुलनात्मक राजनीति का आधारभूत प्रत्यय बन गया है। इतिहासवाद का ही परिणाम है कि अब तुलनात्मक अध्ययनों में विकास क्रम की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है। इतिहासवादियों ने सर्वव्यापी तथा सार्वभौमिक सिद्धान्त का विचार सामने रखा जो सभी व्यवस्थाओं पर सभी देशों पर तथा हर समय समान रूप से लागू होता है।

इस प्रकार इतिहासवाद तुलनात्मक राजनीति का विरोधी होते हुए भी इस अनुशासन के लिए अत्यन्त लाभप्रद रहा है। धीरे-धीरे इतिहासवाद का प्रभाव कम होने लगा। उसका प्रभाव कम करने में वास्तविकतावाद तथा दार्शनिक बहुलवाद ने अपना योगदान दिया। इसके अतिरिक्त इतिहासवाद की दो प्रमुख धारणाओं-आदर्शवाद व मार्क्सवाद के प्रति शंकाएँ उत्पन्न होने लगी। इनसे व्यक्ति पूर्णतया राज्य के अधीन होता दिखाई दिया। फिर भी अपनी रचनात्मक प्रवृति के कारण इतिहासवाद तुलनात्मक राजनीति पर अपना प्रभाव छोड़ने में सफल हुआ।

(5) राजनीतिक विकासवाद का युग

राजनीतिक विकासवाद का युग इतिहासवाद के काल के अनुरूप ही कहा जा सकता है परन्तु वास्तव में इन दोनों में असमानताएँ ही अधिक परिलक्षित होती थीं। विकासवादी इतिहासवादियों की भाँति कल्पना में आस्था नहीं रखते थे। वे वास्तविक जीवन के तथ्यों के आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओं का विकास क्रम समझना चाहते थे। विकासवादियों ने सीमित समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करके केवल व्यापक राजनीतिक ढाँचों की उत्पति से सम्बद्ध कारणों को ही समझने का प्रयास किया बल्कि विभिन्न समाजों में एक सी राजनीतिक संस्थाओं के लिए एक से स्रोत मालूम करने का प्रयत्न करके तुलनात्मक राजनीति का महत्व बनाये रखा। इसलिए ही कहा जाता है कि तुलनात्मक राजनीति विकासवादी धारणाओं रूपी पुल से आगे बढ़ सकी है।

सर हैनरी मैन की पुस्तकों "Ancient Law" (1861) व "Early History of Institutions" (1874) ने राजनीतिक विकासवाद की आधारशिला रखी। उन्होंने इन पुस्तकों में यह समझाने का प्रयत्न किया है कि राज्य कुटुम्ब का ही वृहत्तर रूप है। ऐडवर्ड जेन्कस की भी इस दिशा में महत्वपूर्ण देन है। उन्होंने अपनी पुस्तकों 'AShort History of Politics (1900) व "The State and the Nation"(1919) में राज्य के विकास की बात कही है तथा यह माना है कि समाज के छिन्न-भिन्न होने से अन्ततः राज्य का विकास हुआ। राजनीतिक विकासवादियों में किसी ने धर्म को विकास का कारण माना तो किसी ने शक्ति को, तो किसी ने विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों को। विकास के लिए उत्तरदायी विविध कारकों को समन्वयात्मक ढंग से मैकाइवर ने " The Modern State"तथा ई. एम. सैट ने "Political Institutions"(1926):A Preface(1938) नामक पुस्तकों में प्रस्तुत

किया। इस प्रकार राजनीतिक विकासवादियों ने राज्य की उत्पत्ति तथा उसके विकास को समझाने के लिए जो तथ्य एकत्रित किये, उनसे तुलनात्मक राजनीति को बहुत बल मिला।

विकासवादी विचारकों की श्रेणी से अलग कुछ समाज वैज्ञानिकों का तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में विशेष योगदान रहा। सही अर्थो में यह राजनीतिक समाज वैज्ञानिक तुलनात्मक राजनीति को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन बनाने में सहायक रहे हैं। मैक्स वेबर, पैरेटो, माइकेल्स, मोस्का, इत्यादि विद्वानों ने अपना अध्ययन राज्य तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने सभी प्रकार की राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक दलों का अन्य गैर-राजनीतिक समूहों व संस्थाओं की संरचना को तुलनात्मक विश्लेषण में सम्मिलित किया। इससे तुलनात्मक राजनीति में विश्लेषण के नए दृष्टिकोण प्रस्तुत हुए तथा नई अवधारणाओं का प्रतिपादन हुआ। उन्होंने तुलनात्मक राजनीति को नए दृष्टिकोण, नई अवधारणाएँ तथा नवीन सिद्धान्त प्रदान किये।

(6) तुलनात्मक राजनीति में युद्धोपरान्त विकास (Post War Development in Comparative Politics) : द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त राजनीतिक व्यवस्थाओं में आयी उथल-पुथल ने तुलनात्मक राजनीति में क्रान्तिकारी परिर्वतन किये। हैरी एक्सटीन के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में अग्रलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होने लगी थी। 18

(i) वृहत्तर राजनीतिक तलनाओं में पुनः रूचि बढ़ने लगी।

(ii) राजनीतिक की प्रक्रति की विस्तृत व सामान्य अवधारणाओं पर वह उसकी विषय-सामग्री पर सुस्पष्टता आ गयी।

(iii) कुछ प्रकार के राजनीतिक व्यवहार के निरूपकों से सम्बन्धित मध्य-स्तरीय सैद्धान्तिक समस्याओं के साधन पर अधिक जोर दिया जाने लगा।

(iv) कुछ प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षित शर्तों की खोज में रूचि बढ़ी।

परन्तु यहाँ यह भी अध्ययन देना आवश्यक है कि बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में भी अनेक कमियाँ उभरकर सामने आ गयी जो इस प्रकार हैं

(i) तुलनात्मक विश्लेषण के तकनीकी पक्ष का विकास नहीं हो सका।

(ii) राजनीतिक क्रियाकलापों के कानूनी औपचारिक आधार पर ही तुलना करने पर बल दिया गया तथा अनौपचारिक एवं व्यवहारिक पहलू की उपेक्षा की गयी।

(iii) तुलनात्मक विश्लेषण में गैर-राजकीय संस्थाओं की अवहेलना की गयी।

(iv) तुलनात्मक विश्लेषण के सुनिश्चित मानकों का अभाव बना रहा तथा तुलनाएँ पाश्चात्य व्यवस्थाओं तक ही सीमित रही।

वस्तुतः द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति में एक निश्चित मोड़ आया तथा यह अनुशासन अधिक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक बन गया सी. बी. गेना के अनुसार, तुलनात्मक राजनीति में युद्ध के उपरान्त निम्नलिखित विकास हुए।19

(i) तुलनात्मक राजनीति के आनुभाविक परिसर का विस्तारीकरण **(Enlargement in the Empirical Range in Field of Comparative Politics)** द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन केवल पश्चिमी लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित था। परन्तु पश्चिमी यूरोप में लोकतन्त्र का संकट जर्मनी एवं इटली में अधिनायकवाद के उदय तथा रूस में साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के प्रति रूचि बढ़ी। इसके अतिरिक्त तृतीय विश्व के देशों के उदय, शीत-युद्ध के जन्म तथा गुट-निरपेक्षतावाद के विस्तार ने तुलनात्मक राजनीति का नया आयाम दिया। अब तुलनात्मक राजनीति में लोकतन्त्र, अधिनायकतन्त्र व साम्यवाद, विकसित, एवं विकासशील तथा पश्चिमी एवं नवोदित सभी राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया जाने लगा।

iiवैज्ञानिक परिशुद्धता को बढ़ावा देने में व्यवहारवादी क्रान्ति का भी योगदान रहा है। सभी सामाजिक विज्ञानों में व्यवहारवादी अध्ययनों पर बल दिये जाने के कारण राजनीति विज्ञान

में भी इसका सूत्रपात हुआ तथा तुलनात्मक राजनीति में भी इसका प्रयोग होने लगा। इससे तुलनात्मक राजनीति को अधिक वैज्ञानिक बनने का अवसर मिला तथा इसके अध्ययन दृष्टिकोणों को नया आयाम मिला।

(iii) राजनीति के समाजिक परिवेश पर बल

राजनीतिक व्यवहार तथा राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति का निरूपण सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही होता है। राजनीतिक व्यवहार को गैर-राजनीतिक समूह प्रभावित व सीमित करते हैं। कई बार तो राजनीति व्यवहार का निर्णय सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण के द्वारा भी प्रभावित होता है। इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति में अब राजनीतिक व्यवहार को सम्पूर्णता के सन्दर्भ में समझा जाने लगा। अभिजनों, दबाव समूहों, राजनीतिक दलों, नौकरशाही, नेतृत्व, प्रतिनिधित्व, इत्यादि को राजनीतिक क्रियाओं की दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

(iv) तुलनात्मक विश्लेषण के नवीन उपागमों का प्रयोग

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति में एक महत्वपूर्ण विकास अध्ययन दृष्टिकोणों एवं उपागमों का है। राजनीतिक व्यवहार की गत्यात्मकता एवं जटिलता को समझने के लिए परम्परागत औपचारिक कानूनी दृष्टिकोण अधिक सहायक न रह सके तथा इसलिए नये दृष्टिकोण प्रतिपादित हुए। इनमें राजनीतिक व्यवस्था दृष्टिकोण, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण एवं मार्क्सवाद-लेनिनवादी प्रमुख हैं। परन्तु इन सभी दृष्टिकोणों में यह कमी है कि कोई पूर्ण राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या करने में असमर्थ है। यह कारण है कि आज भी तुलनात्मक राजनीति में अध्ययन दृष्टिकोणों की खोज जारी है। अतएवं यह कहना समीचीन है कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति में व्यवस्थित एवं क्रान्तिकारी परिर्वतन हुए।

(7) तुलनात्मक राजनीति की वर्तमान अवस्था **(Comparative Politics Today):**द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त लगभग एक दशक तक विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं को तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में सही अर्थों में सम्मिलित नहीं किया गया था। नवोदित राज्यों के सम्बन्ध में ऐण्सटीन एवं ऐप्टर का कहना है कि ''प्रथम अध्ययन तुलनात्मक न होकर नवीन राजनीतिक व्यवस्थाओं के आन्तरिक संघटकों पर प्रकाश डालने वाले रहे हैं।''20 कोलमैन, ऐप्टर ने अफ्रीका, जार्ज मेकाहिन , माइरन वीनर लूसियन डब्ल्यू पाई, कीथ कैलार्ड ,लियोनार्ड बिंडर , द्वारा कुछ अध्ययन किये जो आगे चलकर तुलनात्मक राजनीति के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए।

आधुनिक समय में तुलनात्मक राजनीति को समृद्व करने वाले विद्वानों में डेविड ईस्टन, आमण्ड, कोलमैन, कार्ल डायच, जी.बी. पावेल, हेराल्ड लासवेल, राबर्ट डाल्ह, शिल्स, डेविड ऐप्टर हैरी एक्सटीन, इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। डेविड ईस्टन, आमण्ड, तथा डायच ने तुलनात्मक विश्लेषण को एक वृहद इकाई के रूप में व्यवस्था सिद्धान्त की दृष्टि से प्रतिपादित किया। इस व्यवस्था सिद्धान्त द्वारा आज न केवल सामाजिक व्यवस्थाओं की ही तुलना हो सकी है

वरन् राजनीतिक वयवस्था के कार्यो को सम्पूर्णता देने वाले तथा परस्पर सम्बद्ध सभी तत्वों के विभेदीकृत समुच्चय के रूप में परिभीषित नयी राजनीतिक इकाइयों का समावेश भी सम्भव हो सका।

वर्तमान युग में तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत अनेक शोध तकनीकों संकल्पनाओं तथा सिद्धान्तों का विकास हुआ है। व्यवस्थापिकाओं पर लोवेन्थाल एवं यंग राजनीतिक दलों पर डुवरगन-रैने एवं मैकेन्जी राजनीतिक समाजीकरण पर डेविड ईस्टन, अभिजनों के अध्ययन पर राबर्ट डाल्ह, राजनीतिक संचार पर कार्ल डायच आदि के विश्लेशण उच्चकोटि के माने जाते हैं। तुलनात्मक राजनीति के विकास विश्लेषण में ऐप्टर, रोस्टोव तथा लूसियनपाई का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

सैमुअल हंटिंग्टन, फ्रेडरिक-फे जैसे, विद्वानों ने विकास के सन्दर्भ में सैनिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण किया।

इस प्रकार विकासशील राज्यों के उदय ने तुलनात्मक राजनीति में नये अध्ययन दृष्टिकोणों, नये आयामों व नवीन अवधारणाओं का प्रचलन किया। अब सम्पूर्ण विश्व की राजनीति व्यवस्थाओं संरचनाओं व राजनीतिक आचरणों की व्यापक एवं वृहत्तर परिवेश में तुलना की जाने लगी है। आज इन लेखकों का योगदान महत्वपूर्ण माना जाने लगा है जिन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्रों में विकासशील देशों को सम्मिलित करके तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र को व्यापक बनाया है। सिडनी बर्वा के अनुसार, '' तुलनात्मक राजनीति में बहुत से सिद्धान्तों के साथ क्रान्ति का आरम्भ हुआ। यथावत् वर्णन की अपेक्षा सैद्धान्तिक दृष्टि सम्बद्ध अन्य समस्याओं का विवेचन, एक केस के स्थान पर कई केसों पर दृष्टि, शासन की औपचारिक संस्थाओं से परे राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं राजनीतिक क्रियाकलापों का अध्ययन एवं पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र से परे एशिया, अफीका एवं लैटिन अमेरिका के राष्ट्रों का विश्लेषण इत्यादि।''21

तुलनात्मक राजनीति के विकास के प्रमुख सीमा चिन्हनों के वर्णन एवं विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि अनेकों उतार-चढ़ावों के उपरान्त आज यह एक स्वतन्त्र अनुशासन की अवस्था में पहुँच गयी है जिनमें अवधारणाओं अध्ययन पद्धतियों एवं विश्लेषण पर आम सहमति है।

1.6 तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। यही कारण है कि आज भी इसकी प्रकृति का निर्धारण सरल नहीं है, परन्तु इस सन्दर्भ में निम्न तथ्य उल्लेखनीय है:22

(i)पश्चिमी, गैर-पश्चिमी तथा साम्यवादी देशों की संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण।

(ii)विविध राजनीतिक संरचनाओं के अतिरिक्त अराजनीतिक संरचनाओं तथा उनके प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण।

(iii) राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा मानव के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर अधिक बल।

(iv) राजनीतिक क्रियाकलापों, राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं सत्ता का तुलनात्मक अध्ययन।

(v) विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण।

यदि हम विभिन्न विद्वानों के तुलनात्मक दृष्टिकोणों की समीक्षा करें तो तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण पाये जाते है-

(1) तुलनात्मक राजनीतिक लम्बात्मक तुलना के रूप में **(Comparative Politics as a vertical Study):**इस विचार के समर्थकों के अनुसार तुलनात्मक रानीति एक ही देश में स्थित विभिन्न सरकारों व उनको प्रभावित करने वाले राजनीतिक व्यवहारों का तुलनातमक विश्लेषण एवं अध्ययन है। प्रत्येक राज्य में कई स्तरों पर सरकारें होती हैं- राष्ट्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार एवं स्थानीय सरकार। इस दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध इस प्रकार की एक ही देश में स्थित विभिन्न सरकारों- राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय की आपस में तुलना से है। तुलनात्मक राजनीति एक ही देश की विभिन्न सरकारों की लम्बात्मक

(Vertical) तुलना है।

वस्तुतः यह दृष्टिकोण तर्कसंगत नहीं है। राष्ट्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों के मध्य पायी जाने वाली तुलना सतही ही है। आर्थिक साधनों, नियमों एवं कानूनों तथा शक्ति के संसाधनों की दृष्टि से देखें तो दोनों में काफी अन्तर पाया जाता है। इस लिए तुलनात्मक राजनीति में एक ही देश की विभिन्न स्तरीय सरकारों का तुलनात्मक विश्लेषण सम्भव दिखायी देते हुए भी सामान्यीकरण सकी सम्भावनाएँ नहीं रखता। अतएवं यह कहा जा सकता है। कि तुलनात्मक राजनीति की यह धारणा अब मान्य नहीं है तथा है तथा इस आधार पर तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति का निर्धारण करना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

(2) तुलनात्मक राजनीति अम्बरान्तीय तुलना के रूप में **(Comparative Politics as a Horizantal Study):** तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी दूसरी धारण के अनुसार यह राष्ट्रीय सरकारों का अम्बरान्तीय Horizantal) तुलनात्मक अध्ययन है। अधिकांश राजनीति वैज्ञानिक भी इससे सहमति रखते हैं। इस प्रकार की तुलना दो प्रकार से सम्भव है। प्रथम तो यह है कि यह तुलना एक ही देश के विभिन्न कालों में विद्यमान राष्ट्रीय सरकारों की आपस में हो सकती है। द्वितीय आज समपूर्ण विश्व में विद्यमान राष्ट्रीय सरकारों में हो सकती है।

एक ही देश में विद्यमान राष्ट्रीय सरकारों की ऐतिहासिक तुलना तुलनात्मक राजनीति में होनी चाहिए। वर्तमान की राजनीति संथाओं प्रक्रियाओं तथा रानीतिक व्यवहारों का तुलनात्मक विश्लेषण अतीत के ही सन्दर्भ में किया जा सकता है। जैसे - भारत के सन्दर्भ में यह तुलना प्राचीन भारत की राष्ट्रीय सरकारों मध्यकालीन भारत, ब्रिटिश भारत की सरकारों तथा आधुनिक स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकारों में की जा सकती है। इसी प्रकार स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकारों की तुलना एक ही शासनकाल के विभिन्न पहलुओं के सन्दर्भ में की जा सकती है। जैसे, नेहरू काल (1942-1964) अथवा इन्दिरा गाँधी (1966-1977) तथा (1980-1984)। राष्ट्रीय सरकारों की यह समस्तरीय तुलना अवश्य है परन्तु ऐतिहासिक सन्दर्भ में की जा सकती है। परन्तु इसके लिए यह जरूरी है कि हर काल की राष्ट्रीय सरकार के बारे में समान जानकरी एवं तथ्य उपलब्ध हों।

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति सम्बन्धी सर्वमान्य धारणा आज यही है कि यह समकालीन विश्व में प्रचलित राष्ट्रीय सरकारों का तुलनात्मक अध्ययन है।

जीन ब्लोंडेल के अनुसार, ''हमारे पास तुलनात्मक सरकारों के अध्ययन का केवल एक ही दृष्टिकोण बचता है तथा वह है समकालीन विश्व की राजीतिक व्यवस्थाओं से सम्बद्व राष्ट्रीय सरकारों का राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार अध्ययन करना।''23 सी.बी. गेना के अनुसार,'' वास्तव में उसी प्रकार की तुलना से न केवल सामान्यीकरण सम्भव है वरन् राजनीति व्यवहार के सम्बन्ध में ऐसे सिद्वान्तों का प्रतिपादन भी किया जा सकता है जिनसे हर देश की राजनीतिक व्यवस्था को समझा जा सके।''24

संक्षेप में तुलनात्मक राजीति की प्रकृति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक स्वतन्त्र अनुशासन है जो राजनीति विज्ञान में एक महत्वपूर्ण शाखा बन गया है। तुलनात्मक राजनीति एक ही देश की राष्ट्रीय सरकारों का ऐतिहासिक सन्दर्भ व राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार तुलनात्मक अध्ययन ही नहीं है, अपितु इनके साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं व राजनीतिक व्यवहार तथा सरकारी तन्त्रों को प्रभावित करने वाली गैर शासकीय व्यवस्थाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन है।

1.7 तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र (Scope of Ccomparative Politics)

तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र अभी भी सीमांकन की अवस्था में है इसके विषय-क्षेत्र की निर्माण अवस्था के कारण ही जी. के. राबर्टस ने यहाँ तक कहा कि ''तुलनात्मक राजनीति या तो सब कुछ है अथवा कुछ भी नहीं है।''25 अतएवं तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र की प्रमुख समस्या बन जाती है कि इसके अध्ययन क्षेत्र में क्या-क्या सम्मिलित किया जाये तथा क्या-क्या छोड़ा जाये? साथ ही यह भी प्रश्न आता है कि राजनीति सम्बन्धी किसी पहलू को इसके अध्ययन में सम्मिलित करने या न करने का आधार क्या हो? इस सम्बन्ध में हैरी एक्सटीन के विचार सर्वोपयुक्त हैं। सबसे अधिक आधारभूत बात यह है कि आज यह एक ऐसा विषय है जिसमें अत्यधिक विवाद है, क्योंकि यह संक्रमण स्थिति में है- एक प्रकार की विश्लेषण शैली से दूसरे प्रकार की शैली में प्रस्थान कर रहा है।26

इससे स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति एवं परिभाषा की भाँति इसके विषय-क्षेत्र पर भी परम्परावादी एवं आधुनिक विद्वानों में मतभेद है। जीन ब्लोंडेल ने इसे दो बातों से सम्बन्धित बताया हैः

(1) सीमा सम्बन्धी विवाद

(2) मानकों तथा व्यवहार के पारस्परिक सम्बन्धों सम्बन्धी विवाद।

(1) सीमा सम्बन्धी विवाद **(Controversy over the Boundary):** सभी राजनीति वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राष्ट्रीय सरकारों से है। इसमें भी न केवल सरकारी ढाँचे बल्कि सरकारी क्रियाकलापों एवं गैर राजनीतिक संस्थाओं के राजनीतिक कार्यो का भी अध्ययन आवश्यक रूप से सम्मिलित रहता है। परन्तु यहाँ भी सरकारी क्रियाकलापों की दृष्टि से दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं- कानूनी दृष्टिकोण एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण।

इनका अध्ययन करके इसके विषय क्षेत्र का निर्धारण किया जा सकता है:

(i) कानूनी या संस्थागत दृष्टिकोण ; **(Legalistic or Institutional Approach):**इस दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति के अन्तर्गत संविधान द्वारा स्थापित सरकारी संरचना, राष्ट्रीय सरकारों के आधार, संविधान एवं इनके द्वारा नियत कार्यकलापों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए उनके अनुसार इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन न केवल असम्भव होगा, वरन् अव्यावहारिक होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि कानूनी दृष्टिकोण के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में केवल उसी राजनीति व्यवहार की तुलना होनी चाहिए जो संविधान में कानून द्वारा स्थापित राजनीतिक संस्थाओं से सम्बब्द्ध हो।

औपचारिक संस्थाओं की तुलना मात्र संवैधानिक दायरे में करने से कानूनी दृष्टिकोण अत्यन्त संकीण माना जाता है। इससे राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकताओं को समझने में यहायता नहीं मिलती है। संवैधानिक दृष्टि से ब्रिटेन में आज भी निरंकुश राजतन्त्र विद्यमान है। जबकि व्यवहार में वहाँ संसदीय प्रजातंत्र विद्यमान है। भारत संविधान द्वारा एक सहकारी संघ की स्थापना की गई है, परन्तु संविधान लागू होने के 30 वर्ष बाद तक, एक ही राजनीतिक दल के प्रभुत्व तथा राज्यों में भी इसी का बहुमत सम्पूर्ण संघात्मक व्यवस्था को व्यवहार में एकात्मक बना देता है। अतएवं यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति में उपरोक्त दृष्टिकोण अध्ययन एवं तुलना के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

(ii) व्यवहारवादी दृष्टिकोण **(Behavioural Approavh)**इस दृष्टिकोण के समर्थकों को व्यवहारवादी कहा जाता है। उनके अनुसार तुलनात्मक राजनीति में केवल कानूनी व्यवस्था का औपचारिक अध्ययन एवं तुलना पर्याप्त नहीं है। वास्तव में राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार व्यवहारिक बनती है तथा राजनीतिक संस्थाओं का वास्तविक व्यवहार क्या है? यह प्रमुख बात है। जीन ब्लोंडेल ने तो राजनीति के व्यवहारिक पक्ष को आधारभूत व मौलिक माना है। व्यवहारवादियों के अनुसार तुलनात्मक राजनीति में राष्ट्रीय संस्थाओं एवं गैर-राजकीय संस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित सब तथ्य एकत्रित करके विभिन्नराजनीतिक व्यवस्थाओं में तुलना करना चाहिए। राज्य सरकार एवं संस्थाओं के कार्य व कार्यविधि का अवलोकन कर उनकी तुलना करना राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मकता को सही अर्थो में समझना है।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण का तुलनात्मक राजनीति में महत्व स्पष्ट करने के लिए व्यवहारवादियों द्वारा राजनीतिक विज्ञान की दी गई परिभाषा का उल्लेख करना आवश्यक है। डेविड ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक विज्ञान समाज में मूल्यों के अधिकृत वितरण से सम्बन्धित ज्ञान है।''27

हर राजनीतिक समाज में मूल्यों का अधिकृत वितरण केवल सरकारें ही करती हैं। अन्य संस्थाओं द्वारा मूल्यों का वितरण एवं प्रचलन अवश्य होता है, परन्तु यह अधिकृत नहीं हो सकता क्योंकि वे बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते। यही कारण है कि हर समाज में शासन-तंत्र का विशेष महत्व होता है। इसलिए जीन ब्लोंडेल तुलनात्मक राजनीति में इन मूल्यों के वितरण की व्यवस्था की विभिन्नराजनीतिक समाजों के सन्दर्भ में तुलना आवश्यक मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''तुलनात्मक सरकार के अध्ययन में उन तरीकों का जिससे समाज में मूल्यों का अधिकृत वितरण होता है, परीक्षण किया जाता है।28

इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध प्रमुखतः शासन क्रिया के इर्द-गिर्द घूमते राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन से है। परन्तु शासन क्रिया के अन्तर्गत मूल्यों का अधिकृत आबंटन तीन स्तरों पर संचालित होता हैः

(i) मूल्यों व गन्तव्यों का नियम (ii) मूल्यों को आत्मसात करना तथा निर्दिष्ट निर्णयों में रूपान्तरण (iii) निर्णयों का क्रियान्वयन।

मूल्यों एवं गन्तव्यों के नियमन के अन्तर्गत उस प्रक्रिया का अध्ययन होता है जिनके द्वारा समाज केमूल्यों एवं उद्देश्यों का निर्माण होता है तथा जो सरकार के समक्ष जनता की माँग के रूप में आते हैं इन्हें ईस्टन माँगों वे समर्थनों का नाम देते हैं तथा जो आमण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के निवेश हैं। जीन ब्लोंडेल के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति में हमें सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि मूल्यों का किस प्रकार नियमन होता है तथा किन-किन तरीकों से सरकार इनसे भित्र बनती है। ''29

मूल्यों को आत्मसात करने व निर्दिष्ट निर्णयों में रूपान्तरण से तात्पर्य यह देखना है कि विभिन्न माँगों एवं मूल्यों को शासनतन्त्र किस प्रकार ग्रहण करता है। यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है कि शासनतन्त्र के समक्ष प्रस्तुत होने वाली असंख्य माँगों में से किन्हें वह आत्मसात करता है तथा किन्हें वह अस्वीकार करता है।

निर्णयों का क्रियान्वयन शासन क्रिया का तीसरा एवं अन्तिम स्तर है। सरकार जनता के जिन उद्देश्यों एवं मूल्यों को स्वीकार कर निर्णयों का रूप देती है, उन्हें नियमों या विधियों में बदलकार लागू करती है। यह शासन क्रिया नियम निर्माण, नियम क्रियान्वयन तथा नियम अधिनिर्णयन की तीन क्रियाओं से सम्बन्धित होती है।

व्यवहारवादी प्रत्येक सरकार के कार्यों को तीन स्तरों पर देखते हैं तथा तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र इन तीनों प्रक्रियाओं से सम्बन्धित राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक विश्लेषण तक मानते हैं।

व्यवहारवादियों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था की संकल्पनातमक सरलता व शासन क्रिया से सम्बन्धित तीन प्रक्रियाओं की तुलना तक तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को सीमित रखना इस विज्ञान को स्वतन्त्र अनुसाशासन की अवस्था से वंचित रखना है। इसे तुलनात्मक राजनीति की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

(2) मानकों एवं व्यवहार के सम्बन्धों का विवाद **(Contraresy over the Relationships of Norms and Hehaviour):** तुलनात्मक राजनीति का विषय क्षेत्र सम्बन्धी दूसरा विवाद अधिक जटिलताओं का जनक है। मानक की अभिव्यक्ति कानून प्रक्रियाओं एवं नियमों में होती है, परन्तु राजनीतिक व्यवहार कई बार इन कानूनों के प्रतिकूल रहता है। यही तुलनात्मक अध्ययन में पेचीदगियाँ उत्पन्न करता है। अतएवं तुलनात्मक राजनीति में यह भी देखा जाना चाहिए कि राजनीति व्यवहार मानकों के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीति क्रिया से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा मानकों के अभिव्यक्त कानूनों का कितना पालन व कितना उल्लंघन होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानक एवं व्यवहार दोनों ही गतिशील होते हैं। इनमें साम्य व गतिरोध दोनों ही हो सकता है। सामान्यतया इनमें पारस्परिकता रहती है तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते है। अतएवं तुलनात्मक राजनीति में मानक एवं व्यवहार के राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन भी सम्मिलित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में जीन ब्लोंडेल ने लिखा है,'' जबकि आधारभूत दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध सरकार की संरचना से होना चाहिए पर साथ ही साथ उसका सम्बन्ध व्यवहार में स्फुटित प्रतिमानों एवं आचरणों से भी होना चाहिए, क्योंकि वे सरकार की जीवित संरचना का अभिन्न अंग हैं।''30

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र के बारे में उपरोक्त विवादों के उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इसमें न केवल शासन तन्त्रों एवं संगठनों की तुलना की जाती है तथा न ही मानकों एवं व्यवहारों के सम्बन्धों का विश्लेषण मात्र ही किया जाता है वरन् इसके क्षेत्र में इन दोनों का ही समावेश आवश्यक है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र में विभिन्न राजनीति व्यवस्थाओं की शासन संरचनाओं शासन व्यवहार प्रतिमानों व गैर-राजकीय संस्थाओं के अध्ययन कानून निर्माण, कानून प्रयोग तथा विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंगों से सम्बन्धित निर्णयों तथा राजनीतिक दलों व दबाव समूहों जैसे संविधानातिरिक्त अभिकरणों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं वरन् उससे आगे बढ़ता है। एम. कर्टिस के अनुसार, ''राजनीतिक

संस्थाओं तथा राजनीति व्यवहार की कार्य-प्रणाली में महत्वपूर्ण नियमितताओं, समानताओं एवं असमानताओं से तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध है।31

अन्ततः तुलनात्मक राजनीति के विषय क्षेत्र के सम्बन्ध में निष्कर्षतया यही कहा जा सकता है कि इसका सम्बन्ध शासन प्रणालियों की विभिन्नता तथा समानता दोनों से है परन्तु समानताओं से अधिक महत्व असमानता का है। ऐसा इसलिए है कि आधारभूत दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति की तुलना की जाती है तथा यह प्रक्रियाएँ विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की होती हैं। यह सामाजिक ढाँचे एवं राजनीतिक व्यवस्था दोनों से सम्बद्ध रहती है।

इस विविधतायुक्त व विषमतायुक्त राजनीतिक व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन से तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध है।

तुलनात्मक राजनीति की प्रकृति परिभाषा व विषय-क्षेत्र के विवेचन से यह सामने आता है कि राजनीतिक प्रक्रियाओं, सरकारों की संरचनाओं व राजनीतिक व्यवहार की असमानताओं का अध्ययन किस प्रकार किया जाये? एस. ई. फाइनर के अनुसार तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के चौमुखी आधार हैं 32

(1) सहभागिता-अपवर्जन या विलगन आयाम ; (Participation-excluism Dimension)
(2) अवपीड़न-अनुनयन आयाम ; (Coercion Persuasion Dimension)
(3) व्यवस्थात्मक प्रतिनिधात्मक आयाम ; (Order-representativeness Dimension)
(4) वर्तमान-भावी गन्तव्य आयाम (Present Goals-Future Goals Dimensin)

फाइनर की मान्यता है कि यदि शासन करने का अर्थ नीति का श्रीगणेश करने, नीति के निर्णय करने व नीतियों को लागू करने से लिया जाये तो सर्वत्र यही दिखायी देगा कि कुछ के द्वारा बहुतों पर शासन किया जाता है। इसलिए शासन व्यवस्थाओं सम्बन्धित राजनीतिक व्यवहारों की तुलना इस आधार पर नहीं हो सकती तथा अपरोक्त चौमुखी आधार ही तुलना के लिए उपयोगी तथ्य प्रस्तुत कर सकता है।

प्रथम आधार में यह देखा जाता है कि शासन प्रक्रिया में जनता को कितना सम्मिलित किया गया है तथा कितना वंचित किया गया है? दूसरे आधार में यह देखा जाता है कि जनता शासक के आदेशों का पालन कितनी स्वेच्छा तथा भय के कारण करती है? तीसरे आधार में यह देखा जाता है कि राजनीतिक व्यवस्था में शासक प्रतिनिधि रूप रखते हैं या नहीं। चौथे आधार में राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना करते समय किसी राजनीतिक व्यवस्था के न केवल वर्तमान मूल्यों एवं

उनकी अभिव्यक्ति व पूर्ति के लक्ष्यों का वरन् समाज की आकांक्षाओं पर आधारित अपेक्षित एवं भावी मूल्यों का भी ध्यान रखना पड़ता है।

तुलना के उपयुर्क्त आयामों के विवेचन से स्पष्ट है कि राजनीति में सुनिश्चित मापयोग्य व विश्वसनीय तथ्य प्राप्त करना कठिन है। एस. ई. फाइनर द्वारा विवेचित उपर्युक्त आधार अवश्य ही इस दिशा में मार्गदर्शक है तथा मोटे तौर पर तुलनाओं की सम्भावनाओं को प्रस्तुत करता है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आधारों पर तुलना की जाये तो राजनीतिक व्यवस्थाओं, शासनतन्त्रों, राजनीतिक व्यवहार के बारे में सामान्यीकरण की सम्भावनाएं हो जाती हैं।

1.8 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट है जैसा कि राल्फ ब्रेबन्ती ने तुलनात्मक की व्यापक परिभाषा की है, ''तुलनात्मक राजनीति सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में उन तत्वों की पहचान व व्याख्या है जो राजनीतिक कार्यो व उनके संस्थागत प्रकाशन को प्रभावित करते हैं।'' माइकेल कर्टिस के अनुसार ''तुलनात्मक राजनीति का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधिव राजनीति व्यवहार की महत्वपूर्ण निरन्तरताओं, समानताओं व असमानताओं से है।'' आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीति के तीन मौलिक मंतव्य हैं- प्रथम पश्चिमी तथा गैर-पश्चिमी देशों की संस्थाओं का एक साथ विश्लेषण, द्वितीय, राजनीतिक संस्थाओं का क्रमबद्व ढंग से अध्ययन करना एवं तृतीय तुलनात्मक राजनीतिक सिद्धान्तों में सम्बन्ध स्थापित करना।''

तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में राजनीति शब्द के तीन लक्ष्यार्थ हैं राजनीतिक क्रियाकलाप, राजनीतिक प्रक्रिया तथा राजनीतिक सत्ता। राजनीतिक क्रियाकलाप के अन्तर्गत वे प्रयास आते हैं जिससे सत्ता के लिए संघर्षरत लोग अपने हितों की यथासम्भव रक्षा कर सकें। राजनीतिक प्रक्रिया के अर्न्तगत उन सभी अभिकरणों की भूमिका आ जाती है जो निर्णय-निर्माण (Decision Making) प्रक्रिया से संग्लन हैं। इसी प्रकार सत्ता एक प्रकार का मानव सम्बन्ध है जिसके माध्यम से राजनीतिक प्रधिकार कुछ नीतियों के बारे में निर्णय करता है जिनका अनुपालन अन्य लोगों द्वारा करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार तुलनात्मक राजनीति, राजनीति संस्थाओं तथा राजनीतिक व्यवहार की समानताओं-असमानताओं से सम्बद्ध है। तुलनात्मक राजनीति में एक स्वतत्र अनुशासन के लिए आवश्यक सुस्पष्ट एवं निश्चित विषय-क्षेत्र है |

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Jean Blandel, Comparative Government : A Reader (Eds), Macmillan, London, 1969, p. Xi.

2 डॉ. सी. बी. गेना तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, पृ. 4-14 विकास पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली (1978

3. Ward and Macridis, Political Systems: Asia, Eaglewood Cliffs, New Jersey, (1968), p.5.

4.Michael Curtis, Comparative Govt. and Politics, Harper and Row London, 1968, p. 6.

5. Peter H. Merkel, Modern comprative Politics, Holt Rinehart, Winstan, New York, 1970, p. 1

6. G.K. Roberts, Comparative Politics Today Government and Opposition, Vol. VII No. 1 Witnter 1972, pp. 38-39.

7. Jean Blondel, An Introduction to Comparative Government, We Uliedenfield and Nicolson London, 1969. p. 6

8. Edward A. Freeman, Why Compare Comparative Politics, 1973, pp., 19-35

9. R.C. Macridis, comparative Government, 1967, p. 209.

10. G.K. Roberts, What is comparative Politics Macmillan, 1972, p. 7.

11. Ralph Braibanti, 'Comparative Government and Politics, Harper and Row London; 1968, p.6

12. Michael Curtis, comparative Government and Politics, Harper and Row, London, 1968, p. 6.

13. G. A. Almond and Powell, Comparative Politics: A Developmental Approach, Boston, (1966), p. 2-5.

14.डॉ. सी.बी. गेना, पूर्वोक्त, p.60.

15. G.K Roberts, Op. Cit. p. 45

16. Eckstein and After (Eds.), Comparative Politics : A Reader, Free press, New york, 193,p.6.

17. डॉ. सी.बी. गेना पूर्वोक्त p.65

18. Eckstein and After (Eds.), Comparative Politics : A Reader, Free, Press, New York, (1963),p.12.

19- डॉ. सी.बी. गेना पूर्वोक्त] p.78.

20. Eckstein and Apter, Op cit, p. 12.

21. Sidney Verba, "Dilemmas in Comparative Research, World Politics Vol. XX, 1963-68 ,p-III.

22. Jean Blondel, "An Introduction to Cocparative Government", Weilden Field and Nicholson London,1969,p. Blandel.

23. Jean Blaondel, An Introduction to Comparative Government, London, 1969.p.6.

24- डॉ. सी.बी. गेना पूर्वोक्त] p.40.

25. G.K. Robers, Comparative Politics, Today, p.6.

26. Eckstein and Apter, Op, cit., p.6.

27. David Eastan, The Political System, New York, (1953), p.129.

28. Jean Blondel, op. cit. p.6.

29. Jean Blondel, Ibid p.6.

30. Jean Bolndel, Ibid p,11.

31. Michacl Curtis, Op.cit. p. 5.

32. S.E. Finer, Comparative Government, Allen have, London, 1970, p.40.

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

१.S.E. Finer, Comparative Government, Allen have, London

२.David Eastan, The Political System, New York,

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.तुलनात्मक राजनीति के अर्थ एवं प्रकृति की विवेचना कीजिये |

इकाई 2 :तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत उपागम

इकाई सरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागम

2.4 तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम

2.5 तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम की सामान्य विशेषताओं

2.6 परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की आलोचना

2.7 परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का महत्व

2.8 सारांश

2.9 शब्दावली

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.13 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन प्रारम्भ से ही राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न संकल्पनाओं प्रत्ययों एवं वास्तविकताओं का विश्लेषण रहा है। ऐक्सटीन तथा ऐप्टर के अनुसार, ''राजनीति विज्ञान में राजनीतिक संस्थाओं, संविधानों तथा सरकारों के तुलनात्मक अध्ययन का अत्यधिक लम्बा एवं गौरवमय अतीत है।''1 तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन अब तक केवल नाम से ही तुलनात्मक रहा है। एक लम्बे समय तक यह केवल विदेशी शासनों, उनके ढाँचे तथा औपचारिक संगठन का ऐतिहासिक, वर्णनात्मक तथा कानूनी तौर से अध्ययन रहा है जब कि तुलनात्मक राजनीति को सिद्धान्तों, ढाँचों तथा वास्तविक व्यवहारों से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।''2

राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण का श्रेय सर्वप्रथम अरस्तू को ही जाता है जिन्होंने तत्कालीन 158 यूनानी नगर राज्यों के संविधानों का तुलनात्मक विश्लेषण किया था। इस विश्लेषण में अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मापदण्ड आज भी तुलनात्मक राजनीति में प्रासंगिक माने जाते हैं।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त

- तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम के बारे में जान सकेंगे
- तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम की सामान्य विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे
- परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का महत्व को समझ सकेंगे |

2.3 तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागम

अरस्तू के बाद अनेक राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक संस्थाओं व व्यवस्थाओं के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। इनमें सिसरो, पालिबियस, मैक्यावली मॉण्टेस्क्यू मार्क्स, मिल तथा बेजहाट इत्यादि विद्वानों का नाम महत्वपूर्ण है जिन्होंने विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया।

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागमों का अध्ययन करने से पूर्व हमें दो बातों का ध्यान रखना होगा।3

1.राजनीति वैज्ञानिक इस प्रश्न का उत्तर प्रारम्भ से ही ढूँढ़ने में व्यस्त हैं, क्योंकि एक प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ एक राजनीतिक व्यवस्था में सफल रहती हैं तथा अन्य राजनीतिक व्यवस्था में असफल हो जाती है। यह जानने के लिए विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन ही काफी नहीं है, इसके लिए विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण भी आवश्यक है। इसके द्वारा ही किसी राजनीतिक व्यवस्था एवं संस्था की श्रेष्ठता का पता चलता है। यही कारण है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण की प्रमुख पद्धति बनता जा रहा है।

2.पिछले सौ वर्षों के भीतर विशेषकर, द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण क्रान्तिकारी परिर्वतन आ गये। यही कारण है कि अध्ययन के पुराने दृष्टिकोण निरर्थक होते चले गये तथा विश्लेषण की नई तकनीकों का उदय हुआ। नई तकनीकों के उदय के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागमन सामने आये हैं।

डॉ. सी. बी. गेना के अनुसार यद्यपि परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति के अन्तरों का सुनिश्चित आधार निर्धारित कर पाना कठिन है फिर भी दानों में कुछ मौलिक अन्तर ऐसे हैं जिनके कारण तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत परिप्रेक्ष्य आधुनिक परिप्रेक्ष्य से अलग हो जाता है। [4] संपेक्ष में ये इस प्रकार हैं।

(1) अध्ययन के दृष्टिकोण के आधार: परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र भी आधुनिक तुलनात्मक राजनीति से भिन्न है। परम्परागत राजनीति का अध्ययन औपचारिक कानूनी एवं संस्थात्मक था। इसमें संविधान द्वारा स्थापित संस्थाओं का ही तुलनात्मक अध्ययन होता था, जबकि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में औपचारिक कानूनी संस्थाओं के साथ साथ राजनीतिक व्यवहारों का अध्ययन भी सम्मिलित है।

(2)अध्ययन क्षेत्र का आधार: परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र भी आधुनिक तुलनात्मक राजनीति से भिन्न है। परम्परागत राजनीति में केवल पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं को ही अध्ययन में सम्मिलित किया जाता था। इससे भी पहले केवल लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं के शासन ढाँचों का अध्ययन किया जाता था। यद्यपि जर्मनी व ईटली में अधिनायकवाद व रूस में साम्यवाद के उदय से इनको भी अध्ययन में सम्मिलित किया जाने लगा था, परन्तु फिर भी यह अध्ययन पाश्चात्य विश्व की शासन व्यवस्थाओं तक ही सीमित रहे आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र बृहत्त है। इसमें सम्पूर्ण विश्व की व प्रमुखतया नवोदित राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी अध्ययन में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार दोनों में अध्ययन क्षेत्र के आधार पर अन्तर किया जाता है।

(3)विश्लेषण का आधार: इन दोनो में विश्लेषण पद्धति का भी अन्तर है। परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का शासन व्यवस्थाओं व सरकारों के केवल विवेचन मात्र से सम्बन्ध था। इसमें संविधान द्वारा स्थापित शासन तन्त्र का औपचारिक वर्णन मात्र किया जाता था। आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन विवेचनात्मक मात्र न रहकर विश्लेषणात्मक है। इनमें राजनीतिक व्यवस्थाओं के व्यवहारों का विश्लेषण प्रमुखतया राजनीतिक व्यवहारों को समझने के लिए किया जाता है।

(4)अध्ययन उद्देश्य का आधार: परम्परागत तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन सरकारों एवं संस्थाओं की व्यवस्था तक ही सीमित रहे। इनमें विचित्र राजनीतिक व्यवहार की प्रकृति को समझने के लिए इनकी व्याख्या ही काफी समझी गयी। परन्तु आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययनों का प्रमुख ध्येय ही समस्याओं के समाधान का रहा है। इस प्रकार यह मुख्यतया समस्या-समाधानात्मक अध्ययन है।

अतएवं यह कहा जा सकता है कि तुलनात्मक राजनीति के परम्पराग एवं आधुनिक उपागमों में उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार

के उपागमों की प्रकृति को समझने के लिए हमें इनका विस्तार से विवेचना करनी होगी

2.4 तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम

तुलनात्मक संस्थाओं एवं सरकारों के प्रारम्भिक प्रयासों को परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का नाम दिया जाता है। जिन विद्वानों के राजनीतिक अध्ययनों को परम्परागत परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित किया जाता है उनमें सर अर्नेस्ट बार्कर, हेराल्ड, जे. लास्की, कार्ल जे फ्रेडरिक व हरमन फाइनर प्रमुख हैं। इन लेखकों ने तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करके मुख्यतः पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन किया। इसके अर्न्तगत भी उन्होंने मुख्यतया लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया तथा अलोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं से अपने आपको अलग रखा। इस दृष्टि से

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन क्षेत्र अत्यन्त सीमित एवं संकुचित था। इस दृष्टिकोण को भली-भाँति समझने के लिए इसकी सामान्य विशेषताओं को समझना होगा।

राय. सी. मैक्रीडीज के अनुसार, परम्परागत तुलनात्मक राजनीति केवल नाममात्र से ही तुलनात्मक थी वह तो विदेशी शासन विधानों का अध्ययन मात्र थी, जिसमें सरकारों की संरचना तथा संस्था के औपचारिक संगठनों का वर्णनात्मक, ऐतिहासिक एवं कानूनी अध्ययन किया जाता था।[5] जीन बलोंडेल के अनुसार, इसमें लिखित संवैधानिक दस्तावेजों तथा कानूनी आलेखों के अध्ययन पर बल दिया जाता था।[6]

मेक्रेडीज ने तुलनात्मक राजनीति की पाँच विशेषताएँ बतलाई हैं:

(1) प्रधानतः अतुलनात्मक (2) प्रधानतः वर्णनात्मक (3) प्रधानतः संकीर्ण (4) प्रधानतः स्थिर (5) प्रधानतः प्रबन्धकीय।

2.5 **तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत उपागम** की सामान्य विशेषताओं

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

(1) प्रधानतः अतुलनात्मक (Essentially Non-comparative) राय सी. मैक्रेडीज ने परम्परागत तुलनात्मक राजनीति अध्ययनों को मूलतः अतुलनात्मक बताया है। ये सभी अध्ययन एक दो देशों के ही अध्ययन थे। इनमें अध्ययन की इकाई किसी एक देश का संविधान होता था। उदाहरण के लिए ऑग एवं जिंक ने 'Governments of Europe' नामक कृति में ब्रिटेन, जर्मनी फ्राँस, इटली इत्यादि राष्ट्रों की संवैधानिक व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया था। इस अध्ययन का सम्बन्ध सामानान्तर संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित रहा, जैसे- ब्रिटेन, फ्राँस तथा अमेरिका की व्यवस्थापिकाओं या कार्यपालिकाओं की तुलना करना। इसके साथ ही साथ यह अध्ययन अनेक देशों के संवैधानिक आधारों के वर्णन में ही व्यस्त रहे। इन लेखकों ने अलग-अलग राज्यों वे संवैधानिक व्यवस्थाओं का पृथक्-पृथक् अध्ययन भी किया। जैसे ब्रिटेन की राजनीतिक संस्थाओं का भी वर्णन करके उनकी फ्राँस की राजनीतिक संस्थाओं के विवेचन के साथ तुलना करना। वास्तव में इस प्रकार का वर्णन भी सही अर्थो में तुलनात्मक नहीं था तथा इसलिए मैक्रेडीज का कहना है, ''अब तक के तुलनात्मक अध्ययन केवल नाम से ही तुलनात्मक थे।[7]

(2) प्रधानत: वर्णनात्मक (**(Essentially Descriptive)**)परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन समसया समाधानात्मक या विश्लेषणात्मक न होकर वर्णनात्मक रहे हैं। परम्परागत विद्वानों की मान्यता थी कि संस्थाओं का वर्णन उनकी व्याख्या के लिए पर्याप्त है। इसलिए इन विद्वानों ने शासन

व्यवस्थाओं का वर्णन करके विभिन्न शासनतन्त्रों के मध्य समानताओं एवं असमानताओं का स्पष्टीकरण ही किया। परन्तु इस बात की परवाह नहीं की कि यह समानताएँ या असमानताएँ किन कारणों से हैं? वस्तुतः वे राजनीतिक व्यवस्थाओं सरकारों के स्वरूपों एवं संस्थाओं के वर्णन से आगे नहीं बढ़े। इस दृष्टि से जेम्स टी. शाटवले की कृति 'Government of Continental Europe'प्रमुख हैं इस दृष्टि से परम्परागत तुलनात्मक राजनीति वर्णनात्मक ही रही है।

(3) प्रधानतः संकीर्ण (**(Essentially Parochial)**) परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन प्रधानतः पाश्चात्य राज्यों की शासन व्यवस्थाओं की संकीर्ण परिधि में ही बँधे रहे। सांस्कृतिक या भाषीय समानता के आधार पर ही यह लेखक एक राज्य से आगे बढ़कर दूसरे या तीसरे राज्य को सम्मिलित अध्ययन के लिए लेते थे। मुख्यतया ये अध्ययन यूरोप एवं अमेरिका तक ही सीमित रहे। ऐक्सटीन व ऐप्टर ने इस दृष्टिकोण का सार इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''परम्परागत दृष्टिकोण पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा तथा प्रमुखतया एक संस्कृति संरूपण या समूह का ही इसमें अध्ययन का ही इसमें अध्ययन किया गया।[8]

(4) प्रधानतः स्थिर (**(Essentially Static) :**) परम्परागत उपागम में उन गतिशील कारकों का अध्ययन नहीं किया गया, जोकि विविध राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति तथा विकास का आधार होते हैं। परम्परागत विद्वानों ने कानूनी सन्दर्भ में राजनीतिक व्यवस्थाओं अध्ययन किया तथा उन तत्वों की अवहेलना की जो राजनीतिक परिवर्तनों तथा विकास की समस्याओं एवं दिशाओं से सम्बन्धित होते हैं। उन्होंने उन परिस्थितियों एवं तत्वों का अध्ययन करना आवश्यक नहीं समझा जो किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में संसदीय प्रणाली अथवा अध्यक्षीय प्रणाली को सफल अथवा असफल बनाती है।

(5) प्रधानतः प्रबन्धकीय (**(ESSENTIALLY MONOGRAPHIC STUDIES) :**) तुलनात्मक शासन से सम्बन्धित अधिकांश परम्परागत रचनायें लम्बे निबन्धों जैसी हैं। इन रचनाओं में किसी एक शासन व्यवस्था की संस्था अथवा उस व्यवस्था में किसी विशिष्ट संस्था का विवेचन किया गया है। जॉन मेरियट, आर्थर कीथ, जेम्स ब्राइस, सर आइवर जेनिंग्स, हेराल्ड लास्की, ए., वी. डायसी, राब्सन, वुडरो विल्सन, इत्यादि लेखकों की रचनाओं को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इन विद्वानों के अध्ययन विषयों में, अमेरिका राष्ट्रपति, ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था, ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल, अमेरिकी काँग्रेसी, फ्रेंच प्रशासकीय कानून, इत्यादि हैं।

(6) प्रधानतः आदर्शीकृत अध्ययन (**(Predominantly Normative) :**) परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन आदर्शपरक थे। वे कतिपय आदर्शपरक धारणाओं को राजनीतिक संस्थाओं के लिए कसौटी मानकर चलते हैं। परम्परागत विद्वान आदर्शपरक मान्यताओं जैसे - 'लोकतन्त्र सर्वश्रेष्ठ

प्रणाली हैं, द्वि-दलीय व्यवस्था से ही लोकतन्त्र सफल रहेगा' इत्यादि बातों को कसौटी मानते हैं तथा इसी के आधार पर शासन व्यवस्थाओं की सफलता एवं असफलता का मूल्यांकन करते हैं। जहाँ-जहाँ इन मान्यताओं के अनुरूप संस्थाएँ तथा राजनीतिक व्यवस्थाएँ प्रचलित रही, वही इनके अध्ययन का आकर्षण बनी। यही कारण है कि वे पाश्चात्य लोकतन्त्र को अध्ययन का आदर्श विषय मानते रहे तथा अलोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं को निरर्थक समझते रहे।

(7) प्रधानतः औपचारिक संस्थागत अध्ययन (**(Excessively Formal Institutional) :**) तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययनों में राजनीतिक संस्थाओ का औपचारिक तथा कानूनी अध्ययन किया गया था। डायसी, मुनरो, ऑग एवं जिंक जैसे विद्वानों ने अपने अध्ययन औपचारिक संस्थाओं के विवेचन तक ही सीमित रखे। राय मैक्रेडीज के अनुसार, ''उन्होंने इस बात को जानने का प्रयत्न नहीं किया कि संविधान एवं राजनीतिक संस्थाएँ व्यवहार में किस प्रकार कार्य करती हैं।''[9]

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की विशेषताओं का अध्ययन करने के उपरान्त उसकी अध्ययन पद्धतियों का भी विश्लेषण किया जाना आवश्यक है। वास्तव में तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की परम्परागत विधियों का सम्बन्ध इतिहास, नीतिशास्त्र, दर्शन एवं विधि की प्रधानता से रहा है। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के प्रमुख उपागम इस प्रकार रहे हैं:

(1) दार्शनिक पद्धति (**(Philosophical Method) :**) प्लेटो, रूसो, जे. एम. मिल आदि के द्वारा इस पद्धति को प्रमुख रूप से अपनाया गया है। प्लेटो द्वारा रिपब्लिक में आदर्श राज्य की कल्पना, थामस मूर के द्वारा यूटोपियन राज्य की कल्पना, लॉक द्वारा प्राकृतिक अधिकार की धारणा, रूसों द्वारा सामान्य इच्छा की धारणा का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति पर ही आधारित है। यह बात अलग है कि इन धारणाओं का प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध तुलनात्मक राजनीति से नहीं है, परन्तु न्याय स्वतन्त्रता तथा नागरिक दायित्वों के सम्बन्ध से उनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं।

(2) ऐतिहासिक पद्धति (**(Historical Method) :**) ऐतिहासिक पद्धति इस मान्यता पर आधारित है कि राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण नहीं किया जाता वरन् वे विकास का परिणाम होती हैं। गिलक्राइस्ट के अनुसार, ''ऐतिहासिक पद्धति की इसी उपयोगिता के कारण अरस्तू के समय से इस पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। लास्की, मैक्यावली, मॉण्टेस्क्यू, हीगल, कार्ल मार्क्स, हर्बर्ट स्पेंसर आदि ने किसी न किसी रूप मंे इस पद्धति का उपयोग किया है। सर हेनरी मेन तथा मैकाइवर ने इसका प्रयोग विकासवादी उपागम के रूप में किया है। इस उपागम में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यह व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं को हल करने में असमर्थ है।

(3) औपचारिक एवं कानूनी विधि **(Formal and Legal Method) :** 19 वीं सदी में जर्मनी में औपचारिक एवं कानूनी विधि उभर कर सामने आयी। अमेरिका तथा ब्रिटेन में भी यह पद्धति लोकप्रिय होती चली गयी। इस सन्दर्भ में डायसी का 'Law of the Contitution' तुलनात्मक राजनीति के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। थियोडोर, वुल्से, वुडरो विल्सन, कार्टर हर्ज, न्यूमैन इत्यादि विद्धानों ने देश विदेश की कानूनी संहिताओं तथा संविधानों का विश्लेषण करके तुलनात्मक राजनीति को पुष्ट किया। औपचारिक तथा कानूनी आधार पर लिखी गयी अधिकांश पुस्तकें मात्र औपचारिक संस्थाओं तथा कानूनों के अध्ययन पर बल देती हैं। इस उपागम की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह सामाजिक आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों की उपेक्षा करता है।

(4) संरूपण विधि **(The Configurative Method) :**इस विधि के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य की राजनीतिक व्यवस्था को धुरी मानकर इसका अलग से अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के आँकड़े तथा अन्य आवश्यक सामग्री एकत्रित करके तुलनात्मक विश्लेषण किया

जाता है। इसके प्रमुख प्रतिपादकों में न्यूमैन कार्टर हर्ज,रोशर इत्यादि प्रमुख हैं। इस उपागम से तुलनात्मक विश्लेषण की विशिष्ट सामग्री उपलब्ध हो जाती है। फिर भी ये उपागम वर्णनात्मक एवं संकुचित मानी जाती है तथा इसमें आर्थिक सामाजिक कारकों की उपेक्षा की जाती है।

(5) समस्यागात विधि **(Problem Oriented Method) :** इस विधि के द्वारा समस्यागत क्षेत्रों का अध्ययन किया जाता है। कई विद्वानों ने इस उपागम के द्वारा शासन प्रणालियों की प्रचलित समस्याएँ जैसे 'लोकतन्त्र तथा आर्थिक नियोजन में सम्बन्ध' 'द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का ह्रास', प्रदत्त व्यवस्थापन आदि का अध्ययन किया। यह उपागम तुलनात्मक विश्लेषण की दृष्टि से ठोस आधार प्रस्तुत करता है। इस उपागम को अधिक उपयोगी बनाने के लिए मनुष्यों के व्यवहार तथा राजनीतिक संस्थाओं एवं अन्य सामाजिक, आर्थिक कारकों में सम्बन्ध की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

(6) क्षेत्रीय उपागम **(The Area Approach) :** द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में क्षेत्रीय उपागम का प्रचलन बढ़ा। मैक्रेडीज के शब्दों में, ''कतिपय देशों के ऐसे समूहों को एक क्षेत्र माना जा सकता है जिनमें पर्याप्त सांस्कृतिक एक रूपता हो, ताकि उनकी राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके।'' क्षेत्रीय उपागम के आधार पर लिखे गये ग्रंथों में आमण्ड एवं कोलमैन की पुस्तक "The Politics of Developing Areas', राबर्ट स्केलापिनो की कृति 'Democracy and Party Movement in War Japan, बेरिंग्टन मूर की कृति 'Politics-The Dilemma of,' डेविस की कृति 'Government and

Politics in South East Asia' हरारी की कृति 'Government and Politics of Middle East' प्रमुख है।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि भौगोलिक आधार पर अधिक बल देता है और तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर यह सामान्य सिद्धान्त के निर्माण में उपयोगी नहीं सिद्व होता।

(7) संस्थागत-कार्यात्मक उपागम **(Structural Functional Approach) :** इस उपागम में राजनीतिक व्यवस्था के संरचनात्मक तथा कार्यात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है। आमण्ड, हरमन फाइनर, के. सी. व्हीयर तथा कार्ल जे. फ्रेडरिक के अध्ययनों में इस उपागम को अपनाया गया है।

इस उपागम का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राजनीति के गतिशील कारकों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

2.6 परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की आलोचना (CRITICISM OF TRADITIONAL COMPARATIVE POLITICS)

परम्परागत तुलनात्मक राजनीति अपनी सीमाओं के कारण अनेक विसंगतियों का शिकार हुई है। मात्र लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के सहारे तुलनात्मक विश्लेषण सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि समय बीतने के साथ यह उपागम राजनीतिक व्यवहार की गतिशीलता को समझने में असमर्थ रहा तथा इसकी कमियाँ उजागर हो गयी। परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है:

(1) सही अर्थो में तुलना नहीं (Non-comparative in Real Terms) : परम्परागत अध्ययनों में अर्थपूर्ण तुलनाओं का प्रयास नहीं किया गया है। इसमें मात्र शासन प्रणालियों अथवा संस्थाओं के ऊपर ढाँचे की समानताओं एवं असमानताओं की तुलना की गयी अथवा अमेरिकी राष्ट्रपति की तुलना भारतीय प्रधानमन्त्री से की गयी जिसे सही अर्थो में तुलना नहीं कहा जा सकता। आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, '' परम्परागत तुलनात्मक राजनीति, अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्थाओं की विशिष्ट विशेषताओं पर प्रकाश डालने तक ही सीमित रही तथा व्यवस्थित तुलनात्मक विश्लेषण नाम मात्र का ही था।'[10] मैक्रेडीज के अनुसार, ''तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन अब तक केवल नाम मात्र से ही तुलनात्मक रहा है। अब तक केवल विदेशी सरकारों, उनके ढाँचे तथा औपचारिक संगठन का ऐतिहासिक वर्णनात्मक वैधानिक अध्ययन ही रहा है जबकि तुलनात्मक राजनीति को सिद्धान्तों ढाँचों तथा वास्तविक व्यवहार से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।[11] कहने का तात्पर्य यह है कि परम्परागत राजनीति का दृष्टिकोण वास्तव में तुलनात्मक नहीं था।''

(2) अराजनीतिक व्यवहार की उपेक्षा **(Lgnoring Non-Political Behaviour) :**तुलनात्मक राजनीति का दूसरा आक्षेप यह लगाया जाता है कि इसमें राजनीतिक व्यवहार के अराजनीतिक तत्वों की उपेक्षा की गयी। इसमें शासन तन्त्र की संरचनात्मक एवं कानूनी व्यवस्थाओं का ही अध्ययन किया गया। आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों का वस्तुतः राजनीतिक व्यवस्था पर इतना अधिक प्रभाव होता है कि उनके समझे बिना राजनीतिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। आमण्ड एवं पावेल के अनुसार ''इनका मुख्य जोर संस्थाओं, कानूनों, विधियों व राजनीतिक विचारों तथा विचारधाराओं पर ही था तथा उनके कार्य, अन्तःक्रिया व्यवहार व उपलब्धियों की उपेक्षा की गयी।''[12]

(3) विश्लेषण का आभाव (Lack of analysis) : परम्परागत अध्ययन न तो विश्लेषणात्मक, थे तथा न ही व्याख्यात्मक वरन् केवल वर्णनात्मक थे। वे राजनीतिक संस्थाओं के मूल में अनतर्निहित राजनीतिक प्रक्रियाओं, दबाव व हित समूहों तथा व्यवहार को अपने अध्ययन में सम्मिलित नहीं करते अन्तनिर्हित जिनके माध्यम से वास्तव में तुलना सम्भव है। यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है कि फ्रांस रूस, ब्रिटेन, अमेरिका या स्विटजरलैण्ड की ही व्यवस्था को क्यों अध्ययन के लिए चुना गया? परम्परागत तुलनात्मक अध्ययनों में जो कुछ तुलना की गयी है, उनमें संघीय एवं एकात्मक व्यवस्था, संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक व्यवस्था, प्रजातन्त्र व अधिनायकवाद आदि के गुण-दोषों तथा उनके बीच समानताओं एवं असमानताओं को दर्शाया गया है।

(4) संकुचित अध्ययन (Norrow-minded Study Precision) : परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन संकुचित कहे जाते हैं। परम्परागत लेखकों द्वारा अलोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं गैर-पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक व्यवस्थाओं के अराजनीतिक आधारों तथा राजनीतिक व्यवहारों की अवहेलना की गई है। तुलनात्मक राजनीति पर लिखी गयी अधिकांश पुस्तकों में लोकतान्त्रिक व विशेष तौर से पश्चिमी यूरोपीय संस्थाओं का ही वर्णन है। कार्ल फेड्रिक जैसे लेखक ने भी अपने आपको विचारधारा एवं संस्थाओं के मध्य अर्न्तक्रियाओं तक ही सम्बन्धित रखा है। उनकी प्रमुख पुस्तक 'Constitution Government and Democracy' में राजनीतिक व्यवस्थाओं के गुणों, विशेषताओं या लक्षणों का कोई समन्वय नहीं पाया जाता है। यह दृष्टिकोण वास्तव में संकुचित है।

(5) अध्ययन पद्धतियों के परिष्करण का आभाव **(Lack of Sophisticated Study Methods) :**परम्परागत तुलनात्मक अध्ययनों में ऐतिहासिक तथा वैधानिक पद्धति पर जोर दिया गया है। इन पद्धतियों की सीमाओं के उभरने पर भी नयी विश्लेषण प्रविधियों के प्रयोग का प्रयत्न नहीं किया गया। यही कारण है कि इसमें अर्न्तअनुशासनात्मक विश्लेषण का प्रयोग सम्भव नहीं हो पाया। इसका परिणाम यह हुआ है कि इसमें अध्ययन पद्धतियों का सही ढंग से परिष्करण नहीं हो पाया।

(6) अध्ययन उद्देश्य की दृष्टि से लक्ष्य का आभाव **(Aims of Study Lacking) :** परम्परागत विद्धान केवल राजनीतिक संस्थाओं के वर्णन तक ही सीमित रह गये। उनका लक्ष्य सिद्वान्त निर्माण अथवा समस्या समाधान की ओर न रहा। आलोचकों की मान्यता है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं व व्यवहारों की जटिलता व्यापक उद्देश्य अनिवार्य बना देती है परन्तु कार्ल जे. फेड्रिक, फाइनर, माइकेल व डुवर्जर को छोड़कर अन्य विद्वान तुलनाओं का लक्ष्य लेकर संकुचित उद्देश्य की प्राप्ति में उलझते रह गये। इसका परिणाम यह सामने आया कि वे सिद्धान्त निर्माण के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि परम्परागत तुलनात्मक राजनीति में कई कमियाँ थीं। राज्य की प्रकृति, क्षेत्र एवं कार्यो में वृद्वि ने इस समस्या को और बढ़ा दिया है। राज्य के कार्यो में आये बदलावों ने सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को विश्लेषण की इकाई बना दिया है। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र भी बदल गया है। इसके लिए विभिन्न नई पद्धतियों एवं आयामों का विश्लेषण किया जाने लगा है। इनका अध्ययन अगले अध्याय में किया जायेगा।

अभ्यास प्रश्न

1. **तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के कितने उपागम हैं ?**
2. तुलनात्मक राजनीति के जनक किसे माना जाता है ?

2.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त यह जानने में सफलता मिली कि यद्यपि परम्परागत तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं को समझने में सहायक नहीं रहा फिर भी विषय की दृष्टि से उनके योगदान को हम नजर अंदाज नहीं कर सकते। इस दृष्टिकोण के माध्यम से राजनीति के अनेक तथ्य संकलित कियो गये जो बाद में राजनीतिक विश्लेषण का आधार बिन्दु बने। इस अध्ययनों में राजनीतिक व्यवस्थाओं की जटिलता का आभास मिला, जो अंततः आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में सहायक बना। एलेन बाल के शब्दों में, ''परम्परागत राजनीतिक विद्वानों द्वारा खड़े किये गये विचारों के महल चाहे कितनी ही कमजोर बुनियाद पर क्यों न हों, उनकी कृतियों द्वारा ही हमें सर्वप्रथम तुलनात्मक सरकार के बारे में जानकारी होती है।''[13]

2.9 शब्दावली

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. २ , २. अरस्तू

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.Ecksten and After (Eds.) Comparative Politics : A Reader, Free Press, New York, (1963) p.3.

2.R.C. Macridis, A Survey of the field of Comparative Government' in Jean Blondel, Comparative Government, p. XI.

3.डॉ. सी. बी. गेना, पूर्वोक्त, 86-87.

4.सी. बी. गेना, पूर्वोक्तए 88-91.

5.डॉ. सी. बी. गेना, पूर्वोक्त, 115-127

6.Jean Blondel, Comparative Government : A Reader, (1969), pp.19.

7.Roy C. Macridas, The Study of Comparative Government, Roulbday, New Yark (1955) p.7

8.Eckstein and After, Comparative Politics, A Reader Free Press, New York. 1963,p.3.

9.R.C. Macridis, Op. cit. p. 9.

10.Almond and Powell, Comparative Politics : A Developmenental Approach, Little Brown, Boston (1966), p.2.

11.Roy C. Macridis, Op. cit. p.7.

12.Almond and Powell, Op. cit. p.3.

13. Almond and Powell, Op. cit. p.3.

2.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.कम्पेरेटिव पॉलिटिक्सः ए डेवलेपमेन्टल एप्रोच, ऑमण्ड एवं पॉवेल

2.कम्यूनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलेपमेन्ट, लूसियन पाई

3.मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, एस0 पी0 वर्मा

2.13 निबन्धात्मक प्रश्न

१. परम्परागत तुलनात्मक राजनीति के विशेषताओं की विवेचना कीजिये |

इकाई ३ :तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम

3.4 आधुनिक उपागमों का विकास

3.5 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताएँ

3.6 आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की आलोचना

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

परम्परागत तुलनात्मक अध्ययन राजनीतिक विश्लेषण की दृष्टि से अधिक सहायक न रह सके। यही कारण है कि राजनीतिक वास्तवितकताओं, संस्थाओं एवं व्यवहारों को समझने के लिए नये-नये उपागमों की खोज की जाने लगी। इन नये उपागमों को आधुनिक उपागमों की संज्ञा दी जाने लगी।

एक राजनीतिक व्यवस्था में संरचनात्मक तथा कार्यात्मक दोनों ही दृष्टि से अनेक प्रवृतियाँ उभरकर सामने आती हैं। इसके अन्तर्गत सरकार के विभिन्न अंगों-कार्यपालिका, व्यवस्थापिका न्यायपालिका, नौकरशाही इत्यादि का विश्लेषण होता है। दूसरी ओर इसमें राजनीतिक दल दबाव समूह एवं विभिन्न हित समूह होते हैं। साथ ही साथ इसमें मूल्यों एवं विश्वासों का भी योगदान होता है जो समाज के आधार स्तम्भ के रूप में कार्य करते हैं। इस दृष्टि से 20 वीं सदी में राजनीति विज्ञान के अध्ययन एवं विश्लेषण के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में अनेक आधुनिक उपागम उभरकर सामने आये हैं तथा अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से सराहनीय योगदान दिया है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्याय के उपरान्त

- **तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागमके विविध पक्षों के बारे में जान सकेंगे |**
- **आधुनिक उपागमों का विकास के सम्बन्ध में जान सकेंगे |**
- आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे

3.3 तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम

बीसवीं सदी में आधुनिक अध्ययनों के अन्तर्गत कई रचनायें उभरकर सामनें आयीं, जिनमें ग्राह्य वालास की रचना 'Human Nature in Politics' आर्थर बेंटले की रचना, The Process of Government' डेविड ह्यमैन की रचना 'The Government Process' प्रमुख हैं। इन रचनाओं से एक बात साफ उभरकर यह सामने आयी हैं कि अब राजनीतिक संस्थाओं की संरचनाओं की अपेक्षा उनके व्यवहार पर अधिक बल दिया जाने लगा है। राजनीतिक विश्लेषण के लिए अब अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञानों की खुलकर सहायता ली जाने लगी है। इसके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान में भी अर्न्तअनुशासनात्क अध्ययन पद्धति का ; (inter-disciplinary) सूत्रपात हुआ है। इस नयी अनुभववादी पद्धति के परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र अधिक विस्तृत एवं बहुआयामी हो गया है। इस दिशा में योगदान देने वाले प्रमुख विद्वानों में रार्बट के. मर्टन, टालकोट पारसोन्स, डेविड ईस्टन, आमण्ड, कार्ल डायच, डेविड ऐफ्टर, एडवर्ड शिल्स, लूसियन ड्ब्ल्यू पाई, इत्यादि का नाम सम्मिलित किया जा सकता है।

3.4 आधुनिक उपागमों का विकास (Devlopment of Modern Perspective)

तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागमों की विशेषताओं एवं लक्षणों का विवेचन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं की जटिलताओं का उद्भव कैसे हुआ तथा पुराने उपागमों की अपेक्षा नये उपागमों की आवश्यकता क्यों अनुभव की गयी? आमण्ड एवं पावेल के अनुसार , परम्परागत तुलनात्मक राजनीति की सर्वत्र लोकतन्त्र के प्रसार में आस्था धूमल हो गयी थी। वस्तुतः द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त परम्परागत उपागमों का महत्व कम होता गया तथा आधुनिक विधियों एवं उपागमों का महत्व बढ़ता गया।

आमण्ड तथा पावेल ने अपनी पुस्तक 'Comparative Politics : A Developmental Approach'में इस परिवर्तन के लिए तीन कारणों का उत्तरदायी ठहराया है:[1]

(1) एशिया, अफ्रीका तथा मध्य-पूर्व में राष्ट्रीय विस्फोट जिसमें विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों, सामाजिक संस्थाओं व राजनीतिक विशेषताओं वाले अनेक राष्ट्रों का राज्यों के रूप में उदय हुआ।

(2) अटलांटिक समुदाय के राष्ट्रों के प्रभुत्व का अंत तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति व प्रभाव का उपनिवेशों एवं अर्ध-उपनिवेशी क्षेत्रों में प्रसार एवं विस्तार हुआ।

(3) साम्यवाद का राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की संरचना व अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बदलने के संघर्ष में एक शक्तिशाली प्रतियोगी के रूप में उभरना महत्वपूर्ण रहा।

वास्तव में तुलनात्मक राजनीति का परम्परागत दृष्टिकोण बदलती हुई परिस्थितियों में राजनीतिक यथार्थ की गत्यात्मकता को समझने में असमर्थ सिद्ध हुआ तथा नयी प्रविधियों, पद्धतियों व दृष्टिकोणों का प्रयोग अनिर्वाय हो गया।

मैक्रेडीज का विचार है कि तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक दृष्टिकोण अधिक परीक्षण करने वाला, अधिक खोजबीन करने वाला तथा अधिक व्यवस्थित है। इसका लक्ष्य राजनीतिक संस्थाओं, प्रक्रियाओं तथा व्यवहारों का उसके मूल में जाकर परीक्षण करना है।

आमण्ड एवं पावेल के अनुसार, तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक परिप्रेक्ष्य मुख्य रूप से नयी पेचीदगियों को समझने नवीन बौद्धिक प्रवर्तन लाने तथा एक नयी बौद्धिक व्यवस्था की स्थापना की प्रवृतियों की चर्चा की है जो चार प्रकार की हैं:

(1) अधिक व्यापक विषय-क्षेत्र की खोज **(The Search for More Comprehensive, Subject):** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में अधिक व्यापक विषय-क्षेत्र की तलाश की गई है तथा तुलनात्मक राजनीति को संकीर्णता के दायरे से निकालकर व्यापकता के सन्दर्भ में लाने का लक्ष्य रखा गया है। बदलते हुए परिवेश में लोकतांत्रिक शासन प्रणालियों के साथ-साथ निरंकुश शासन व्यवस्थाओं का यूरोपीय देशों की शासन व्यवस्थाओं के साथ-साथ विकासशील देशों की शासन व्यवस्थाओं का, पूँजीवादी देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ साम्यवादी देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना है। इस दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र व्यापक होता चला गया है।

(2) यर्थाथवाद की खोज **(The Search for Realism):** तुलनात्मक राजनीति में यथार्थवाद की खोज की प्रवृत्ति परिवर्तित राजनीति का सीधा परिणाम है। यह कानून, विचारधारा, सरकारी संस्थाओं व संवैधानिक संरचनाओं के अध्ययन से आगे बढ़कर उन सब संरचनाओं का परीक्षण करता है जो राजनीति तथा नीति निर्धारण में अपना प्रभाव डालती हैं। आधुनिक तुलनात्मक राजनीत राज्य तथा सरकार के औपचारिक अंगों के अध्ययन के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक दलों, हित समूहों, चुनाव प्रक्रियाओं, राजनीति संचार, अभिजात्य वर्ग शक्ति आदि के अध्ययन पर भी बल देती है। राजनीति की इस प्रवृति के विकास में व्यवहारवादियों का महत्वपूर्ण योगदान है। जो वास्तविक राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर बल देते हैं।

(3) परिशुद्धता की खोज **(The Search for Precision):** तुलनात्मक राजनीति में सुनिश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग की प्रवृत्ति पायी जाती है। अब निर्देशन सर्वेक्षण द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं के लक्षणों, राजनीतिक संस्कृतियों, सामाजीकरण व राजनीतिक प्रक्रियाओं को परिमाणात्मक तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण करके समझने का प्रयास

किया जाता है। इसके लिए कम्प्यूटर, सांख्यिकीय तथा गणितीय पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है।

(4) बौद्विक अनुक्रम की खोज **(The Search for Intellactual Order) :** तुलनात्मक राजनीति में नयी अवधारणाओं की खोज नया बौद्धिक अनुक्रम ; (Theoretical Order) स्थापित करने के लिए की जा रही है। परम्परावादी शब्दों जैसे राज्य, लोकतन्त्र क्रान्ति, फासीवाद इत्यादि का राजनीतिक शोध की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है। उसके स्थान पर राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक संरचना, राजनीतिक विकास, राजनीतिक संस्कृति, राजनीति आधुनिकीकरण जैसी अवधारणाओं का प्रचलन हुआ। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों राजनीतिक व्यवस्था का राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं की आन्तरिक प्रक्रियाओं तथा गतिविधियों पर प्रभाव स्वीकार किया जाने लगा है, त्यों-त्यों तुलनात्मक राजनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अलगाव कम करने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है। यह तुलनात्मक राजनीति का आधुनिक प्रवृत्ति का परिचायक है।

3.5आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की विशेषताएँ(Characters of Modern Comparative Politics)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में हुए परिवर्तनों ने तुलनात्मक राजनीति विश्लेषण को नये आयाम प्रदान किये हैं। इस दृष्टि से नये उपागमो का सृजन किया गया है। इसमें शासनों का औपचारिक संस्थागत व नियम बद्ध अध्ययन न करके उसे कुछ आधारभूत प्रश्नों से जोड़ा गया है। इसके अध्ययन की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार है:

(1) मूलतः तुलनात्मक **(Largely Comparative in Approach) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति मूलतः तुलनात्मक हैं। इसमें राजनीतिक व्यवस्थाओं के ऊपरी ढाँचे की ही तुलना नहीं होती अपितु राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा गैर राजनीतिक कारकों की भी तुलना होती है। ऐप्टर के अनुसार 'आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के अर्न्तगत औपचारिक संस्थाओं के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक व्यवहारों तथा राजनीति को प्रभावित करने वाले अराजनीतिक तत्वों का भी अध्ययन किया जाता है।'

(2) व्यापकतम विषय-क्षेत्र **(Extensive in Scope) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र काफी व्यापक है। इसमें औपचारिक वैधानिक शासन अंगों के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक व्यवहार व राजनीति को प्रभावित करने वाले अराजनीतिक तत्वों का अध्ययन किया जाता है। इसमें यूरोपीय देशों की शासन व्यवस्थाओं के साथ एशिया, अफ्रीका के विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का भी अध्ययन किया जाता है। वर्तमान राजनीतिक

संस्थाओं को ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझने का प्रयास भी आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में किया जाता है। राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं को एक अन्तराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था से सम्बद्ध मानकर इनका एक दूसरे पर प्रभाव व उनकी पारस्परिकता भी तुलनात्मक अध्ययनों में देखी जाने लगी है। तुलनात्मक राजनीति का व्यापक विषय-क्षेत्र राजनीति विज्ञान में इसके बदले महत्व का परिचायक है।

(3) विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक **(Analytical and Explanatory) :** राजनीतिक व्यवस्थाओं के विवरण मात्र से राजनीति व्यवस्थाओं की सही प्रकृति को समझना सम्भव नही है। यही कारण है कि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति विवरणात्मक न होकर समस्या समाधानात्मक व्याख्यात्मक तथा विश्लेषणात्मक है। सी. बी. गेना के अनुसार, ''विश्लेषणात्मक मार्ग किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को समझने का प्रयास करता है तथा उन महत्वपूर्ण संरचनाओं का परिचय देता है जिनके माध्यम से एक राजनीतिक व्यवस्था कार्य करती है तथा अन्य व्यवस्था के समान अथवा असमान बनती है।''[2] विश्लेषणात्मक पद्धति से परिकल्पनाओं की जाँच की जाती है तथा जाँच के आधार पर उन परिकल्पनाओं का धारण संशोधन या खण्डन किया जा सकता है। सभी प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययनों में विश्लेषण का यह ढंग अनिवार्य है।

(4) व्यवस्थावादी अध्ययन **(System Oriented Study) :** इस दृष्टिकोण में संवैधानिक तन्त्र के अध्ययन के स्थान पर राजनीतिक व्यवस्था को ही आधार मानकर राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने हर राजनीतिक व्यवस्था की तीन विशेषताएँ स्वीकार की हैं - बाध्यकारी शक्ति या सामर्थ्य शक्ति का एकाधिकार तथा शक्ति के प्रयोग की साधनयुक्तता। इन तीनों विशेषताओं में से एक या तीनों का सन्दर्भ एक राजनीतिक व्यवस्था को अन्य राजनीतिक व्यवस्था या व्यवस्थाओं से भिन्न बनाता है तथा इन्हीं के आधार पर किसी राजनीतिक व्यवस्था की वैधता या अवैधता का ज्ञान होता है। राजनीतिक व्यवस्था में हर संस्था या प्रक्रिया की वास्तविकता को तभी समझा जा सकता है जब राजनीति का अध्ययन सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से किया जाये। राजनीतिक व्यवहार की वास्तविक गत्यात्मकता को समझने के लिए ही आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन व्यवस्था अभिमुखी होता जा रहा है।

(5) सामाजिक सन्दर्भ अभिमुखी **(Social Context Oriented) :** तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक लेखक राजनीतिक प्रक्रियाओं का सामाजिक शक्तियों की अन्तःक्रिया से गहरा सम्बन्ध स्वीकार करने लगे है। अब तुलनात्मक राजनीति के लेखक, उन सब सामाजिक संस्थाओं, शक्तियों तथा परम्परागत बन्धनों का, जो राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव या प्रभाव डालते हैं, अध्ययन

राजनीतिक दृष्टिकोण से करते हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति सामाजिक सन्दर्भ में ही सही रूप में समझी जा सकती है।

(6) व्यवहारवादी अध्ययन उपागम **(Behavioural Approach of Study) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता व्यवहारवादी अध्ययन दृष्टिकोण को स्वीकार करना है। व्यवहारवाद राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण को राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से यह राजनीति उसकी संरचनाओं प्रक्रियाओं आदि के बारे में वैज्ञानिक व्याख्यायें प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। दूसरी ओर इसमें अन्तर अनुशासनात्मक शोध एवं विश्लेषण पर बल दिया जाता है। यह अनुभवात्मक एवं क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों, मानकीय विवरणों, कल्पनाओं आदि का स्थान नहीं है। इस दृष्टि से यह आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को अधिक वैज्ञानिक बनाता है तथा परम्परागत राजनीति को सर्वथा अलग कर देता है।

3.6आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की आलोचना (Crititism of Modern Comparative Politics)

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र का विस्तार व परिष्कृत प्रविधियों की खोज तथा नये-नये अध्ययन दृष्टिकोणों का उपयोग तथा नयी-नयी अवधारणाओं का निर्माण अनुशासन को राजनीति विज्ञान के अनुरूप बना देता है। **जी. के. राबर्टस** के अनुसार 'तुलनात्मक राजनीति या तो सब कुछ है या कुछ भी नहीं है।'[3] इसके विषय-क्षेत्र का एक सीमा से ज्यादा विस्तार इसे राजनीति विज्ञान बना देता है तथा इससे बहुत उपयोगी निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। यही कारण है कि अनेक राजनीतिक विचारक परम्परागत दृष्टिकोण को ही अपनाने की बात कहने लगे हैं। संपेक्ष में इसकी आलोचना निम्न आधारों पर समझी जा सकती है:

(1) विषय-क्षेत्र में अत्याधिक दुःसाध्य **(Unwidely in Scope) :** राजनीतिक व्यवहार की समस्त क्रियाओं को अध्ययन में सम्मिलित करना ज्ञान की वर्तमान सीमाओं में सम्भव नहीं है। वास्तव में तुलनात्मक राजनीति एक ऐसी दुविधा के दौर से गुजरती हुई दिखाई देती है जिसमें एक ओर विषय-क्षेत्र को सीमित रखना आवश्यक लगता है जबकि दूसरी ओर नये-नये आयामों व अध्ययन दृष्टिकोणों को अपनाना राजनीतिक व्यवहार की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिए अनिवार्य हो जाता है। इससे आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का विषय-क्षेत्र इतना व्यापक एवं दुःसाध्य बन गया है कि आलोचक उसको व्यवस्थित ढंग से समझना सम्भव नहीं मानते। हाल के वर्षो में डेविड ऐप्टर, जीन ब्लोंडेल, एम. ई. फाइनर, आमण्ड एवं कोलमैन तथा राबर्टस इत्यादि लेखक इसके विषय क्षेत्र को शासन तन्त्र एवं राजनीतिक व्यवस्था की परिधि में सीमित करने की बात करने लगे हैं।

(2) नयी अवधारणाओं की अस्पष्टता **(Vagueness of New Concerpts) :** आलोचकों का कहना है कि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में नई अवधारणाओं जैसे राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक संस्कृति, सामाजीकरण, राजनीतिक विकास, इत्यादि पर इतना अर्थ विभेद है कि हर विद्वान इनका अपने ढंग से अर्थ निकालने का प्रयास करता है। नयी अवधारणाओं की अस्पष्टता के कारण आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की उपादेयता शंका के घेरे में बनी हुई है। यदि तुलनात्मक राजनीति को स्वतन्त्र अनुशासन के दायरे में लाना हैतो इसके लिए सर्वमान्य एवं समान अर्थी अवधारणाओं की रचना करनी होगी।

(3) व्यवहारवादी अध्ययन पर अधिक बल **(Excessively Behavioural) :** आधुनिक तुलनात्मक राजनीति व्यवहारवादी उपागमों पर अत्यधिक बल देती है। आलोचकों के अनुसार, व्यवहारवाद ने तुलनात्मक राजनीति को अत्यधिक नुकसान पहुँचाया है। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी उसकी मूल्य निरपेक्षता है जिसे अर्नाल्ड ब्रेख्त ने बीसवीं सदी की दुखान्त घटना कहा है। पुनः व्यवहारवाद आनुभाविक तथ्यों एवं आँकड़ों को इतना अधिक महत्व देता है कि अन्य तथ्य गौण हो जाते हैं। इसने तुलनात्मक राजनीति के विषय-क्षेत्र को ही दिग्भ्रमित कर दिया है।

(4) विकासशील राज्यों पर अत्याधिक बल **(Excessive Emphasis upon Developing Countries) :**आधुनिक तुलनात्मक राजनीति वस्तुतः विकासशील राज्यों के तुलनात्मक अध्ययन में उलझ गयी है। वर्तमान समय में ऐसे अध्ययनों की बाढ़-सी आ गयी है। सत्य बात तो यह है कि विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में अस्थिरतायें इतनी अधिक हैं कि इनके प्रति अनावश्यक जागरूकता तर्क संगत नहीं है।

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में कई कमियों के बावजूद राजनीतिक व्यवहारों के बारे में सुनिश्चित स्पष्टीकरण एवं व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है। तुलनात्मक राजनीति में नये प्रतिमानों का प्रचलन करके नये दृष्टिकोण प्रतिपादित किये गये। वस्तुतः आधुनिक तुलनात्मक अध्ययनों ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में रूचि बढ़ाई है।

3.7 सारांश

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता व्यवहारवादी अध्ययन दृष्टिकोण को स्वीकार करना है। व्यवहारवाद राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण को राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से यह राजनीति उसकी संरचनाओं प्रक्रियाओं आदि के बारे में वैज्ञानिक व्याख्यायें प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। दूसरी ओर इसमें अन्तर अनुशासनात्मक शोध एवं विश्लेषण पर बल दिया जाता है। यह अनुभवात्मक एवं क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों, मानकीय विवरणों, कल्पनाओं आदि का स्थान नहीं है। इस दृष्टि से यह

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति को अधिक वैज्ञानिक बनाता है तथा परम्परागत राजनीति को सर्वथा अलग कर देता है। आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में कई कमियों के बावजूद राजनीतिक व्यवहारों के बारे में सुनिश्चित स्पष्टीकरण एवं व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है। तुलनात्मक राजनीति में नये प्रतिमानों का प्रचलन करके नये दृष्टिकोण प्रतिपादित किये गये। वस्तुतः आधुनिक तुलनात्मक अध्ययनों ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में रूचि बढ़ाई है।

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.G.A. Almond and G. B. Powell, Comparative Politics : A Developmental Approach, (1972), p. 5.

2.डॉ. सी. बी. गेना, पूर्वोक्त, p103.

3.G.K. Roberts. 'Comparative Politics, Today Government and Opposition, Vol., VII No. 1. Winter, 1972, p. 38.

3.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.कम्पेरेटिव पॉलिटिक्सः ए डेवलेपमेन्टल एप्रोच, ऑमण्ड एवं पॉवेल

2.कम्यूनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलेपमेन्ट, लूसियन पाई

3.मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, एस0 पी0 वर्मा

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति के आधुनिक उपागम की विशेषताओं की विवेचना कीजिये |

इकाई 4 - संविधान और संविधानवाद

इकाई की रुपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 संविधान और सांविधानिक सरकार

4.4 संविधानवाद का उद्भव एवं विकास

4.5 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ

4.6 संविधानवाद की अवधारणाएँ

4.7 संविधानवाद की समस्याएँ

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

संविधानवाद एक व्यापक अवधारणा है, जिसे संविधान या सांविधानिक सरकार का पयार्यवाची समझना उचित नहीं है। प्रारंभ से ही मनुष्य सामाजिक या राजनीतिक संगठन में रहता आया है। अरस्तू के मतानुसार मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में सामाजिकता का तत्त्व बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों राजनीतिक संगठन की उपयोगिता भी बढ़ती जा रही है। एक ओर मनुष्यों में राजनीतिक संगठन के अंतर्गत रहने की प्रवृत्ति रही है तो दूसरी ओर वे स्वतंत्रता के लिए अधिक-से-अधिक चिंतित रहे हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राजनीतिक सत्ता के बीच संघर्ष का इतिहास समाज व राज्य की उत्पत्ति के साथ ही प्रारंभ हुआ। राजनीतिक संगठन में रहते हुए व्यक्ति इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है कि सरकार स्वेच्छाचारी या अधिनायकवादी न बन जाए। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब तानाशाही तथा स्वेच्छाचारी सरकारों ने नागरिकों की स्वतंत्रता का अपहरण करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। फलस्वरूप, यह प्रयास किया जाने लगा कि किसी ऐसे राजनीतिक संगठन की स्थापना की जाए, जिसके अंतर्गत शासकों की शक्ति नियंत्रित तथा मर्यादित रहे और वे उनका सदुपयोग करें, न कि दुरूपयोग। संविधानवाद का इतिहास तथा पृष्ठभूमि यहीं से प्रारंभ होती है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- संविधान और सांविधानिक सरकार की आवश्यकता को बता सकेंगें।
- संविधानवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन कर सकेंगे।
- संविधानवाद की अवधारणाएँ की व्याख्या कर सकेंगे।
- संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ के बारे में विवेचना कर सकेंगे।

4.3 संविधान और सांविधानिक सरकार

संविधानवाद किसे कहते हैं, यह प्रश्न तो सरल है, परंतु इसक उत्तर उतना सरल नहीं है। संविधानवाद की कोई निश्चित तथा स्पष्ट परिभाषा नहीं दी जा सकती। संविधानवाद को समझने के लिए संविधान को समझना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में एक संविधान होता है, भले ही वह राज्य लोकतांत्रिक हो या स्वेच्छाचारी। सामान्यतः, संविधान का अभिप्राय एक ऐसे आलेख से होता है, जो निश्चित समय में निर्मित व स्वीकृत हो। कई विद्वानों ने संविधान की इस परिभाषा पर आपत्ति व्यक्त की है। उन्होंने कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि संविधान लिखित ही हो। संविधान का अर्थ समझने के क्रम में सांविधानिक सरकार का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जहाँ संविधान हो, वहाँ सांविधानिक सरकार हो। अधिनायकवादी तथा स्वेच्छाचारी शासन-व्यवस्थाओं में भी संविधान होता है, परंतु उस सरकार को सांविधानिक सरकार नहीं कहा जा सकता। हिटलर तथा मुसोलिनी की सरकारों को संविधान रहने के बावजूद सांविधानिक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वहाँ शासन का आधार संविधान नहीं था, वरन् उन अधिनायकों एवं तानाशाहों की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ थीं। अतः राज्य में केवल संविधान के होने मात्र से सरकार सांविधानिक नहीं बन जाती। केवल वह सरकार ही सांविधानिक सरकार कही जाएगी, जो संविधान पर आधृत हो तथा संविधान द्वारा सीमित और नियंत्रित हो।

4.4 संविधानवाद का उद्भव एवं विकास

संविधानवाद की उत्पत्ति और विकास का एक क्रमिक इतिहास है। संविधानवाद को सही रूप से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसके विकास के इतिहास को जानना अत्यावश्यक है। संविधानवाद के विकास का इतिहास राजनीतिक संस्थाओं के विकास के इतिहास से जुड़ा हुआ है। संविधानवाद की उत्पक्ति की एक निश्चित तिथि की ओर इंगित करना कठिन है, फिर भी उस सामान्यकाल का संकेत प्राप्त हो सकता है जहाँ से संविधानवाद एक अवधारणा के रूप में प्रचलित हुआ।

संविधानवाद की उत्पत्ति के संबंध में प्राचीन यूनान के एथेंस नगर का नाम लिया जा सकता है। कहा जाता है कि ईसा के पूर्व 624 से लेकर 724 तक की अवधि में संविधानवाद का जन्म हुआ। इसी काल में संविधानों का प्रणयन हुआ। राज्य के स्वरूप, व्यवस्था तथा इसके कार्यचालन को नियमित करने के लिए नियमों एवं सिद्धांतो का निर्धारण हुआ। यूनानी राजनीतिक चिंतकों ने राज्य-व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने के क्रम में संविधानवाद की भी बीज बोया। यूनान की धरती पर उत्पन्न और अंकुरित संविधानवाद की टहनियाँ विश्व के दूसरे-दूसरे देशों में ले जाई गई। शनैः-शनैः संविधानवाद प्रस्फुटित होता गया और अन्य देशों में इसकी जड़ें जमती गई।

संविधानवाद के जन्म से लेकर आज तक के इतिहास को एक काल या एक चरण में नहीं रखा जा सकता। अनेक चरणों तथा अनेक कालों से गुजरता हुआ संविधानवाद का वर्तमान काल में पदार्पण हुआ। अध्ययन की सुविधा के लिए संविधानवाद के विकास के इतिहास को निम्नलिखित कालों या चरणों में बाँटा जा सकता है। यूनानी संविधानवाद के संबंध में सबसे पहली बात यह कही जा सकती है कि यूनानियों ने राजनीतिक पृथकतावाद के सिद्धांत को अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना था। उन्होंने नगर-राज्य की स्थापना की थी, जिसके अंतर्गत नागरिकता कुछ ही लोगो तक सीमित थी। दास, श्रमिक, औरतों तथा अन्य कई ऐसे वर्ग थे, जिन्हें नागरिकता से वंचित रखा गया था।

नगर-राज्य व्यवस्था के पतन तथा रोमन साम्राज्य की स्थापना के बीच की अवधि में राजनीतिक एवं सांविधानिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। राज्य के साथ-साथ व्यक्ति को भी प्रधानता मिली। नीति और राजनीति का पृथक्करण हो गया। रोमन संविधानवाद ने एक साथ दो सिद्धांत को मान्यता दीः-

(1) सम्राट् की इच्छा को कानूनी शक्ति प्राप्त है।

(2) सम्राट् की शक्तियों का स्त्रोत जनता है।

रोमन साम्राज्यवाद के पतन के बाद सामंतवाद का उदय हुआ। मध्यकाल सामंतवाद चर्च की प्रधानता के सिद्धांत के साथ जुड़ा हुआ माना जाता है। यूरोप में छोटे-छोटे अनेक सामंतवादी राज्यों की स्थापना हुई। राजनीतिक विचारकों के मतानुसार मध्यकाल 'राज्यविहीन' व्यवस्था का प्रतीक था। मध्यकाल के प्रथम चरण में चर्च की प्रभुता रही, परंतु उत्तरार्द्ध में सम्राटों ने चर्च की प्रधानता को चुनौती दी। इस अवधि में ब्रिटेन, फ्रांस तथा स्पेन की आंतरिक राजनीति में आधुनिक राज्य का बीजारोपण हो गया, जबकि जर्मनी और इटली पर वर्षों तक पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव बना रहा। फ्रांस में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के नारों ने निरंकुश राज्य पर प्रहार किया, जिसके परिणामस्वरूप संविधानवाद के नए आयामों का जन्म हुआ। पुनर्जागरण काल में मानवीय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ। कला, साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में नए आयाम जुड़े तथा नए मूल्यो का जन्म हुआ। इस काल में असीमित राजतंत्र की स्थापना हुई। कई विद्वानों के अनुसार पुनर्जागरण काल में असीमित राजतंत्र के कारण संविधानवाद का विकास अवरूद्ध हो गया था।

संविधानवाद के उद्भव और विकास के इतिहास का अवलोकन करने के बाद हमारे सम्मुख कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, संविधानवाद द्वारा सांविधानिक ढंग से शासन-संचालन की प्रक्रिया की अनुशंसा की गई। दूसरे शब्दों में, शासन-संचालन का आधार विधि का शासन हो। व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की इच्छाओं और आकांक्षाओं को शासन का आधार नहीं होना चाहिए। द्वितीय, संविधानवाद में तीन तत्त्व निहित हैं। राष्ट्रवाद, लोकतंत्र तथा स्वशासन। तृतीय, शासन की सत्ता जनता में ही निहित होनी चाहिए। चतुर्थ, संविधानवाद के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीयता विश्व के देशों के

बीच मैत्री और सद्भाव पर टिकी होती है। संविधानवाद वस्तुतः आज भी विकास की अवस्था में ही है। आज भी इस संबंध में नए-नए प्रयोग हो रहे हैं। तृतीय विश्व कहलानेवाले देशों में आज भी संविधानवाद का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया है। इसके सम्मुख अनेक चुनौतियाँ हैं, अनेक बाधाएँ हैं। एक ओर इसे पाश्चात्य लोकतंत्र से बल मिल रहा है तो दूसरी ओर इसे साम्यवाद से खतरा भी पैदा हो रहा है। यद्यपि साम्यवाद को संविधानवाद के मॉडेल के रूप में माना गया है, तथापि अनुभव इस बात साक्षी है कि साम्यवादी व्यवस्था संविधानवाद के विकास के अनुकूल नहीं हो पा रही है। इन देशों में साम्यवादी दल संविधानेतर स्तर पर भूमिका अदा कर संविधानवाद की आत्मा पर आघात कर रहा है।

4.5 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ

संविधानवाद की व्याख्या के क्रम में संविधानवाद की कुछ विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। यहाँ उन विशेषताओं का उल्लेख किया जाना आवश्यक है:-

(1.)संविधानवाद मूल्य-संबद्ध अवधारणा है- संविधानवाद उन मूल्यों, विश्वासों तथा राजनीतिक आदर्शों की ओर संकेत करता है, जो राष्ट्र और समाज को प्रिय हैं और जिनकी रक्षा, प्राप्ति तथा आवश्यक प्रगति के लिए समाज हर प्रकार का त्याग एवं कुर्बानी कर सकता है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से ये विचार एवं आदर्श अभिजनों द्वारा प्रदान किए जाते हैं, परंतु अंततोगत्वा ये विचार एवं आदर्श व्यवहार में विचारशील वर्ग द्वारा जनता तक पहुँचाए जाते हैं।

(2.)संविधानवाद संस्कृति-संबद्ध अवधारणा है- किसी भी देश के मूल्य, आदर्श एवं विचार वहाँ की संस्कृति से संबद्ध या जुड़े हुए होते हैं। वे वस्तुतः संस्कृति की उपज हैं। इस दृष्टिकोण से संविधानवाद भी संस्कृति से संबद्ध रहता है। यदि किसी राजनीतिक समाज में संस्कृति में विविधता या भिन्नता पाई जाती है तो यहाँ संविधानवाद विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय-सूचक माना जाता है।

(3.)संविधानवाद गत्यात्मक अवधारणा है- संविधानवाद की यह एक मुख्य विशेषता है कि यह एक गत्यात्मक अवधारणा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संविधानवाद में स्थिरता है ही नहीं। राजनीतिक विकास के लिए गत्यात्मकता एवं स्थायित्व दोनों आवश्यक हैं। संविधानवाद को स्थायित्वयुक्त गत्यात्मक अवधारणा कहना ज्यादा युक्तिसंगत होगा। संविधानवाद पुराने मूल्यों तथा आदर्शों का संकेत तो है ही, यह एक नए मूल्यों एवं विचारों के निर्माण प्राप्ति का भी साधन है। इसी दृष्टि से इसे गत्यात्मक अवधारणा कहा जाता है।

(4.)संविधानवाद सहभागी अवधारणा है- ऐसा देखा गया है कि एक राष्ट्र के मूल्यों, विश्वासों, राजनीतिक आदर्शों तथा संस्कृति के प्रति कई अन्य राष्ट्रों की निष्ठा या आस्था हो सकती है। कई देशों के मूल्य, संस्कृति तथा राजनीतिक आदर्श एकसमान हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अनेक

पाश्चात्य देशों के मूल्यों, विश्वासों तथा राजनीतिक आदर्शों में समानता पाई जाती है। विकासशील लोकतांत्रिक देशों में यद्यपि कई मुख्य असमानताएँ परिलक्षित होती हैं, तथापि स्थूल रूप से संविधानवाद एस-सा ही कहा जा सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधानवाद एक सहभागी अवधारणा है।

(5.)साध्यमूलक अवधारणा- संविधानवाद को एक साध्यमूलक अवधारणा के रूप में भी लिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संविधानवाद में साधनों की उपेक्षा की गई है। कोई भी साध्य साधन के बिना संभव नहीं है। इस संदर्भ में हम इतना कह सकते हैं कि संविधानवाद प्रधानतः एक साध्यमूलक अवधारणा है, जिसमें साधनों को स्थान गौण है।

(6.)संविधानजन्य अवधारणा- संविधानवाद संविधानजन्य अवधारणा है। सामान्यतः हर देश के संविधान में वहाँ की आस्थाओं का उल्लेख रहता है। मूल्यों एवं राजनीतिक आदर्शों से युक्त संविधान संविधानवाद की आधारशिला है, जिस पर संविधानवाद की नींव टिकी रहती है।

4.6 संविधानवाद की अवधारणाएँ

संविधानवाद को किसी एक विचारधारा के अंतर्गत बाँधना उचित नहीं है। कई पाश्चात्य राजनीतिक चिंतकों ने संविधानवाद की एक ही अवधारणा को मान्यता दी है। उनके अनुसार उदार लोकतंत्रीय अवधारणा की संविधान की अवधारणा है। यह मत युक्तिमूलक नहीं कहा जा सकता है। संविधानवाद राजनीतिक समाज के आदर्शों, लक्ष्यों, विश्वासों एवं मूल्यों को परिलक्षित करता है। प्रत्येक राजनीतिक समाज के लक्ष्य, आदर्श एवं विश्वास अलग-अलग होते हैं, इसलिए संविधानवाद की एक अवधारणा की मान्यता सही नहीं है। संविधानवाद के संबंध में अब तक जो अवधारणाएँ उपजी है, उन्हें निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है:-

(1) पाश्चात्य अवधारणा

(2) साम्यवादी देशों की अवधारणा और

(3) विकासशील देशों की अवधारणा।

पाश्चात्य अवधारणा

संविधान की पाश्चात्य अवधारणा इस बात का प्रतिपादक है कि संविधानवाद साध्य भी है और साधन भी। यह मूल्यविहीन तथा मूल्यजन्य दोनों है। कोई भी संविधान आदर्श एवं लक्ष्यों से परे नहीं होता है, इसलिए संविधानवाद को मूल्यविहीन कहना उचित नहीं है। पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार

संविधानवाद केवल सरकार के अंगों के संगठन एवं शक्तियों का ही उल्लेख नहीं करता, वरन् स्वतंत्रता, समानता, न्याय तथा अधिकारों को भी यथोचित महत्त्व देता है।

संविधानवाद का मुख्य लक्ष्य वैसे मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन करना है, जिसके अंतर्गत संविधान और सरकार के बीच के अंतर स्पष्ट रूप से परिलक्षित हों। संविधानवाद सरकार को अपने आदर्शों एवं लक्ष्यों के अनुरूप काम करने के लिए आवश्यक व्यवस्था करता है। यही कारण है कि शासन-संचालन को नियमित करने के लिए संविधान विभिन्न प्रकार के अवरोधों और प्रतिबंधों की व्यवस्था करता है। ये प्रतिबंध सरकार की असीमित एवं स्वेच्छाचारी शक्तियों पर नियंत्रण रखते हैं। सारतः संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा एक ऐसे सांविधानिक राज्य की स्थापना करना चाहती है, जो स्थापित एवं मान्य विधि के सिद्धांतों और अभिसमयों की सीमा के अंतर्गत काम करें। यदि संविधान या सरकार में परिवर्तन होना हो तो वह शांतिपूर्ण ढंग से हो। पाश्चात्य संविधानवाद को 'उदारवाद का दर्शन' कहा जाता है।

साम्यवादी अवधारणा

संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा मार्क्स तथा लेनिन की विचारधारा पर आधृत है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य एक शोषण-यंत्र है, जिसके द्वारा पूँजीपतिवर्ग सर्वहारावर्ग या श्रमिकों का शोषण करते हैं। इसी विचारधारा से प्रभावित सोवियत संविधानवाद के प्रवर्तकों का यह मत है कि संविधान एक साधन मात्र है, जिसका उद्देश्य समाजवादी विचारधारा को लागू करना है। संविधान सर्वहारावर्ग एवं साम्यवादी पार्टी का उपकरण है, जिसके द्वारा रूस या चीन में वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना की जा सके। सोवियत रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों में संविधान का उद्देश्य सरकार की शक्तियों को सीमित करना नहीं, वरन् उसमें विस्तार करना है।

साम्यवादी राज्यों में पार्टी का प्रभुत्व रहता है। इन देशो में एकदलीय पद्धति है। साम्यवादी पार्टी सर्वहारावर्ग का संरक्षक एवं प्रतिपालक मानी जाती है। इन देशों में पार्टी की प्रधानता सर्वोच्च है। संविधान गौण है। संविधान का उद्देश्य केवल पार्टी को साम्यवादी लक्ष्यों को पूरा करने में सहायता प्रदान करना है। साम्यवादी देशों में सोवियत व्यवस्था ही प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया गया है। चीन और सोवियत रूस के बीच विचारधाराओं की भिन्नता का संकेत है। कुछ पूर्वी यूरोप के राज्यों में भी सोवियत रूस तथा चीन से भिन्न राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गई है। इन भिन्नताओं के बावजूद सोवियत रूस ही साम्यवादी देशों का प्रतिमान है, मॉडेल है।

साम्यवादी विचारकों ने पाश्चात्य संविधानवाद की भर्त्सना की है। उनके मतानुसार पाश्चात्य देशों में सरकार और संविधान शोषण के यंत्र हैं। संसदीय शासन-प्रणाली लोकतंत्र के नाम पर छलावा है। उनका कहना है कि साम्यवादी व्यवस्था वास्तविक रूप में लोकतांत्रिक व्यवस्था है, क्योंकि यहाँ समस्त सर्वहारावर्ग शासन-प्रबंध में सहयोगी है। दूसरी ओर पाश्चात्य विचारकों का यह मत है कि

साम्यवादी देश संविधानवाद के अनुकूल नहीं है, क्योंकि यहाँ पार्टी का अधिनायकवाद है। यहाँ संपूर्ण शासन-व्यवस्था पर पार्टी का अधिनायकवाद है।

यह सत्य है कि पश्चिमी देशों की तरह साम्यवादी देश संविधानवाद के लिए अनुकूल वातावरण तैयार नहीं कर पाए हैं, परन्तु आज साम्यवादी देशों को संविधानवाद के इतिहास के पृष्ठों से निकाल फेंकना भी संभव नहीं। लोकतंत्र के झंडे को ऊँचा उठानेवाले पाश्चात्य देश भी यह दावा नहीं कर सकते कि वहाँ शासन-व्यवस्था में अधिक-से-अधिक लोग भाग लेते हैं। आम चुनावों को छोड़कर अधिकांश अवसरों पर कुछ ही लोग निर्णयकारी प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

विकासशील देशों में संविधानवाद की अवधारणा

विकासशील देशों में संविधानवाद के स्वरूप की कोई निश्चित पहचान नहीं बनी है। यहाँ संविधानवाद प्रयोगात्मक अवस्था में है। तृतीय विश्व के देशों की समस्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। साथ-ही-साथ उनमें परिपक्वता का भी अभाव है। कुछ देश पाश्चात्य संविधानवाद से प्रभावित दिख पड़ते हैं। कुछ देशों पर साम्यवादी व्यवस्था की छाप दिखाई पड़ती है। कुछ देशों में उथल-पुथल के कारण सैनिक शासन स्थापित हो गया है।

4.7 संविधानवाद की समस्याएँ

संविधानवाद आज इस विकसित और उन्नत अवस्था में पहुँच गया है कि इसके नष्ट होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसका भविष्य भी अंधकारमय नहीं। परंतु, यह भी मान लेना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि संविधानवाद का मार्ग कंटकमुक्त है। आज विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर इतने उतार-चढ़ाव हो रहे हैं कि यदा-कदा ऐसा लगता है कि संविधान का भविष्य खतरे में है। जिस ढंग से तृतीय विश्व के देशों मे सैनिक शासनों की स्थापना हो रही है, उससे कभी कभी संविधानवाद के स्वास्थ्य के संबंध में आशंकाओं का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं लगता। संविधानवाद के सम्मुख कई समस्याएँ हैं, कई चुनौतियाँ हैं। जब तक इन समस्याओं का सही ढंग से निराकरण नहीं हो पाता, तब तक संविधानवाद का भविष्य आशंकाओं और दुष्यंताओं के झूले में झूलता रहेगा।

अभ्यास प्रश्न

1.“सरकार के निरंकुश कार्यों को सीमित करना संविधान का कार्य है।“ यह विचार किस लेखक का है।

2.कौन-सा विचारक पाश्चात्यक राजनीतिक चिंतन में संविधानवाद् का जनक माना जाता है।

4.8 सारांश

यह सत्य है कि समाजवादी विचारधारा के अंतर्गत कुछ ऐसे तत्त्व हैं। जिनसे संविधानवाद के लिए समस्याएँ पैदा हो सकती है। परंतु, आधुनिक संदर्भ में समाजवाद को संविधानवाद का विरोधी नहीं माना जाता है। आज के युग की तीन मुख्य अवधारणाएँ हैं-राष्ट्रवाद, समाजवाद और लोकतंत्र। संविधानवाद की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि किस सीमा तक इसके अंतर्गत इन धारणाओं का समावेश किया जाता है और इनके बीच समन्वय स्थापित किया जाता है। इंगलैंड के संविधान में फेबियनवाद को स्थान दिया गया है। भारतीय संविधान ने भी लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए आधार तैयार किया है। अतः, आधुनिक संविधानवाद को भी नई आर्थिक व्यवस्थाओं को स्थान एवं महत्त्व देना होगा।

समाजवाद-संविधानवाद समीकरण का अतीत भले ही निराशाजनक रहा हो, दोनों में कितनी ही भिन्नता रही हो, आज समाजवाद के सिद्धांतों को लोकतंत्र तथा संविधानवाद के सिद्धांतों से मिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आज यह नहीं कहा जा सकता कि सोवियत रूस में संविधानवाद असफल हो गया है या नष्ट हो गया है। सोवियत रूस में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना हुए साठ वर्ष हो गए, परंतु वहाँ के लोगों में इस व्यवस्था के प्रति न तो असंतोष है और न ही गंभीर विरोध। पाश्चात्य लोकतंत्र के साथ संविधानवाद को मिला देना उचित नहीं है। लोकतंत्र के अनेक प्रतिमान हो सकते हैं। यह सत्य है कि लोकतंत्र संविधानवाद के विकास के लिए ज्यादा अनुकूल है, परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि समाजवाद लोकतंत्र का शत्रु है। आज साम्यवादी देशों में संविधानवाद अपने ढंग से बढ़ रहा है। अतः, आज के संदर्भ में समाजवाद को संविधानवाद का विरोधी कहना उचित नहीं है।

4.9 शब्दावली

1.संविधानवाद-संविधानवाद उन मान्यताओं, आस्थाओं तथा मानव मूल्यों का नाम है, जिनका संविधान में वर्णन तथा समर्थन होता है और जिनकी उपलब्धि तथा सुरक्षा हेतु राजनीतिक शक्ति पर प्रभावशाली नियंत्रणों एवं प्रतिबंधों की व्यवस्था होती है।

2.संविधान- वह विधान, कानून या सिद्धांत जिसके अनुसार किसी राज्य, राष्ट्र या संस्था का संघटन, संचालन तथा व्यवस्था होती है।

3.कानून का शासन- इसका अर्थ है कि कानून सर्वोपरि है तथा वह सभी लोगों पर समान रूप से लागू होती है।

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11

2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13

3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

4.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory

2. Robert Dahl: A preface to democratic theory

3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics

4. K.C. Wheare: Modern Constitution

4.12अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्ट्रांग,2. अरस्तू

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संविधानवाद से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

2. संविधानवाद के मुख्य आधारों का उल्लेख कीजिए तथा संविधान एव संविधानवाद के बीच अन्तर बताइए।

3. संविधानवाद के उद्भव एवं विकास का अनुरेखण करें।

4. संविधानवाद की मुख्य अवधारणाओं का उल्लेख करें।

इकाई 5-व्यवस्थापिका- एक सदनीय, द्विसदनीय, व्यवस्थापिका का पतन

इकाई की रुपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 व्यवस्थापिका: संगठन एवं कार्य

5.4 एकसदनात्मक व्यवस्थापिका

5.5 द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका: गुण एवं दोष

5.6 व्यवस्थापिका के कार्य

5.7 राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिकापतन के कारण

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.13निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 उद्देश्य

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक व्यवस्थापिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए कानूनों का निर्माण करना होता है जिसके आधार पर शासन व्यवस्था का संचालन किया जाता है।

5.2 प्रस्तावना

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में व्यवस्थापिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- व्यवस्थापिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- व्यवस्थापिका के पतन के क्या कारण हैं उसका भी तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त किया जा सकता है।

5.3 व्यवस्थापिका: संगठन एवं कार्य

सरकार के तीन अंग हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका तीनों अंगों में सर्वोच्च है। व्यवस्थापिका का कार्य है-विधिनिर्माण करना। तुलनात्मक राजनीति की आधुनिक शब्दावली के अंतर्गत व्यवस्थापिका के स्थान पर नियम-निर्माण विभाग का प्रयोग किया जाता है।

व्यवस्थापिका के संगठन के कई आधार है। अलग-अलग देश मेंव्यवस्थापिका के संगठन के लिए अलग-अलग आधार अपनाया जाता है। कुछ देशों में व्यवस्थापिका का संगठन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है तथा कुछ देशों में व्यवस्थापिका का संगठन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। आमतौर से द्वितीय सदन के संगठन का आधार अप्रत्यक्ष होता है।

आधुनिक युग में व्यवस्थापिका के निर्वाचन का आधार राजनीतिक दल है। राजनीतिक दलों के आधार पर ही व्यवस्थापिका का संगठन होता है। व्यवस्थापिका के संगठन में उम्र, लिंग, स्थान आदि तत्त्वों को भी ध्यान में रखा जाता है। आमतौर से विश्व के अधिकांश देशो में प्रथम सदन के संगठन में वयस्क मताधिकार को ही आधार माना जाता है। कुछ विशेष प्रकार के हितों तथा अल्पसंख्यकों को मान्यता देने के लिए कुछ विशेष प्रकार की व्यवस्थाएँ अपनाई जाती है, जैसे आरक्षण, मनोनयन आदि।

व्यवस्थापिका के संगठन का विश्लेषण करने के क्रम में एकसदनात्मक एवं द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का उल्लेख करना आवश्यक है।

5.4 एकसदनात्मक व्यवस्थापिका

जिस व्यवस्थापिका में एक सदन हो उसे एकसदनात्मक व्यवस्थापिका कहा जाता है। अनेक विद्वानों का मत है कि एकसदनात्मक व्यवस्थापिका ही लोकतंत्र के लिए उपयुक्त है। फ्रांस के विद्वान विधिवेत्ता ऐबे सिएज के कथनानुसार द्वितीय सदन एक अनावश्यक सदन है। उसने द्वितीय सदन की अनुपयोगिता की चर्चा करते हुए कहा है, "द्वितीय सदन यदि प्रथम सदन से सहमति व्यक्त करता है तो यह अनावश्यक है और यदि असहमति व्यक्त करता है तो शैतानी करता है" सिएज ने यह भी कहा है कि कानून लोगों की इच्छा का फल है। लोग एक ही समय में एक ही विषय पर दो भिन्न इच्छाएँ नहीं कर सकते।

फ्रांस और इंगलैंड में क्रमशः 1891 तथा 1651 ई0 में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका अपनाने का प्रयोग किया गया था, परंतु कई कारणों से वह प्रयोग सफल नहीं हो सका।

एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की उपयोगिता के संबंध में यह कहा जाता है कि यह लोकतंत्र के अनुकूल है तथा इसके अंतर्गत दो सदनों के बीच पारस्परिक संघर्ष या तनाव का वातावरण नहीं रहता। आज अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि कई दृष्टियों से द्विसदनात्मक व्यवस्था ज्यादा उपयुक्त और उपयोगी है। आज यद्यपि चीन, यूनान, इस्टोनिया, युगोस्लाविया तथा कुछ अन्य देशों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका बनी हुई है, तथापि अधिकांश देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को ही स्थान दिया गया है।

5.5 द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका: गुण एवं दोष

दो सदनों वाली व्यवस्थापिका को द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका कहा जाता है। आज विश्व के अधिंकाश देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया है। कई विद्वान यह मानते हैं कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका इंगलैंड की देन है। विलोबी ने कहा है, "यदि ब्रिटिश संसद द्विसदनात्मक न होती तो शायद विश्व के अन्य विधानमंडल भी द्विसदनात्मक नहीं होते।" पोलॉस्की नामक विद्वान ने कहा है, "यह केवल ऐतिहासिक संयोग की बात है कि इंगलैंड की व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक थी और अन्य देशों ने उसी का अनुसरण किया।"

जिन देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था है, वहाँ एक सदन को प्रथम सदन तथा दूसरे को द्वितीय सदन कहा जाता है। प्राचीन काल में द्वितीय सदन को उच्च सदन कहा जाता था। प्रथम सदन लोकप्रिय सदन होता है तथा द्वितीय सदन विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है। इंगलैंड की लार्ड्स सभा वहाँ के उच्च घराने के लॉर्डो एवं पियरों का प्रतिनिधित्व करती है। संघात्मक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत द्वितीय सदन राज्यों या संघ की ईकाईयों का प्रतिनिधित्व करता है।

उच्च सदन या द्वितीय सदन की रचना में भी भिन्नता पाई जाती है। इंगलैंड में लॉर्ड्स सभा के संगठन का आधार वंशपरंपरानुगत सिद्धांत है, अमेरिका, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, पॉलैंड द्वितीय सदन प्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है। भारत में द्वितीय सदन अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है तथा इसके कुछ सदस्य मनोनीत भी होते है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण

प्रत्येक व्यवस्था की तरह द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में भी गुण-दोष पाए जाते हैं। हम सर्वप्रथम इसके गुणों का वर्णन करेंगे।

1.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक के रूप में काम करता है। यदि एक ही सदन हो तो वह मनमाने ढंग से जन विरोधी कानून भी पारित कर दे

सकता है। लिकॉक के कथनानुसार, "एकसदनात्मक व्यवस्थापिका निरंकुश तथा अनुत्तरदायी होती है तथा भावनाओं के प्रवाह में बह जाती है।" जे0 एस0 मिल ने भी कहा है, "द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान होना चाहिए जिससे कोई भी सदन असीमित शक्तियों के दूषित प्रभाव का शिकार न हो।"

2.आमतौर से प्रथम सदन जल्दबाजी में विधिनिर्माण के क्रम में अनेक प्रकार की भूलें या गलतियाँ कर देता है, जिनका सुधार द्वितीय सदन के द्वारा किया जाता है। लेकी ने कहा है, "द्वितीय सदन कानून पर सुधारात्मक, रोकात्मक तथा क्रमबद्धात्मक प्रभाव डालता है।"

3.लोकप्रिय सदन में, प्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्य होने के कारण, अधिकांश सदस्यों को कानूनी भाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं रहता जिसके कारण प्रथम सदन द्वारा पारित विधेयकों में भाषा की अनेक अशुद्धियाँ रह जाती हैं, जिसे द्वितीय सदन में दूर करने का प्रयास किया जाता है।

4.एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में विशेष हितों का प्रतिनिधित्व संभव नहीं है, क्योंकि इसके अंतर्गत सदन का संगठन प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन में विशेष हितों का प्रतिनिधित्व आसानी से हो सकता है।

5.कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिनकी सेवा या योगदान की व्यवस्थापिका को आवश्यकता होती है, परंतु वे लोग चुनाव लड़कर लोकप्रिय सदन में नहीं आ सकते। भारत में जिस ढंग से तथा जिस आधार पर चुनाव संपन्न होता है, अधिकांश अच्छे लोग बलवती इच्छा एवं योग्यता रहने के बावजूद चुनाव नहीं लड़ सकते हैं। उस स्थिति में द्वितीय सदनों के माध्यम से ही विशेषज्ञ एवं प्रबुद्ध लोग व्यवस्थापिका में स्थान पाते हैं।

6.एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में एक सदन रहने के कारण विधि निर्माण तथा विधियों के संशोधन के संबंध में संपूर्ण भार एक ही सदन पर पड़ जाता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत विधिनिर्माण-संबंधी कार्य दोनों सदनों में बँट जाने के कारण एक सदन पर कार्यभार अधिक नहीं रहता।

7.दो सदन रहने के कारण किसी भी विधेयक या विषय पर वाद-विवाद या विचार-विमर्श का व्यापक अवसर मिलता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत किसी विषय या विधेयक पर वाद-विवाद या विचार-विमर्श का अवसर केवल एक ही सदन में रहता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत वाद-विवाद या विचार-विमर्श दोनों सदनों में होने के कारण किसी भी विधेयक पर वाद-विवाद का व्यापक अवसर प्रदान किया जाता है।

8.संघात्मक शासन में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की विशेष उपयोगिता होती है। संघीय शासन के अंतर्गत द्वितीय सदन इकाईयों का प्रतिनिधित्व करता है। प्रथम सदन संपूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है।

9.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका लोकतंत्र के सिद्धांतोेंं के उपयुक्त है, क्योंकि इसके अंतर्गत शक्तियों या अधिकारों का एक जगह जमाव नहीं हो सकता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के अतंर्गत अधिकारों एवं शक्तियों का एक स्थल पर केंद्रित या जमाव होने के कारण लोकतंत्र के सिद्धांतों पर आघात पहुँचने की पूरी संभावना रहती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था से श्रेष्ठ है। ब्लंश्ली ने कहा है, " इसमें संदेह नहीं कि एक आँख से दो आँखें अच्छी होती हैं।" गेटेल के कथनानुसार, "दो भवनों के रहने से विचार-विमर्श में सतर्कता एवं सुन्दर संतुलन तथा अधिक सावधानी से विश्लेषित एवं संगृहीत व्यवस्थापन की प्राप्ति होती है।" विश्व के अधिकांश देशों में द्वितीय सदन का अस्तित्व इसकी उपयोगिता का प्रतीक है।

दोष-

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के कुछ दोष हैं, जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है-

1.प्रथम सदन लोकप्रिय सदन कहलाता है। इसका संगठन जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। द्वितीय सदन का संगठन या तो प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है या मनोनयन के आधार पर। द्वितीय सदन द्वारा प्रथम सदन पर किसी भी प्रकार अंकुश लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत पर अंकुश कहा जा सकता है।

2.अनेक आलोचकों का यह मत है कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन के रहने से अनावश्यक व्यय होता है। कई विद्वानों का मत है कि द्वितीय सदन की कोई विशेष उपयोगिता नहीं होती है, इसलिए उस पर होने वाला व्यय अनावश्यक व्यय है।

3.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पद्धति के अंतर्गत द्वितीय सदन को अमीरों तथा कुछ विशेष वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन कहा जाता है। इंगलैंड की लॉर्डस सभा को 'धनवानों का गढ़' कहा जाता है।

4.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पद्धति के अंतर्गत दोनों सदनों के बीच मतभेद या तनाव की स्थिति बनी रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश के संविधान के अंतर्गत दोनों सदनों के बीच गत्यावरोध की स्थिति को दूर करने के लिए आवश्यक प्रावधान किए गए हैं।

5.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के अंतर्गत किसी भी विधेयक को पारित होने में काफी समय लगता है, क्योंकि विधेयक की दो-दो सदनों से एक ही प्रकार की प्रक्रिया अपनाकर पारित किया जाता है। इस प्रकार द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली में समय और अर्थ का दुरूपयोग होता है।

6.आमतौर से द्वितीय सदन की बनावट का आधार अप्रत्यक्ष निर्वाचन या मनोनयन रहता है। यह व्यवस्था लोकतंत्र के सिद्धांत के प्रतिकूल है।

7.कई विचारक यह मानते हैं कि कानून के निर्माण के लिए दो सदनों का होना अत्यावश्यक है। द्वितीय सदन प्रथम सदन की गलतियों एवं त्रुटियों को दूर करता है। यह विचार आधुनिक युग में विशेष महत्व नहीं रखता। प्रो0 लॉस्की ने कहा है कि आज किसी विधेयक को कानून का रूप देने के लिए प्रथम सदन में लंबे अरसे तक विचार-विमर्श होता है, इसलिए आज के संदर्भ में कानून-निर्माण में द्वितीय सदन की विशेष उपयोगिता नहीं रह गई है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के गुण-दोषों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अनेक त्रुटियों के बावजूद आज अधिकांश देशों मे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को मान्यता दी गई है। इसका गुणात्मक पक्ष इसकी कमजोरी या निषेधात्मक पक्ष से कहीं अधिक सशक्त है।

5.6 व्यवस्थापिका के कार्य

व्यवस्थापिका का गठन मूलतः विधिनिर्माण के लिए होता है, परंतु विधिनिर्माण के अतिरिक्त व्यवस्थापिका के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियाँ भी व्यापक हैं। आधुनिक युग में राज्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र है, जहाँ व्यवस्थापिक का प्रभाव या संबंध नहीं हो। व्यवस्थापिका की शक्तियों एवं कृत्यों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जाता है-

1. विधिनिर्माण - व्यवस्थापिका का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विधिनिर्माण है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विधायिका का संगठन विधिनिर्माण के लिए होता है। जनता की इच्छा को कानून के रूप में अभिव्यक्ति देने के लिए व्यवस्थापिका के अंतर्गत जनता के प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। कुछ बातों को छोड़कर कानून बनाने की प्रक्रिया सर्वत्र एक प्रकार की रहती है। अध्यक्षात्मक एवं संसदीय प्रणलियों में विधिनिर्माण की प्रक्रिया में भिन्नता पाई जाती है।

संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिपरिषद के किसी सदस्य के द्वारा ही सार्वजनिक विधेयक प्रस्तावित किए जाते हैं। विरोधी दल या निर्दलीय सदस्य द्वारा प्रस्तावित विधेयकों को गैरसरकारी विधेयक कहा जाता है। आम तौर से सरकारी सदस्यों द्वारा प्रस्तावित विधेयक ही कानून का रूप धारण करते हैं।

साधारण विधेयक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग पारित होने के बाद विधेयक को राज्याध्यक्ष के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। आमतौर से राज्याध्यक्ष उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है, परंतु कुछ स्थितियों में वह उसे पुनर्विचार के लिए व्यवस्थापिका के पास लौटा देता है। प्रत्येक सदन में विधि निर्माण के संबंध में तीन पठन होते हैं।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के अंतर्गत किसी भी विधेयक के संबंध में दोनों सदनों के बीच गत्यवरोध की स्थिति को दूर करने के लिए अलग-अलग प्रावधान किए गए हैं। भारत में लोकसभा और राज्यसभा के बीच गत्यवरोध को दूर करने के लिए संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था की गई है। इंगलैंड में लार्ड्स सभा किसी विधेयक को एक वर्ष तक अपने पास रोक सकती है। एक वर्ष के बाद वह उसी रूप में पारित हो जाता है, जिस रूप में कॉमन्स सभा ने उसे पारित किया है। अमेरिका में साधारण विधेयकों के संबंध में प्रतिनिधि सभा और सिनेट के समान अधिकार हैं। दोनों सदनों द्वारा पारित होने के बाद ही कोई विधेयक कानून का रूप धारण कर सकता है।

इस संबंध में विशेष रूप से एक बात उल्लेखनीय है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधिनिर्माण में प्रमुख जिम्मेदारी कार्यपालिका की रहती है। सभी सार्वजनिक विधेयक मंत्रिपरिषद के सदस्य द्वारा प्रस्तावित किए जाते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधिनिर्माण में राष्ट्रपति या उसके मंत्रिमंडल के सदस्यों का हाथ नहीं रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल के सदस्य व्यवस्थापिका के किसी भी सदन के सदस्य नहीं होते।

2.कार्यपालिका पर नियंत्रण-व्यवस्थापिका का दूसरा प्रमुख कार्य कार्यपालिका पर नियंत्रण है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत व्यवस्थापिका निम्नलिखित ढंग से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है-

(क)मंत्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(ख)व्यवस्थापिका सरकार की आलोचना कर सकती है, सरकारी नीति पर वाद-विवाद कर सकती है तथा सरकार के विरूद्ध निंदा का प्रस्ताव पारित कर सकती है।

(ग)व्यवस्थापिका के सदस्य मंत्रियों से उनके विभागों के बारे में आवश्यक प्रश्न पूछ सकते हैं।

(घ)व्यवस्थापिका के अंतर्गत राज्याध्यक्ष के अभिभाषण पर वाद-विवाद कर भी वह कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(ङ)बजट में कटौती का प्रस्ताव पारित कर भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(च)स्थगन प्रस्ताव के जरिए भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(छ)सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण ढंग कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का है, अविश्वास का प्रस्ताव। व्यवस्थापिका के प्रथम सदन को मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने का अधिकार है। प्रथम सदन द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित किए जाने पर मंत्रिपरिषद अपदस्थ हो जाती है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण नहीं रखती है, फिर भी अध्यक्षातम्क शासन-प्रणाली के अतंर्गत नियंत्रण का स्वरूप कहीं अधिक प्रभावशाली है। अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों एवं संधि के प्रस्तावों पर सिनेट का अनुसमर्थन आवश्यक है। इस प्रकार, अमेरिका की सिनेट राष्ट्रपति के प्रतिद्वंद्वी के रूप में काम करती है।

अन्य शासन-प्रणालियों के अंतर्गत भी कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण रहता है।

3. वित्तीय कार्य-कार्यपालिका वित्तीय लेन-देन एवं संचालनों के लिए उत्तरदायी है, परंतु अंतिम रूप से व्यवस्थापिका कार्यपालिका के वित्तीय संचालनों पर नियंत्रण रखती है। हर देश में प्रतिवर्ष कार्यपालिका बजट के रूप में अपने आय-व्यय का विवरण व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करती है। व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत होने के बाद ही कार्यपालिका टैक्स लगा सकती है तथा विभिन्न मदों पर व्यय कर सकती है। व्यवस्थापिका को बजट में कटौती करने का अधिकार प्राप्त है। अनुदान की माँगे, विनियोग विधेयक आदि पर व्यवस्थापिका की स्वीकृती आवश्यक है। संसदीय शासन-प्रणाली तथा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली दोनों के अंतर्गत व्यवस्थापिका का वित्तीय स्थिति पर नियंत्रण रहता है। इंगलैंड की सरकारी वित्तीय स्थिति के संबंध में यह कहा जाता है कि सरकार धन की माँग करती है, कॉमन्स सभा स्वीकार करती है तथा लार्ड्स सभा उसका अनुसमर्थन करती है। यही स्थिति प्रायः सभी देशों में है।

4. विमर्शात्मक कार्य-व्यवस्थापिका एक विमर्शात्मक निकाय के रूप में भी काम करती है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत प्रस्तुत किए गए सभी सरकारी प्रस्तावों पर विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद किया जाता है। व्यवस्थापिका सरकारी नीतियों पर भी वाद-विवाद करती है।

5. न्यायिक कार्य-कई स्थितियों में व्यवस्थापिका को न्यायिक कार्य भी करने पड़ते हैं। अमेरिका में प्रतिनिधि सभा द्वारा राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाए गए महाभियोग के प्रस्ताव के संबंध में द्वितीय सदन सिनेट न्यायालय की तरह सुनवाई करती है। ब्रिटेन में लार्ड्स सभा देश के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में भी काम करती है, परंतु इस स्थिति में केवल कानूनी लॉर्ड ही भाग लेते हैं। स्विट्जरलैंड में राष्ट्रीय सभा संविधान की व्याख्या का कार्य करती है, इसलिए इसे न्यायिक कार्य की संज्ञा दी गई है।

6. विविध कार्य-उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त व्यवस्थापिका को और भी कई प्रकार के कार्यों का संपादन करना पड़ता है। संविधान में संशोधन, जनता की शिकायतों की सुनवाई तथा निवारण, राज्याध्यक्षों का चुनाव आदि भी व्यवस्थापिका के मुख्य कार्य है। स्विट्जरलैंड की राष्ट्रीय सभा मंत्रिपरिषद के सदस्यों, न्यायाधीशों तथा प्रधान सेनापति की नियुक्ति करती है। व्यवस्थापिका को नियुक्ति के साथ-साथ पदच्युति का भी अधिकार है। भारत में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को हटाने का प्रस्ताव व्यवस्थापिका द्वारा ही पारित होता है। अमेरिका में कांग्रेस ही राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग पारित कर सकती है। ब्रिटेन में कॉमेन्स सभा मंत्रिपरिषद को अविश्वास के प्रस्ताव पर अपदस्थ कर सकती है।

5.7 राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिकापतन के कारण

राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिका के संबंध में कई बातें आती हैं। यों तो प्रायः सभी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका रहती है, परंतु भूमिका के स्तर, भूमिका की गहराई आदि में भिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के लिए, संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका की भूमिका सशक्त एवं प्रभावशाली रहती है। इंगलैंड की संसद के बारे में कहा जाता है कि वह संप्रभु है। अतः, व्यवस्थापिकाओं की भूमिका को राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था के चार प्रतिमान हैं।-

(1) सांविधानिक या लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(2) स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(3) सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(4) विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएँ।

हम अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका की भूमिका का मूल्यांकन करेंगे।

लोकतांत्रिक देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

सांविधानिक या लोकतांत्रिक राज्यों में व्यवस्थापिकाएँ प्रमुखतया राजनीतिक व्यवस्था के निवेशों ए निर्गतों तथा प्रतिसंभरणों के बीच संप्रेषक का कार्य करती है। दलीय अनुशासन के कारण नियम-निर्माण में इनकी भूमिका इतनी कम हो गई है कि इस क्षेत्र में व्यवस्थापिका मात्र औपचारिकता का निर्वाह करती है। यह स्पष्ट है कि आज व्यवस्थापिकाएँ सरकारी एवं सामान्य कार्यों की अपेक्षा राजनीतिक तथा व्यवस्था-संबंधी कार्यों को अधिक करने लगी है। अपनी विशिष्ट संरचना तथा प्रतिनिध्यात्मक प्रकृति के कारण व्यवस्थापिका राजनीतिक प्रक्रियाओं में केंद्रीय भूमिका निभाने की

अवस्था में है। संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में ये ही ऐसी संस्थाएँ हैं, जो जनप्रतिनिधि निकाय की हैसियत से संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को संचालित करने का अधिकार रखती हैं।

इस संबंध में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका की भूमिका के अनेक नियामक है, जिनमें सबका उल्लेख करना सहज तथा संभव नहीं। राजनीतिक दल, दबावसमूह, विधायकों के आचरण, निर्वाचन-क्षेत्र तथा अन्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक तत्त्व व्यवस्थापिका की भूमिका पर प्रभाव डालते हैं। हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र में व्यवस्थापिका की भूमिका बहुत ही पेचीदे तथा एक-दूसरे से उलझे हुए परिवर्त्यों द्वारा नियमित होती हैं।

व्यवस्थापिका की भूमिका कार्यपालिका के प्रभाव एवं प्रभुत्व पर भी निर्भर करती है। संसदीय और अध्यक्षात्मक शासन-प्रणालियों में व्यवस्थापिका का प्रभाव भिन्न होता है। संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का घनिष्ठ संबंध रहने के कारण व्यवस्थापिका का प्रभाव कम रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में शक्तियों के पृथक्करण के कारण अपने क्षेत्र में व्यवस्थापिका का पूर्ण प्रभाव रहता है।

यह स्पष्ट है कि व्यवस्थापिकाओं की भूमिका में शासनतंत्र की प्रवृत्ति एवं प्रकार का प्रभाव पड़ता है, परतु सभी देशों में व्यवस्थापिका की किसी-न-किसी प्रकार की भूमिका रहती है। यही कारण है कि सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के अंतर्गत व्यवस्थापिका का अस्तित्व रहता है। सांविधानिक व्यवस्था या लोकतंत्र के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका निम्नलिखित प्रकार की है-

(क) वैधीकरण की भूमिका -व्यवस्थापिका सत्ताधारकों को वैधता प्रदान करने की भूमिका अदा करती है। शासन को वैध करार करने की एकमात्र एजेंसी होने के कारण इसका विशेष महत्त्व है। व्यवस्थापिका की वैधीकरण की भूमिका के कारण ही हर शासन-व्यवस्था के शासक व्यवस्थापिका का गठन करना चाहते हैं न केवल लोकतंत्र में, वरन् अधिनायक एवं सैनिक शासन भी व्यवस्थापिका के लिए निर्वाचन की घोषणा करते हैं।

(ख)अभिज्ञान की अनुभूति कराने की भूमिका -व्यवस्थापिका अभिज्ञान की अनुभूति कराने की भूमिका करती है। सामान्यतः,सामान्य जनों की कोई विशिष्ट पहचान नहीं होती है। चुनाव के समय व्यवस्थापिका में निर्वाचित होने के लिए उम्मीदवार मतदाताओं से जा-जाकर संपर्क स्थापित करते हैं तथा मत माँगते हैं। इससे मतदाताओं को एहसास होता है कि वे व्यवस्थापिका के निर्माता हैं या उसके गठन में भाग लेते हैं। व्यवस्थापिका के माध्यम से समाज के आम आदमी को देश की सर्वोच्च नियम-निर्मात्री संस्था व्यवस्थापिका के साथ तादात्म्य या अभिज्ञान की अनुभूति होती है।

(ग)कांडो का पर्दाफाश करने वाली ऐजेंसी की भूमिका-देश में अनेक प्रकार की अनियमितताएँ तथा अनेक प्रकार के कांड होते रहते हैं। व्यवस्थापिका एक उचित फोरम है, जहाँ विभिन्न प्रकार के कांडों एवं घटनाओं का पर्दाफाश होता रहता है। इस प्रकार के कार्यों में व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका रहती है। अमेरिका का 'वाटरगेट कांड', इंगलैंड का 'परफ्यूमो कांड', भारत के मूँधड़ा कांड, जीप कांड आदि के पर्दाफाश में व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका रही है।

अनेक विद्वान मानते हैं कि सांविधानिक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका का ह्रास हो रहा है। वे औपचारिक निकाय के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि आजकल कार्यपालिका की विस्तृत शक्तियों की पृष्ठभूमि में व्यवस्थापिका की भूमिका कमजोर होती जा रही है, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि व्यवस्थापिका बिल्कुल निष्क्रिय या अनुपयोगी हो गई है। आज व्यवस्थापिका को कई सीमाओं के अंतर्गत कार्य करना पड़ता है। उन पर अनेक दबाव होते हैं तथा उनके कार्यों एवं शक्तियों के अनेक नियामक होते हैं। इन सीमाओं तथा नियामकों के बावजूद व्यवस्थापिका की अपनी उपयोगिता है, अपनी भूमिका है। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत व्यवस्थापिका का गठन किया जाता है।

अधिनायकवादी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

आम तौर से यह देखा गया है कि अधिनायकवाद के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका अधिनायकों के हितों की रक्षा करने में निहित रहती है। अधिनायकवाद में व्यवस्थापिका का गठन तो अवश्य किया जाता है, परंतु वह अधिनायकों के हाथ की कठपुतली रहती है। अधिकांश तानाशाह व्यवस्थापिका का गठन कर अपनी सत्ता पर वैधता की मुहर लगाने का प्रयास करते हैं।

विभिन्न अधिनायकवादी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका का विश्लेषण करने के बाद यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका की भूमिका व्यवहार में अधिनायको की इच्छा पर निर्भर करती है। पाकिस्तान के अनेक सैनिक शासकों ने व्यवस्थापिका की वैधानिकता की ओट में अपनी शक्ति और सत्ता में वृद्धि की। आमतौर से यह देखा गया है कि प्रत्येक अधिनायक या सैनिक शासक ने तत्कालीन व्यवस्थापिका के दोषों को दूर करने के नाम पर सत्ता पर कब्जा किया तथा नए सिरे से व्यवस्थापिका के गठन की घोषणा की। तानाशाही देशों में व्यवस्थापिका का गठन तथा उसकी भूमिका मात्र औपचारिक होती है।

यह सत्य है कि तानाशाही शासनों में व्यवस्थापिकाएँ मात्र औपचारिकतावश गठित होती है तथा उनकी भूमिका भी अत्यधिक सीमित होती है। परंतु, ये व्यवस्थापिकाएँ भी लंबे दौरान में लोकतंत्र की माँग करती हुई पाई गई हैं। कभी-कभी ये व्यवस्थापिकाएँ अधिनायकों का विरोध करने वाले फोरम के रूप में परिवर्तित हो गई हैं। ये व्यवस्थापिकाएँ प्रत्यक्ष रूप से तानाशाही के विरूद्ध तो

आवाज नहीं उठा पातीं, परंतु वहाँ से ऐसी प्रवृत्तियों का जन्म होता है, जो लोकतंत्र की वापसी के लिए आंदोलन का रूप धारण कर लेती हैं। पाकिस्तान में लोकतंत्र की वापसी के आंदोलन में व्यवस्थापिका के अनेक सदस्यों की भी सक्रिय भूमिका रही है। बर्मा में भी व्यवस्थापिका ने इस प्रकार की भूमिका निभाई है।

अनेक अधिनायक अपना प्रभुत्व बनाए रखने हुए व्यवस्थापिका को सम्मान देते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका के लिए किए गए चुनावों में उन्हें स्पष्ट बहुमत मिलता है। मार्शल टीटो, नेरेरे, फिडेल कैस्ट्रो, केनेथ कौण्डा, सादात आदि ऐसे शासक हुए हैं जिन्होंने अधिनायकवाद की सारी सुविधाओं को भोगते हुए अपनी सत्ता के वैधीकरण के लिए व्यवस्थापिका के प्रति सम्मान का भाव रखा।

निष्कर्षतः हम कह सकते है। कि अधिनायकवाद में व्यवस्थापिका का लोप नहीं होता, परंतु उसकी भूमिका अत्यधिक सीमित एवं औपचारिक हो जाती है। वस्तुतः, अधिनायकवाद के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका मुख्यतया तानाशाह के व्यवस्थापिका के प्रति रवैये पर निर्भर करती है।

सर्वाधिकारी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

सर्वाधिकारी राज्यों में व्यवस्थापिका की भूमिका न तो उदारवादी लोकतांत्रिक देशों की तरह है और न ही तानाशाही राज्यों की तरह। भूतपूर्व सोवियत संघ, चीन तथा अन्य साम्यवादी राज्य सर्वाधिकारी राज्य की श्रेणी में आते हैं। इन राज्यों में व्यवस्थापिका के गठन का आधार वहीं होता है जो लोकतांत्रिक राज्यों में होता है, यद्यपि एकदलीय प्रभुता के कारण व्यवस्थापिका में चुनाव का तत्त्व मात्र औपचारिक तत्त्व बनकर रह जाता है।

भूतपूर्व सोवियत संघ के संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया था, "राज्य-शक्ति का सर्वोच्च अंग सर्वोच्च सोवियत होगी।" साम्यवादी देशों की व्यवस्थापिकओं के गठन में सैद्धांतिक स्तर पर वहाँ की जनता चुनाव में सहभागी होती है, मतदान करती है। एक दल के होने के कारण दूसरे दल का कोई उम्मीदवार नहीं होता, इसलिए चुनाव मात्र औपचारिक या दिखावा बनकर रह जाता है। सोवियत संघ में साम्यवादी दल सर्वोच्च सोवियत के सदस्यों के नामों की घोषणा करता था और वे व्यक्ति निर्विरोध सर्वोच्च सोवियत के सदस्य निर्वाचित हो जाते थे। एक प्रकार से सर्वोच्च सोवियत के सदस्य साम्यवाद दल के मनोनीत सदस्य होते थे।

जहाँ एक सर्वाधिकारी राज्यों में व्यवस्थापिका की भूमिका का प्रश्न है, सैद्धांतिक रूप से उसकी वही भूमिका निदेशित है, जो लोकतांत्रिक और सांविधानिक राज्यों की है। परंतु, जब हम व्यवस्थापिका के कृत्यों एवं शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग देखते हैं, तब हमारे सम्मुख दूसरा चित्र उभरता है।

सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत को वे सारी शक्तियाँ प्राप्त थीं, जो लोकतांत्रिक देशों की व्यवस्थापिका को प्राप्त हैं। सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत के अंतर्गत विरोधी दल के अभाव के कारण विधिनिर्माण या अन्य प्रकार के प्रस्तावों को पारित होने तथा वाद-विवाद की प्रक्रिया मात्र औपचारिकता थी। सर्वोच्च सोवियत की सारी प्रक्रियाएँ साम्यवादी दल के निर्देशानुसार संचालित होती थीं। सर्वोच्च सोवियत केवल उन्हीं प्रस्तावों को पारित करती थी, जिन्हें साम्यवादी दल निदेशित करती थी। यह स्थल एक नाट्यस्थल का रूप धारण करता था, जहाँ हर पात्र साम्यवादी दल के निर्देश के अनुसार अपना-अपना पार्ट अदा करता था। टाउस्टर के कथनानुसार, "सर्वोच्च सोवियत एक अनुसमर्थक एवं प्रचारक निकाय के रूप में काम करती है।"

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सर्वाधिकारी राज्य में व्यवस्थापिका की भूमिका अधिनायकवादी राज्य की भाँति अत्यधिक सीमित रहती है। साम्यवादी राज्यों में साम्यवादी दल का प्रभुत्व एवं प्रभाव सर्वव्यापक रहता है। शासन के समस्त अंगों पर दल का नियंत्रण रहता है और सभी अंग दल के नियंत्रण एवं निदेशन में काम करते है। इसलिए व्यवस्थापिका स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका अदा नहीं कर सकती।

विकासशील देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका

विकासशील देशों में व्यवस्थापिका की विशिष्ट भूमिका रहती है। विकासशील देश राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक विकास के मार्ग पर पिछड़े हुए है। राजनीतिक विकास के जो प्रमुख लक्षण हैं उनका भी विकासशील देशों में अभाव है। अतः हम पाते हैं कि कई दृष्टियों से विकासशील देश पिछड़े हुए हैं। सभी विकासशील देशों में व्यवस्थापिका का एक प्रकार का मॉडेल नहीं है। कुछ विकासशील देशों ने पश्चिम के उदारवादी लोकतंत्र के मॉडलों को अपनाया है तथा कुछ विकासशील देशों ने साम्यवादी देशों के प्रतिमानों या मॉडेलों को प्रश्रय दिया है। सच्चाई यह है कि विकासशील देश मॉडलों के झमेले में पड़े हुए हैं। इन्होंने अपने-अपने ढंग के प्रतिमानों या मॉडलों को अपना तो लिया है, परंतु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का वहाँ अभाव है।

प्रारंभिक दिनों में विकासशील देशों ने व्यवस्थापिका को सुव्यवस्थित रूप देने तथा उदारवादी लोकतांत्रिक परंपराओं के अनुसार उसे संचालित करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रारंभिक पंद्रह वर्षों तक व्यवस्थापिका की आदर्श भूमिका रही, परंतु बाद के दिनों में व्यवस्थापिका के स्वरूप एवं कार्यचालन में विकृति पैदा हो गई। इन दिनों व्यवस्थापिका हंगामा का एक स्थल बन गया है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत सरकार एवं विरोधी दल के बीच मतभेद इतना गहरा हो गया है कि वहाँ होने वाले प्रदर्शन निम्नस्तरीय होने लगे हैं। आए दिन व्यवस्थापिका के सदनों में शोर-शराबा, हंगामा और हाथापाई की घटनाएँ भी घटने लगी हैं।

विकासशील देशों में जनमत का स्परूप इतना कमजोर है कि वहाँ की जनता व्यवस्थापिका की उपयोगिता उस मात्रा में तथा उस ढंग से नहीं कर सकती, जिस मात्रा में तथा जिस सीमा में अपेक्षा की जाती है। अनेक लोग व्यवस्थापिका के अंतर्गत राजनीतिक दल तथा राजनीतिक लोगों के भद्दे एवं अशोभनीय प्रदर्शन के कारण व्यवस्थापिका को निरर्थक एवं अनुपयोगी मानने लगे हैं। जनसंख्या का अधिक भाग अशिक्षित एवं अज्ञानी होने के कारण वे व्यवस्थापिका के गठन और भूमिका में कम-से-कम दिलचस्पी लेते हैं, इसलिए व्यवस्थापिका का चुनाव ढकोसला बनता जा रहा है।

अधिकांश विकासशील देशों के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि विकासशील राज्यों में व्यवस्थापिका को प्रभावी बनाए रखने के लिए आवश्यक एवं अनुरूप राजनीतिक संस्कृति का विकास नहीं हो पाया है। इसके फलस्वरूप विकासशील देशों में व्यवस्थापिकओं की भूमिका न तो उदारवादी लोकतांत्रिक देशों की व्यवस्थापिकाओं की तरह हो पाई है और न ही सर्वाधिकारी राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की तरह हो पाई है। मॉडेलों के संदर्भ में विकासशील देशों की व्यवस्थापिकाएँ 'अँधेरे में टटोलने' का काम कर रही हैं।

पिछले दिनों विकासशील देशों में राजनीतिक दलों तथा दबावसमूहों के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ तथा अनेक विरोधाभास उभरे हैं और फैले हैं, जिसके कारण भी व्यवस्थापिकाओं की भूमिका स्पष्ट नहीं हो पाई है। व्यवस्थापिका के गठन तथा उसके कार्यचालन के संबंध में राजनीतिक दलों की जो भूमिका होनी चाहिए, वह अभी तक विकासशील देशों में नहीं उभर पाई है। इस स्थिति में यह कहा जाना स्वाभाविक है कि विकासशील देशों में सहभागिता के अभिकरण के रूप में व्यवस्थापिकाओं की भूमिका और उपयोगिता के बारे में लोगों में संदेह बना रहता है। विकासशील देशों में व्यवस्थापिकाएँ सामान्य सरकारी कार्यों के संपादन में असफल तो हुई हैं, राजनीतिक कार्यों में भी इसकी उपयोगिता संदेहास्पद रही है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि विकासशील देशों में व्यवस्थापिका निरर्थक और अनुपयोगी है। कई देशों में इसकी उपयोगिता को प्रतिष्ठापित करने के प्रयास किए जा रहे हैं, यद्यपि अधिकांश विकासशील देशों में व्यवस्थापिकाएँ प्रभावहीन ही सिद्ध हुई है। कई लोगों ने विकासशील देशों में व्यवस्थापिका के उज्जवल भविष्य की भविष्यवाणी की है। विकासशील देशों की व्यवस्थापिकाओं के कार्यचालन के संबंध में निश्चितरूप से कुछ कहना तो संभव नहीं प्रतीत होता, परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वहाँ अभी व्यवस्थापिकाएँ की भूमिका सुव्यवस्थित नहीं है।

अधिकांश विकासशील देशों ने असंलग्नता की नीति अपनाई है। इसके कारण भी उन्हें कठिनाई हो रही है, क्योंकि उन पर किसी निश्चित शासन-प्रणाली या किसी निश्चित मॉडेल का सुस्पष्ट प्रभाव नहीं

है। इन कठिनाईयों के बावजूद कई विकासशील देश व्यवस्थापिका को प्रभावी बनाने के निमित्त प्रयत्नशील हैं

व्यवस्थापिकाओं का पतन

अनेक विद्वानों का मत है कि बीसवीं शताब्दी में व्यवस्थापिकाओं का निश्चित रूप से पतन हुआ है। लॉर्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' में एक विशेष अध्याय के अंतर्गत व्यवस्थापिका के पतन की स्थिति की व्याख्या की। ब्राइस ने पतन के कारणों का उल्लेख तो किया है, परंतु वह उसकी पूर्ण बथा स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाया है। के0 सी0 व्हीयर ने अपनी पुस्तक 'लेजिस्लेचर' ;स्महपेसंजनतमद्ध में आधुनिक युग में व्यवस्थापिकाओं के पतन के संबंध में एक अध्याय जोड़ा है। व्हीयर ने व्यवस्थापिका के पतन के संबंध में कई प्रश्न उठाए हैं। उदाहरण के लिए, व्हीयर के निम्नलिखित मुख्य प्रश्न हैं:

(1) क्या व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास हुआ है ?

(2) क्या व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता में कमी आई है ?

(3) क्या व्यवस्थापिका में जनता की रूचि कम हुई है ? इत्यादि।

व्यवस्थापिका की शक्तियों में किस सीमा तक पतन हुआ है यह कहना तो कठिन है, परंतु इतना कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका की स्थिति में अवनति हुई है। अनेक क्षेत्रों में कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका के अधिकार पर कब्जा कर लिया है। विधिनिर्माण व्यवस्थापिका की एकमात्र जिम्मेदारी है, परंतु संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधि निर्माण की जिम्मेदारी मंत्रिपरिषद की समझी जाती है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यवस्थापिका की शक्ति में कमी आई है।

पतन के कारण

व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों और महत्त्व में कमी होने का कोई एक कारण नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ कारणों का उल्लेख करेंगे-

1.व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास होने का सबसे बड़ा कारण कार्यपालिका की शक्तियों मे वृद्धि है। कार्यपालिका ने निश्चित रूप से व्यवस्थापिका की कई शक्तियों को हड़प लिया है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत संसद को आहत, सत्रावसित तथा विघटित करने का अधिकार कार्यपालिका को प्राप्त है। साथ-ही-साथ विधेयकों को प्रस्तावित करने का अधिकार भी कार्यपालिका को है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत शक्तियों के पृथक्करण के कारण व्यवस्थापिका और कार्यपालिका पृथक-पृथक है, फिर भी कार्यपालिका व्यवस्थापन-प्रक्रिया को प्रभावित करती है। अमेरिका में राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित विधेयकों के संबंध में निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार, हम पाते हैं कि कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्तियों ने व्यवस्थापिका की शक्तियों और स्थिति में कमी लाई है।

2. प्रदत्त विधायन के कारण भी व्यवस्थापिका की स्थति में ह्रास हुआ है। कई कारणों से व्यवस्थापिका ने अनेक क्षेत्रों में कार्यपालिका को विधिनिर्माण का कार्यभार सौंप दिया है।

3. रेडियो, टेलिविजन तथा संचार के नए-नए साधनों के कारण कार्यपालिका जनता के सीधे संपर्क में आ गई है जिसके कारण व्यवस्थापिका का प्रभाव कम हो गया है। आधुनिक युग में मुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिका की उपेक्षा करके जनता से सीधे और प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर लेता है जबकि प्राचीनकाल मे मुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता तक पहुँच पाता था।

4. एल0 एन0 बॉल ने लिखा है, "बीसवीं शताब्दी में बड़े- बड़े अनुशासित दलों के विकास तथा कार्यपालिका शक्ति की वृद्धि के कारण व्यवस्थापिका के पतन या ह्रास की चर्चा एक सामान्य बात हो गई है। अनुशासित राजनीतिक दलों के कारण विधायकों का महत्त्व कम हो गया है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत प्रत्येक राजनीतिक दल का सचेतक आदेश जारी करता है। जिसके अनुसार विधायक किसी भी विधेयक या प्रस्ताव पर मतदान करते हैं। फलस्वरूप, विधेयकों या प्रस्तावों के मतदान पर कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका के सदस्यों को निदेशित एवं नियंत्रित करती है।

5. दबाव एवं हित-समूहों के बढ़ते प्रभाव के कारण व्यवस्थाकिा की स्थिति में कमी आई है। आज अधिकांश विधेयक दबाव एवं हित-समूहों के कारण पारित होते हैं या दब जाते हैं। कार्यपालिका बहुत-सा निर्णय व्यवस्थापिका की सम्मति के बिना दबाव व हित-समूहों के दबाव या प्रभाव में आकर ले लेती हैं। दबाव एवं हित-समूहों का संगठन इतना सशक्त रहता है कि उनसे संबंधित सरकार के निर्णय जब प्रस्ताव के रूप में व्यवस्थापिका के सम्मुख आते हैं, तब उसे अनुसमर्थन या स्वीकृति देनी पड़ती है।

6. न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका के अधिनियमों की वैधता जाँच करने की शक्ति के कारण के व्यवस्थापिका के प्रभाव में कमी आई है। अमेरिका तथा भारत में न्यायालय व्यवस्थापिका के अधिनियमों की वैधानिकता को जाँचकर उसे अवैध या असांविधानिक घोषित कर सकता है।

7. युद्ध और संकट की स्थिति में राज्याध्यक्ष को असाधारण शक्तियों को प्रयोग करने का अधिकार है। राज्याध्यक्ष युद्ध और संकट के समय सेना पर तो नियंत्रण रखता ही है, वह असाधारण निर्णय भी ले सकता है। युद्ध और संकट में लिए गए निर्णयों की सूचना मात्र व्यवस्थापिका को दे दी जाती है।

कई स्थितियों में व्यवस्थापिका को सैनिक दृष्टिकोण से गोपनीय सूचनाओं से वंचित रखा जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब युद्ध और संकट में कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका की उपेक्षा की। अमेरिका के राष्ट्रपति ने वियतनाम युद्ध के दौरान कांग्रेस की सम्मति के बिना अनेक निर्णय लिए।

8. वैदेशिक मामलों के संचालन में व्यवस्थापिका की भूमिका अतिसीमित या औपचारिक रहती है। वैदेशिक मामलों में सारे निर्णय कार्यपालिका के प्रधान द्वारा लिए जाते हैं। व्यवस्थापिका उन पर मात्र स्वीकृति की मुहर लगाती है। वैदेशिक मामलों में मुख्य कार्यपालकों के बीच सीधा संपर्क होने के लिए रूस और अमेरिका के बीच हॉट लाइन लगाई गई थी।

9. लोककल्याणकारी राज्य का उद्देश्य है नागरिकों का सर्वांगीण विकास। नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए सरकार को सभी क्षेत्रों में कार्य करना पड़ता है। 'पालने से कब्र' तक राज्य नागरिकों को सेवा प्रदान करता है। इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य में कार्यपालिका के कार्यो में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और अनेक क्षेत्रों में उसे स्वविवेक प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। फलस्वरूप, कई स्थितियों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका की अवहेलना करती है। इस तरह लोककल्याणकारी राज्य के उदय के कारण व्यवस्थापिका की स्थिति और भूमिका में कमी आई है।

10. आज का युग संकट का युग है। आए दिन संकट के बादल मँडराते हैं, जिसके कारण सरकार तथा नागरिक दोनों ही चिंता और तनाव की स्थिति में रहते हैं। युद्ध, आंतरिक संघर्ष तथा अन्य प्रकार के संकटों के कारण उत्पन्न असुरक्षा की भावना ने नागरिकों को अधिक-से-अधिक कार्यपालिका पर निर्भर होने के लिए विवश कर दिया है। इस कारण भी व्यवस्थापिका के महत्त्व में कमी आ गई है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों एवं प्रभाव में ह्रास हुआ है।

अभ्यास प्रश्न

1.व्यवस्थापिका का निम्न में से कौन-सा कार्य है?

a. विधि निर्माण b. कार्यपालिका पर नियंत्रण

c.निर्वाचन संबंधी d. उपर्युक्त सभी

2. विधानमण्डल के पतन का कौन-सा कारण नहीं है?

a. कार्यपालिका का बढ़ता कार्य क्षेत्र b. प्रदत्त विधायन

c. दलिय पद्धति d. उपर्युक्त सभी

5.8 सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि सरकार के प्रमुख अंगों में व्यवस्थापिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। व्यवस्थापिका का सर्वप्रमुख कार्य विधि निर्माण, विचार विमर्श, वित्त संबंधी, कार्यपालिका पर नियंत्रण, निर्वाचन संबंधी, जनमत की अभिव्यक्ति एवं संविधान में संशोधन प्रमुख उत्तरदायित्व है अतः हम देखते है कि आधुनिक राज्यों के सफल संचालन के लिए व्यवस्थापिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

5.9 शब्दावली

व्यवस्थापिका-सरकार के तीन अंग हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका तीनों अंगों में सर्वोच्च है। व्यवस्थापिका का कार्य है-विधिनिर्माण करना। तुलनात्मक राजनीति की आधुनिक शब्दावली के अंतर्गत व्यवस्थापिका के स्थान पर नियम-निर्माण विभाग का प्रयोग किया जाता है।

एक सदनीय व्यवस्थापिका- जिन राज्यों की व्यवस्थापिका में एक सदन होता है वह एक सदनीय व्यवस्थापिका कहलाती है।

द्विसदनीय व्यवस्थापिका- जब व्यवस्थापिका में दो सदन होते है तो उसे द्विसदनीय व्यवस्थापिका कहा जाता है।

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.उपर्युक्त सभी, 2. दलीय पद्धति

5.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11
2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13
3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory
2. Robert Dahl: A preface to democratic theory
3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics
4. K.C. Wheare: Modern Constitution

5.13निबन्धात्मक प्रश्न

1.व्यवस्थापिका से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

2. व्यवस्थापिका के गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए

इकाई 6- कार्यपालिका

इकाई की रुपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 कार्यपालिका का अर्थ

6.4 कार्यपालिका के प्रकार

6.5 कार्यपालिका के कार्य

6.6 कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि के कारण

6.7कार्यपालिका व्यवस्थापिका में संबंध

6.8 सारांश

6.9 शब्दावली

6.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.13निबन्धात्मक प्रश्न

6.1प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक कार्यपालिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए कानूनों कोलागू करना होता है। कार्यपालिका शासन का वह अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों को लागू करती है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में कार्यपालिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- कार्यपालिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- कार्यपालिका व्यवस्थापिका संबंधों का तुलनात्मक अध्ययन करना है।

6.2कार्यपालिका का अर्थ

कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों का कार्यान्वयन करना है। विधियों को लागू करने वाली शक्ति को कार्यपालिका कहा जाता है। कार्यपालिका का दो अर्थ में प्रयोग किया जाता है: व्यापक अर्थ में तथा संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी कर्मचारी आते हैं, जिनका संबंध प्रशासन से होता है। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी कर्मचारी आते है, जिनका संबंध नीति-निर्माण तथा उसके कार्यन्वयन से है। अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके सचिव उसके अंतर्गत आते हैं। पलेम्बरा ने सरकार, कार्यपालिका और नौकरशाही में अंतर बरता है। मैक्रीडिस ने कहा है कि राजनीतिक कार्यपालिका राजनीतिक समाज के शासन के लिए औपचारिक उत्तरदायित्व निभानेवाली संस्थागत व्यवस्था है। आधुनिक युग में राजनीतिविज्ञान के अंतर्गत कार्यपालिका में कार्यपालिका के प्रधान तथा मंत्रिमंडल को लिया जाता है। असैनिक सेवा तथा इस स्तर के कर्मचारी कार्यपालिका के अंतर्गत नहीं आते हैं।

6.3कार्यपालिका के प्रकार

आधुनिक युग में कार्यपालिका के कई प्रकार हैं। अलग-अलग राज्य में कार्यपालिका के अलग-अलग प्रकार हैं। आधुनिक कार्यपालिका के मुख्यतः निम्नलिखित रूप हैं-

(क) राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका - यों तो संकुचित दृष्टिकोण से कार्यपालिका के अंतर्गत असैनिक सेवा के सदस्य नहीं आते, फिर कार्यपालिका का वर्गीकरण राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका में किया जाता है। राजनीतिक कार्यपालिका वह कार्यपालिका है, जो निर्वाचित होती है तथा जो एक निश्चित अवधि के लिए अपने पद पर बनी रहती है। इसके विपरीत स्थायी कार्यपालिका वह कार्यपालिका है जो स्थायी है तथा जिसका निर्वाचन से कोई संबंध नहीं है। स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहती है।

(ख)नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका - जब कार्यपालिका केवल नाममात्र का प्रधान होती है, तब उसे नाममात्र की कार्यपालिका कहा जाता है। इसे सांविधानिक कार्यपालिका भी कहा जाता है। संसदीय शासन-प्रणाली में नाममात्र की तथा वास्तविक दोनों प्रकर की कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन का सम्राट् तथा भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका के उदाहरण हैं। ये दोनों अपने-अपने राज्य के मात्र सांविधानिक प्रधान हैं।

जब कार्यपालिका सांविधानिक दृष्टिकोण से प्रधान नहीं होते हुए भी यथार्थ में प्रधान होती है, तब उसे वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है। ब्रिटेन एवं भारत का मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यपालिका

के उदाहरण हैं। अमेरिका का राष्ट्रपति तथा फ्रांस का राष्ट्रपति सांविधानिक एवं वास्तविक दोनों कार्यपालिका के मिश्रण हैं।

(ग)एकल और बहुल कार्यपालिका - जब कार्यपालिका की शक्तियाँ एक निश्चित व्यक्ति के हाथ में निहित होती हैं, तब उसे एकल कार्यपालिका कहा जाता है। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस में एकल कार्यपालिका है।

जब कार्यपालिका की शक्तियाँ किसी एक व्यक्ति में निवास न कर कुछ व्यक्तियों के समूह में निवास करती है तब उसे बहुल कार्यपालिका कहा जाता है। स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद तथा सोवियत रूस की प्रेजीडियम बहुल कार्यपालिका के उदाहरण है। स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियत रूस में कार्यपालिका की शक्तियाँ सभी सदस्यों में समान से बँटी हुई हैं। इन संस्थाओं का प्रधान मात्र औपचारिक प्रधान होता है। उसे किसी भी प्रकार का विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता।

(घ)संसदीय एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका - संसदीय और अध्यक्षात्मक प्रणालियों में कार्यपालिका के स्वरूप भिन्न होते हैं। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका दो प्रकार की होती है-सांविधानिक और वास्तविक। वास्तविक कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। भारत और ब्रिटेन में मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यपालिका है और व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। वास्तविक कार्यपालिका में ही वास्तविक शक्तियाँ निहित रहती है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका सांविधानिक और वास्तविक एक ही होती है। साथ-ही-साथ वह व्यवस्थापिका के किसी भी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। अमेरिका का राष्ट्रपति अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का उदाहरण है। वह यथार्थ रूप में वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है। वह तथा उसके सचिव कांग्रेस के किसी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इसके साथ ही वह राज्य का प्रधान भी होता है।

6.4कार्यपालिका के कार्य

प्राचीन काल में जब राज्य का स्वरूप सैनिक राज्य का था तब कार्यपालिका के कार्य समिति थे, परंतु आधुनिक राज्य में कार्यपालिका के कार्यों के क्षेत्र एवं प्रकृति में मौलिक अंतर हुआ है। साथ-ही-साथ उसके कार्यों में वृद्धि भी हुई है। आधुनिक राज्य में कार्यपालिका के निम्नलिखित मुख्य कार्य हैं-

प्रशासकीय कार्य - कार्यपालिका के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रशासकीय कार्य हैं। कार्यपालिका अपने देश की सीमा के अंतर्गत विधियों को लागू करती है, प्रशासन की विभिन्न एजेंसियों को गठित

करती है तथा उनके लिए पदाधिकारियों की नियुक्ति करती है। कार्यपालिका प्रशासन के विभिन्न विभागों एवं एजेंसियों के बीच सांमजस्य स्थापित करती है। संक्षेप में, आंतरिक दृष्टि से कार्यपालिका कानूनों को लागू करने, प्रशासन का निर्देशन, निरीक्षण एवं नियंत्रण करने तथा प्रशासन के विभिन्न विभागों एंव एजेंसियों के बीच ताल-मेल रखने तथा कानून और व्यवस्था बनाए रखने का कार्य करती है।

कूटनीतिक कार्य - कार्यपालिका कूटनीतिक कार्यों का भी संपादन करती है। इसके अंतर्गत विदेशी मामले भी आ जाते हैं। आधुनिक युग में विदेशी क्षेत्रों में कार्यपालिका के कार्य बढ़ गए हैं। वह विदेशों में भेजे जाने वाले राजदूतों एवं राजनयिकों की नियुक्ति करती है तथा विदेशों से आने वाले राजदूतों का प्रमाणपत्र ग्रहण करती है। विदेशों के साथ संधि एवं समझौते करने तथा उन्हें लागू करने में कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। संधियों एवं समझौते से विदेशों के साथ आर्थिक, राजनीतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने की जिम्मेदारी भी कार्यपालिका की ही है।

सैनिक कार्य - आधुनिक युग में मुख्य कार्यपालक को ही सेना का प्रधान कहा जाता है। भारत का राष्ट्रपति सेना के तीनों अंगों का सर्वोच्च सेनापति है। कार्यपालिका ही सेना के प्रधानों की नियुक्ति करती है तथा उसे युद्ध या अन्य प्रयोजनों के लिए आदेश देती है। युद्ध, युद्धविराम की घोषणा करना भी कार्यपालिका के ही कार्य हैं।

विधायिनी कार्य - कार्यपालिका विधायिनी कार्यों का भी संपादन करती है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत तो विधिनिर्माण की वास्तविक जिम्मेदारी कार्यपालिका की होती है। विधेयकों को प्रस्तावित करने से लेकर उन्हें पारित करने की जिम्मेदारी कार्यपालिका की है। विधिनिर्माण में सहभागी होने के साथ-साथ कार्यपालिका अध्यादेश भी जारी करती है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में शक्तियों के पृथकरण के कारण कार्यपलिका सक्रिय रूप से विधि निर्माण की प्रक्रियाओं में तो भाग नहीं लेता, पंरतु संदेश भेजने के अधिकार एवं निषेधाधिकार के कारण वह विधायन की प्रक्रिया को प्रभावित करती है।

आधुनिक युग में प्रदत्त विधायन के कारण भी विधायिनी क्षेत्र में कार्यपालिका की भूमिका सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण हो गई है।

वित्तीय कार्य - देश की वित्तीय व्यवस्था के प्रबंध एवं संचालन की जिम्मेदारी कार्यपालिका की है। देश के आय-व्यय के लिए बजट बनाने तथा विधानमंडल के सामने उसे प्रस्तुत करने, विधायिका द्वारा स्वीकृत राजस्व की राशि को वसूलने, उनका आबंटन करने, तथा प्रशासन के संबंध में आवश्यक व्यय करने का अधिकार कार्यपालिका के हैं। कार्यपालिका नए टैक्स लगाने, पुराने

टैक्सों में संशोधन करने या उठने का प्रस्ताव विधायिका के सम्मुख रखती है। कार्यपालिका देश की संचित निधि का संरक्षक होती है। विधायिका की स्वीकृति के अभाव में वह आकस्मिक निधि से राशि निकालकर भी व्यय कर सकती है।

न्यायिक कार्य - कार्यपालिका को न्यायिक कार्यों का भी संपादन करना पड़ता है। वह न्यायधीशों की नियुक्ति करती है, न्यायालय द्वारा दंडित व्यक्तियों के दंड को कम कर सकती है, स्थगित कर सकती है तथा क्षमा प्रदान कर सकती है।

अन्य कार्य - कार्यपालिका को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कई अन्य प्रकार के कार्यों का भी संपादन करना पड़ता है। देश के आर्थिक एंव व्यापारिक विकास में भी कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कार्यपालिका को संकटकालीन स्थितियों में कुछ विशेष प्रकार के कार्यों का संपादन करना पड़ता है। उस समय वह असामान्य शक्तियों का भी प्रयोग करती है। उदाहरण के लिए, भारत की कार्यपालिका को संकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए संकटकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। फ्रांस में भी कार्यपालिका को आपातकालीन शक्तियाँ प्राप्त हैं।

राजनीतिक कार्य - आधुनिक युग में कार्यपालिका सांविधानिक कार्यों के अतिरिक्त कतिपय राजनीतिक कार्यों का भी संपादन करती है।

6.5 कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि के कारण

आज कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो रही है। आज राज्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जो कार्यपालिका के प्रभाव तथा नियंत्रण से परे हो। आधुनिक काल में कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं-

लोक-कल्याणकारी राज्य का उदय - लोक-कल्याणकारी राज्य के उदय ने कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि का अवसर प्रदान किया है। लोक-कल्याणकारी राज्य में राज्य हर क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है, फलतः कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि होना स्वभाविक है।

व्यवस्थापिका की अक्षमता - आधुनिक युग में कई कारणों से विधायिका अपने कार्यों के संपादन में अक्षम या असमर्थ हो गई है। नए वैज्ञानिक आविष्कारों तथा तकनीकी विषयों के कारण विधायिका विधिनिर्माण के कार्य में या कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के क्रम में अपना पूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकती। दलीय मतभेद के कारण भी व्यवस्थापिका सभी प्रकार के विषयों पर विधेयक बनाने में असमर्थ होती है। दूसरी ओर दलगत अनुशासन के कारण सरकारी पार्टी सरकार के विरूद्ध प्रस्ताव नहीं पारित कर पाती है। कारण कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हुई है।

आर्थिक एवं औद्योगिक विकास - आधुनिक राज्य आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है। आज के राज्य में आर्थिक एवं औद्योगिक विकास सर्वप्रथम प्राथमिकता है। आर्थिक विकास के प्रयत्नों के कारण कार्यपालिका के कार्यों का विस्तार हो रहा है। यही कारण है कि विश्व के अधिकांश देशों में कार्यपालिका आर्थिक योजनाएँ बनाती है तथा उन्हें कार्यान्वित करती है।

राष्ट्रीय संकट - राष्ट्रीय संकट के समय कार्यपालिका के कार्यों एवं दायित्वों में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो जाती है। संकटकाल में अनेक कार्य उभरते हैं जिनमें कार्यपालिका की सहभागिता हो जाती है। संकटकाल के कारण कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि होती है।

दलगत अनुशासन - दलगत अनुशासन के कारण भी कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हुई है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत यद्यपि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाई गई है, तथापि व्यवहार में दलगत अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका कार्यपालिका के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव नहीं पारित कर सकती। अध्यक्षात्मक प्रणाली के अंतर्गत भी दलीय अनुशासन के कारण मुख्य कार्यपालक विधायन को प्रभावित करता है।

नियोजन - आज प्रायः सभी राज्यों में नियोजन की व्यवस्था है। योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में कार्यपालिका के कार्य एवं दायित्व अधिक हो जाते हैं।

वैदेशिक संबंध एवं वैदेशिक नीति - वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य के अंतरराष्ट्रीय संबंधों एवं वैदेशिक नीति के क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वैदेशिक मामले की पेचीदगियों के कारण कार्यपालिका की पकड़ वैदेशिक मामलों में बढ़ती जा रही है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने कहा था, ''राष्ट्रपति की शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति वैदेशिक संबंधों पर उसका नियंत्रण है।'' विदेशी मामलों में गोपनीयता की आवश्यकता होती है। इसलिए कार्यपालिका व्यवस्थापिका की सहमति के बिना या उसे सूचना दिए बिना अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में स्वविवेक से निर्णय ले लेती है। भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा ताशकंद समझौता तथा श्रीमती इंदिरा गाँधी का शिमला समझौता इस बात की पुष्टि करती है कि वैदेशिक मामलों का संचालन कार्यपालिका का विशेषाधिकार है।

संचार साधनों एवं प्रचार की भूमिका - संचार के साधनों के विकास के कारण कार्यपालिका का जनता से सीधा संपर्क हो गया है। रेडियो, टेलिविजन, फिल्म आदि माध्यमों से कार्यपालिका अपनी बातों तथा अपनी नीतियों को जनता के सामने रख सकती है, इसलिए वह बिना किसी माध्यम में जनता के प्रति उत्तरदायित्व निभाने लगी है। इस सीधे संपर्क के कारण कार्यपालिका की शक्तियों एवं कार्यों में वृद्धि हुई है। एलेन बाल ने कहा है, ''जनसंपर्क माध्यमों के उपयोग करने का अवसर तथा प्रचार की सुविधा कार्यपालिका की शक्ति को मजबूत बनानेवाला महत्त्वपूर्ण घटक है।'' अमेरिका में

टेलिविजन के माध्यम से राष्ट्रपति जनता से सीधा संपर्क स्थापित करने में समर्थ हुआ है। अन्य देशों में भी मुख्य कार्यपालिका रेडियो या टेलिविजन के माध्यम से प्रत्यक्ष ढंग से जनता को संबोधित करता है तथा अपना संदेश प्रसारित करता है।

शासन की धुरी - कार्यपालिका आज अधिकांश देशों में शासन की धुरी के रूप में काम करती है। समस्त प्रशासकीय यंत्र कार्यपालिका के इर्द-गिर्द घूमती है। ब्रिटेन के मंत्रिमंडल के संबंध में कहा गया है, ''यह वह धुरी है जिसके चारों ओर संपूर्ण राजनीतिक चक्र घूमता है।'' आज कार्यपालिका शासन के सभी अंगों के बीच समन्वय स्थापित करने का भी कार्य करती है। फलतः, कार्यपालिका के कार्यों की सूची में वृद्धि होना स्वभाविक है।

विधायिका के भंग करने की शक्ति - विधायिका को भंग करने की क्षमता के कारण भी कार्यपालिका ने अपनी शक्तियों में वृद्धि कर ली है। संसदीय-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल लोकसभा को विघटित करवा सकती है, इसलिए व्यवस्थापिका इसके निर्णयों के चुनौती नहीं देती। इस स्थिति का लाभ उठाकर कार्यपालिका अधिक-से-अधिक क्षेत्रों में टांग अड़ाती है।

पिछले वर्षों में कार्यपालिका के अधिक-से-अधिक शक्तियों से सुसज्जित करना तथा अधिक-से-अधिक कार्यों से भर देना एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई है। वर्तमान तनाव और संकट की मनःस्थिति के युग में लोग अपनी तथा देश की सुरक्षा के लिए कार्यपालिका पर अधिक-से-अधिक निर्भर रहना चाहते हैं। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी देशों में संवैधानिक संशोधनों के द्वारा कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि है। लिप्सन ने कहा है, मतदाताओं द्वारा राज्य को सौंपा गया प्रत्येक नया कर्तव्य, शासन द्वारा प्राप्त की गई प्रत्येक अतिरिक्त कार्यों ने कार्यपालिका की सत्ता और महत्त्व में वृद्धि की है।'' कार्यपालिका तथा मुख्य कार्यपालक का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि संपूर्ण राजनीति व्यवस्था में वह चेतना-केंद्र हो गई है। अनेक कारणों से कार्यपालिका राजनीतिक मंच का रिंग-मास्टर बन गई है। ला पालम्बरा ने कहा है, ''कार्यपालिका के शक्ति में वृद्धि का कारण उसकी चालबाजी, जोड़ एवं कपट-प्रबंध करने की क्षमता तथा योग्यता है।''

6.6 कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में संबंध

कार्यपालिका की भूमिका, उसकी शक्तियों एवं कार्यों में विस्तार आदि की चर्चा करने के संदर्भ में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण करना आवश्यक है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका राज्य की सर्वोच्च सत्ता है और कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है, परंतु व्यवहार में कार्यपालिका ही प्रधान हो जाती है।

संसदीय शासन.प्रणाली-संसदीय शासन.प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका तथा विधायिका के बीच घनिष्ठ संबंध रहता है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। साथ-ही-साथ व्यवस्थापिका पर नियंत्रण रखती है। व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर निम्नलिखित ढंग से नियंत्रण रखती है-

कार्यपालिका सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रथम लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होती है।

व्यवस्थापिका प्रश्नों द्वारा, वाद.विवाद के द्वारा, सरकारी नीति की आलोचना करके निंदा का प्रस्ताव पारित कर, स्थगन का प्रस्ताव पारित कर, कटौती का प्रस्ताव पारित कर कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

व्यवस्थापिका का प्रथम सदन मंत्रिमंडल के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिमंडल को अपदस्थ कर सकता है।

व्यवस्थापिका विभिन्न समितियों का गठन कर प्रशासकीय विभागों के कार्यों की जाँच-पड़ताल कर सकती है।

अध्यक्षात्मक शासन.प्रणाली- अध्यक्षात्मक शासन.प्रणाली के अंतर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ संबंध नहीं रहता, फिर भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कुछ कार्यों पर नियंत्रण रखती है। अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियाँ या संधियाँ तब तक प्रभावी नहीं होती, जब तक कि उनपर सिनेट का अनुसमर्थन प्राप्त न हो जाए। अन्य प्रकार से भी सिनेट राष्ट्रपति पर नियंत्रण रखती है।

वास्तविक स्थिति-आधुनिक युग के संदर्भ में व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण एक सैद्धांतिक तथ्य है। व्यवहार में कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका को नियंत्रित करती है। संसदीय शासन.प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल लोकसभा को विघटित करने की क्षमता रखती है। व्यवस्थापिका के पास समय के अभाव, विधेयकों में तकनीकी प्रश्नों का उदय, आदि के कारण व्यवस्थापिका अपनी शक्तियों को कार्यपालिका के सम्मुख समर्पित करती जा रही है। आधुनिक संसदों के पास न तो इतना समय है और न इतनी क्षमता है कि वे संपूर्ण कार्य को स्वयं संपादित करें। व्यवस्थापिकाएं केवल नीति निर्धारित करके मूल बातों के संबंध में कानून बनाकर विस्तृत विवेचना का कार्य कार्यपालिका पर छोड़ देती है। प्रदत्त विधान तथा कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश जारी करने की क्षमता ने भी व्यवस्थापिका को अधीनस्थ संस्था के रूप में काम करने के लिए विवश कर दिया है।

संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधि-निर्माण का संपूर्ण कार्य मंत्रिमंडल का रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में कार्यपालिका विधायन को प्रभावित करती है। अमेरिका में राष्ट्रपति संदेश भेजकर या निषेधाधिकार का प्रयोग कर विधायन को प्रभावित करता है।

उपर्युक्त तथ्य इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यवस्थापिका का प्रभाव कम होता जा रहा है और कार्यपालिका अपना प्रभाव बढ़ाती जा रही है। बर्नार्ड ब्राउन ने लिखा है, ''व्यवस्थापिका की स्थापना का उद्देश्य कार्यपालिका की शक्ति को सीमित और नियंत्रित करना है, लेकिन आधुनिक युग में शक्ति का केंद्र व्यवस्थापिका से-हटकर कार्यपालिका की ओर जा रहा है।'' निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते है कि सिद्धांत में आज भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का दावा करती है, पंरतु व्यवस्थापिका पर कार्यपालिका का नियंत्रण रहता है।

वस्तुतः, आज के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका मिलकर कार्यों का निष्पादन करने का प्रयास करती है। कार्यपालिका की शक्तियों एवं प्रभाव में वृद्धि हुई है, परंतु उसकी शक्तियों का स्त्रोत व्यवस्थापिका ही है।

कार्यपालिका-व्यवस्थापिका-संबंध के संदर्भ में यह कहना उपयुक्त होगा कि आज का विवाद कार्यपालिका-व्यवस्थापिका के सापेक्ष महत्त्व का नहीं है। ये दोनों राजनीतिक दलों के माध्यम से संयुक्त व सहयोगी बन जाते हैं। रिचार्ड न्यूस्टेड ने ठीक ही कहा है, ''आज वास्तविक शक्ति-संघर्ष मुख्य कार्यपालिका तथा व्यवस्थाविका के बीच न होकर यथार्थ में राजनीतिक नेताओं व्यवस्थापिका और कार्यपालिका समान रूप से सरकार का नियंत्रण नौकरशाही के हाथों में खोती जा रही है।''

अभ्यास प्रश्न

1.राजनीतिक कार्यपालिका का उदाहरण स्पष्ट कीजिए।

2."अध्यक्षात्मक कार्यपालिका वह है जिसमें कार्यपालिका एवं उसके मंत्री अपने कार्यकाल, नीति एवं कार्यों के लिए वैधानिक दृष्टि से विधानपालिका के नियंत्रण से मुक्त है।" यह कथन किसका है?

6.8सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि सरकार के प्रमुख अंगों में कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कार्यपालिका का सर्वप्रमुख कार्य प्रशासकीय, कूटनीतिज्ञ, सैनिक, विधिनिर्माण, न्यायिक एवं वित्तीय कार्य प्रमुख है। अतः हम देखते है कि आधुनिक राज्यों के सफल संचालन के लिए कार्यपालिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

6.9शब्दावली

कार्यपालिका-कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों का कार्यान्वयन करना है। विधियों को लागू करने वाली शक्ति को कार्यपालिका कहा जाता है।

6.10अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. भारत में प्रधानमंत्री, मंत्रीपरिषद् राजनीतिक कार्यपालिका के उदाहरण है। 2. गार्नर

6.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11

2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13

3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

6.12सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory

2. Robert Dahl: A preface to democratic theory

3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics

4. K.C. Wheare: Modern Constitution

6.13निबन्धात्मक प्रश्न

1.कार्यपालिका से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

2. कार्यपालिकाके गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।

इकाई 7- न्यायपालिका

इकाई की रुपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 न्यायपालिका का महत्व

7.4 न्यायपालिका के कार्य

7.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

7.6 न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर आधुनिक विवाद

7.7 न्यायिक पुनर्विलोकन: अर्थ एवं परिभाषा

7.8 सारांश

7.9 शब्दावली

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक न्यायपालिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए विधियों की व्याख्या करना एवं उसके उल्लघन करने वालों को दण्डित करना है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में न्यायपालिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- न्यायपालिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- न्यायपालिका की शक्तियों में वृद्धि के क्या कारण है उसका भी तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त किया जा सकता है।

7.3 न्यायपालिका का महत्व

समाज की उत्पत्ति के साथ-साथ न्याय की मांग का भी सिलसिला प्रारंभ हुआ। अनेक विद्धानो ने कहा है कि मनुष्य स्वभाव से संघर्षशील प्राणी है। मनुष्यो के पारस्परिक संघर्षों एंव मतभेदो ने न्याय को जन्म दिया। प्राचीन काल मे एक या दो व्यक्ति मिलकर व्यक्तियों के झगडों का निबटारा करते थे। ज्यो-ज्यो समाज सभ्य और उन्त होता गया, न्यायपद्धति मे भी विकास होता गया। आदिकाल से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप मे न्याय विभाग का अस्तित्व सदैव रहता है। तथा सामान्य जनता के दृष्टिकोण से न्यायिक कार्यों का संपादन सदा से ही महत्व का विषय रहा है। गार्नर के कथानुसार, ''न्याय विभाग के अभाव मे एक सभ्य राज्य की कल्पना नही की जा सकती है।'' मनुष्यो के पारस्परिक संघर्षों और मतभेदो को दूर करने तथा न्याय देनेवाली संस्था को न्यायपालिका कहा जाता है।

सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है। चाहे कानून के निर्माण की मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक क्यो न हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना भी पूर्ण क्यो न हो, परंतु फिर भी नागरिक का जीवन दुखीः हो सकता है और उसके जान-माल को खतरा उत्पन्न हो सकता है, यदि न्याय करने मे देर हो जाए या न्याय मे दोष रह जाए अथवा कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण या भ्रामक हो। ब्राइस ने न्यायपालिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''न्याय विभाग की कुशलता से बढकर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नही है क्योकि किसी ओर चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर उतना प्रभाव नही पडता जितना कि उसे इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र एवं निष्पक्ष न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।

न्यायपालिका लोकतंत्र का प्रहरी है। कानून का पालन करने तथा कानून के प्रति आस्था जगाने मे, न्यायपालिका की विशिष्ट भूमिका रहती है। लोकतंत्र मे जनता को समानता पर आधृत न्याय मिलना आवश्यक है। नागरिक की स्वतंत्रता, समानता तथा उसके मौलिक अधिकारो की रक्षा करने मे भी न्यायपालिका विशिष्ट भूमिका अदा करती है।

संघात्मक शासन मे न्यायपालिका का विशेष महत्व है। संघात्मक शासन मे संघ और ईकाइयो के बीच सदैव संघर्ष की संभावना रहती है। न्यायपालिका के अभाव मे इस संघर्ष को दूर नही किया जा सकता। अतः एक स्वतंत्र एव शक्तिशाली न्यायपालिका संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषता है।

उपर्युक्त विश्लेषण इस बात को स्पष्ट करता है कि न्यायपालिका आधुनिक समाज की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

न्यायपालिका के महत्व को स्पष्ट रूप से समझने के लिए निम्नलिखित बिंदुओ का उल्लेख करना आवश्यक है। ये बिंदु न्यायपालिका के महत्व के सांक्षी है।

1. न्यायपालिका सभ्य समाज का प्रतीक है-अगर राज्य मे न्यायपालिका नही हो तो नागरिक आपस मे लड़ते-झगड़ते रहेंगे और समाज मे अराजकता का साम्राज्य बना रहेगा। न्यायपालिका नागरिको के झगडो और मतभेदो को दूर कर समाज मे व्यवस्था कायम रखने मे सहायक होती है।

2. कानून के प्रति आस्था-न्यायपालिका देश के प्रचलित कानून के आधार पर लोगो के झगड़ो को दूर कर लोगो के मन मे कानून के प्रति आस्था पैदा करती है।

3. विधि का शासन-विधि के शासन की स्थापना मे भी न्यायपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका है। यदि न्यायपालिका नही रहे तो राज्य मे व्यक्तिविशेष का अधिनायकवाद स्थापित हो सकता है। कानून की मर्यादा को प्रसारित कर न्यायपालिका विधि का शासन लागू करती है।

4. लोकतंत्र का प्रहरी-समय पर कानून की व्याख्या कर तथा जनता के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित कानून तथा परंपराओ को मान्यता देकर न्यायपालिका लोकतंत्र की रक्षा करने मे समर्थ होती है।

5. नागरिको के अधिकारो एंव स्वतंत्रता की रक्षा-न्यायपालिका नागरिको के अधिकारो एवं स्वतंत्रता की रक्षा करने मे भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यही कारण है कि न्यायपालिका को नागरिको के मौलिक अधिकारो का संरक्षक कहा जाता है।

6. संघात्मक शासन मे महत्व- संघात्मक शासन मे न्यायपालिका का विशेष महत्व है। न्यायपालिका संघ और इकाईयो के बीचके विवादो को दूर करने मे विशेष सहायक सिद्ध होती है। स्वतंत्र और शक्तिशाली न्यायपालिका संघात्मक शासन की पूर्वशर्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि एक सभ्य समाज के लिए न्यायपालिका अनिवार्य शर्त है। ब्राइस के शब्द मे, यदि न्याय का दीप अंधेरे मे बुझ जाए तो वह अंधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना नही की जा सकती।''

7.4 न्यायपालिका के कार्य

सरकार के अन्य अंगो की तरह न्यायपालिका के कार्य भी इंगित कर दिए गए है। आधुनिक राज्य मे न्यायपालिका निम्नलिखित मुख्य कार्यों का संपादन करती है:-

1. यायपालिका का सर्वप्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, झगड़ों एंव विवादो का फैसला करना। पुराने जमाने मे पंचो के द्वारा आपसी झगड़ों को दूर किया जाता है। अब यह काम न्यायपालिका करती है। न्यायपालिका नागरिको के आपसी झगड़ों एंव विवादो का फैसला करती है।

2. न्यायपालिका कानून का उल्लंघन करनेवालों को दंड देती है। समाज मे अनेक प्रकार के कानून बनाए जाते है। यदि इन कानूनों का पालन नही हो तो समाज मे विश्रंखलता तथा अराजकता का साम्राज्य फैल जाएगा। न्यायपालिका कानून का उल्लंघन करनेवालें को दंड देकर कानून की मर्यादा बरकरार रखती है।

3. कानूनो की व्याख्या करना भी न्यायपालिका का मुख्य कार्य है। विधायिका द्वारा पारित कानूनों मे कई अस्पष्टताएँ तथा र्कइं त्रुटियाँ रह जाती है। न्यायालय इन अस्पष्टताओं की व्याख्या कर निंहित त्रुटियों को दूर करती है।

4. संविधान की रक्षा करना न्यायपालिका का सबसे महत्वपूर्ण एंव पुनीत कार्य है। संविधान देश की शासन-व्यवस्था का आधार है। यह देश का मौलिक कानून संविधान की पवित्रता बनी रहती है।

5. न्यायपालिका कानून-निर्माण का भी कार्य करती है। समय-समय पर कानूनों की व्याख्या करने के क्रम मे न्यायपालिका नए कानून का भी निर्माण करती है। औचित्य के आधार पर भी कानून का निर्माण किया जाता है। न्यायपालिका द्वारा निर्मित कानून को केस-लॉ कहा जाता है। लिकॉक के कथानुसार,''न्यायधीशो द्वारा दिया गया निर्णय अप्रत्यक्षा से कानून पूरक होता है। इस दृष्टि से न्यायालय अर्द्ध-विधानमंडल का रूप धारण करके कई वर्तमान कानूनों का निर्माण करता है।''

6. न्यायपालिका पर नागरिक के अधिकारों की रक्षा करने की भी जिम्मेदारी रहती है। न्यायपालिका को नागरिकों के अधिकारों का संरक्षक माना जाता है। मौलिक अधिकारों की रक्षा के क्रम मे न्यायालय विभिन्न प्रकार के लेख एंव आदेश जारी करता है। भारत के अनुच्छेद 32 एवं 226 के अंतर्गत नागरिको के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय एंव उच्च न्यायालय क्रमशः आदेश एवं लेख जारी कर सकते है।

7. न्यायपालिका को प्रशासनिंक विभागों या प्राधिकरणों द्वारा दिए गए निर्णयों के विरूद्ध अपील सुननें का अधिकार है। भारत मे न्यायालय श्रम न्यायधिकरण, आयकर विभाग, चुनाव आयोग आदि के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनता है।

8. अनेक राज्यों मे न्यायपालिका परामर्श देन का भी कार्य करती है। भारत के कई मामलो मे राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले सकता है। ब्रिटेन मे प्रिवी कौसिल भी परामर्श देनें का कार्य करती थीं।

9. न्यायपालिका प्रशासकीय कार्य भी संपादित करतीं है। अपने अधीन काम करनेवाले कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकीं सेवा-संबंधी शर्तों को निर्धारित करना, अधींनस्थ न्यायालयों का निरींक्षण एवं अधीक्षण न्यायपालिका के कुछ प्रशासकींय कार्य है।

आधुनिक युग मे न्यायपालिका के कार्यों मे व्यापकता और विविधता दोनों पाई जाती है। प्रो0 मसालदन ने कहा है, ''न्यायपालिका के समस्त कार्यों को दो भागों मे रखा जा सकता है-एक सरकार के अन्य अंगो पर नियंत्रण लगाने का कार्य,दूसरा व्यक्ति के अधिकारों से संबंधित कार्य।'' आज के संदर्भ मे दोनों प्रकार के कार्य समान महत्व के हो गए है और न्यायपालिका दोनों पर समानरूप से ध्यान देती है।

7.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायपालिका की प्रभावशीलता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को स्वतंत्रता प्रदान की जांए। लोकतंत्र की रक्षा सही अर्थ मे तभी की जा सकती है जब न्यायपालिका को सशक्त और स्वतंत्र बनाया जाए। संघात्मक शासन के अंतर्गत तो न्यायपालिका का स्वतंत्र होना अनिवार्य है। साम्यवादीं देशों को छोड़कर प्रायः सभी देशों मे न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाए रखने का प्रयास किया गया है। अनेक देशों ने अपने संविधान के अंतर्गत न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के संबंध मे आवश्यक प्रावधान किए है। अमेरिका, भारत आदि देशों मे न्यायपालिका की स्वतंत्रा पर अत्यधिक बल दिया गया है। न्यायपालिका की स्वतंत्रा के लिए कुछ विधियां है जिन्हे प्रत्येक देशों मे अपनाया जाता है:-

1. न्यायपालिका की स्वतंत्रा के लिए न्यायधीशों की नियुक्ति सबसे महत्वपूर्ण परिवर्त्य है। न्यायपालिका के न्यायधीशों के चुनाव के चार मुख्य तरीके हैः-

i.कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति,

ii.व्यवस्थापिका द्वारा निर्वांचन,

iii.जनता द्वारा चुनाव, और

iv.न्यायिक सेवा प्रतियोगिता द्वारा चुनाव।

आम तौर से न्यायधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के द्वारा ही की जाती है। अनेक दोषांे के बावजूद कार्यपालिका द्वारा न्यायधीशों की नियुक्ति को सर्वाधिक समर्थन मिला है। इस संबंध मे लास्की ने कहा है, इस विषय मे सभी बातो को देखते हुए न्यायधीशों के पदों को राजनीति का शिकार नही बनना चाहिए।

कुछ देशों मे न्यायधीशों को व्यवस्थापिका या जनता द्वारा निर्वाचित करने की व्यवस्था की गई है। जहां तक निर्वाचित न्यायधीशों का प्रश्न है, इसके पक्ष और विपक्ष मे तर्क दिए गए है, परंतु अधिकांश विद्वानों ने इस पद्धति को अस्वीकार किया है।

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित न्यायधीशों की पद्धति को भी सर्वमान्यता नही मिली है, क्योंकि समीक्षकों का यह मत है कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित न्यायपालिका के हाथों की कठपुतली बन जाएगी। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता के दृष्टिकोंण से मुख्य कार्यपालक द्वारा की गई नियुक्ति बेंहतर है, बशर्ते उसके अंतर्गत राजनीतिक आधार न हो।

2. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए न्यायधीशों की नियुक्ति का आधार भी एक प्रबल तत्व है। निष्पक्ष स्वतंत्रता का अर्थ है कि न्यायधीशों मे भ्रष्टाचार नही होना चाहिए और उन पर विधानमंडल तथा कार्यकारिणीं का नियंत्रण नही होना चाहिए।'' अच्छी योग्यता तथा अच्छे चरित्रवाला व्यक्ति अच्छा न्याधींश हो सकता है।

3. न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिक दलबंदी से ऊपर हो। सोवियत रूस मे साम्यवादी दल के सदस्य या समर्थक ही न्यायधीश नियुक्त होते है, इसलिए सोवियत रूस मे न्यायपालिका को स्वतंत्र नही कहा जा सकता है। स्वतंत्रता और निष्पक्षता के आधार पर ही अमेंरिका के सर्वोच्च न्यायलय के न्यायधीशों के प्रारंभ मे रजनीतिक मसलों पर परामर्श देने से अस्वींकार कर दिया था।

4. न्यायधीशों की पदच्युति भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता का एक प्रमुख बिंदु है। न्यायाधीशों के पद की सुरक्षा न्यायपालिका की स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण पहलू है। यदि न्यायधीशों को कार्यपालिका मनमाने ढंग से हटा देती है तो निश्चित रूप से न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अपहरण होगा। अपने पद पर बने रहने के लिए न्यायधीशों कार्यपालिका के विरूद्ध जाने का प्रयास नही करेगें, यही कारण है कि सभी देशों में न्यायाधीशोंको पदच्युत करने के लिए जटिल प्रक्रिया अपनाई जाती है। भारत और अमेरिका मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों को हटाने के लिए विधायिका के दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है। न्यायधीशों को हटाने की जटिल प्रक्रिया न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक शर्त है।

5.न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए न्यायधीशों के निश्चित एंव पर्याप्त वेतन-भत्ते आवश्यक है। कम वेतन और भत्ते से न्यायधीशों को भ्रष्ट होने का भय रहता है। हैमिल्टन के कथानुसार,''यह मानव-स्वभाव है कि जो मनुष्य अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्तिसंपन्न है, उसके पास संकल्प का भी बडा बल होता है।'' भारत मे आपातकाल को छोडकर न्यायधीशों के वेतन एवं भत्तें मे कटौती नही होती, फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारत मे न्यायधीशों के वेतन एंव भत्ते अपर्याप्त है। अभी कुछ दिनों पूर्व भारत के उच्चतम एंव उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्ते मे वृद्धिं की गई है।

6. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए लंबी कार्यावधि आवश्यक है। अमेरिका मे न्यायधीश 70 वर्ष तक अपने पद पर बने रहते है, यद्यपि सांविधानिक प्रावधानों के अंतर्गत उनके अवकाश-ग्रहण के

लिए आयु निर्धारित नही है। छोटी कार्यावधिं के कारण न्यायधीश हमेशा संशकित रहते है। भारत मे भी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश 65 वर्ष तक अपने पद पर बने रहते है।

7. ग्रहण के बाद नियुक्ति नही-न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। अगर न्यायपालिका और कार्यपालिका शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक समूह मे हो न्याय-वितरण का कार्य निष्पक्षता से नही हो सकता। उसी प्रकार यदि न्यायपालिका कार्यपालिका के मातहत हो तो न्यायपालिका स्वतंत्र और निष्पक्ष ढंग से न्याय-वितरण का कार्य नही कर सकती।

उपर्युक्त विश्लेषण इस बात को प्रतिपादित करता है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए कुछ शर्तो का पालन होना आवश्यक है। भारत और अमेरिका मे न्यायपालिका के स्वतंत्रता के लिए संविधान मे आवश्यक प्रावधान रखे गए है। व्यवहार मे भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रयास किया गया है। भारत मे उच्च न्यायालय के न्यायधीशों के स्थानांतरण को लेकर व्यापक विवाद उठ खडा हुआ था। न्यायधीशों के स्थानांतरण को न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अवरोधक समझा गया था। पूरे राष्ट्रीय स्तर पर इस विवाद पर विचार-विर्मश किया गया। ब्रिटेन मे न्यायपालिका उस सीमा तक स्वतंत्र नही है जिस सीमा तक वह भारत और अमेरिका मे है।

7.6 न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर आधुनिक विवाद

न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संबंध मे एक विवाद उठ खडा हुआ है। आज राज्यों मे अनेक प्रशासनिक न्यायालयों तथा प्रशासकीय अधिकरणों का उदय हो गया है जिसके कारण प्रशासकीय तथा न्यायिक संरचनाओ के बीच विभाजन-रेखां खींचना कठिन हो गया है। एलेन बाल ने लिखा है, ''न्यायाधीश और न्यायालय समग्र राजनीतिक प्रक्रिया के महत्वपूर्ण पहलू है।'' राबर्ट डाल ने भी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है, ''संयुक्त राज्य के सर्वोत्तम न्यायालय को एकमात्र विधिक संस्था समझना अमेरिकी राजनीतिक पद्धति मे उसके महत्व को कम आकंना है, क्योंकि वह राजनीतिक संस्था भी है।'' वर्तमान दशक मे भारत के सर्वोच्च न्यायालय को लेकर जो विवाद चल रहा है, उसमें भी मूल प्रश्न यही है कि विधिक प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया से दूर नही है। इसी विधिक संरचना राजनीति संस्कृति तथा न्यायधीशों के राजनीतिक एंव सामाजिक मूल्यों के बीच अंतःक्रिया होती रहती है जो सारी विधिक पद्धति को चयन प्राथमिकताओ और संघर्ष के घेरें मे दृढतापूर्वक खींच लाती है। अनेक विद्वानो का मत है कि न्यायिक प्रक्रिया को अन्य राजनीतिक प्रक्रियाओं से पृथक, स्वतंत्र या अलग मानना वास्तविकताओ को अनदेखी करना है। आधुनिक युग मे न्यायपालिका को अन्य राजनीतिक संरचनाओं से अलग माननें के बजाय उसका सहयोगी मानना ज्यादा हितकर है। इसलिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर बल देना आवश्यक है। साम्यवादी देशों मे न्यायपालिका की स्वतंत्रता का प्रश्न एक गौण प्रश्न है। सोवियत रूस मे न्यायपालिका कम्यूनिस्ट पार्टी

के मातहत काम करती है वहा न्यायपालिका सर्वोच्च सोवियत के विधेयकों तथा पार्टी के हित एंव आदेशों के विरूद्ध स्वतंत्र रूप मे निर्णय नही दे सकती। इसलिए सोवियत रूस तथा साम्यवादी देशों मे न्यायपालिका की स्वतंत्रता का कोई महत्व नही है और न ही यह विवादास्पद प्रश्न है। उपर्युक्त विचारधारा मे तर्कबल रहने के बावजूद आज भी अधिकांश विचारक मानते है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता को यथासंभव बरकरार रखने की आवश्यकता है।

7.7 न्यायिक पुनर्विलोकन: अर्थ एवं परिभाषा

न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है, जिसके द्वारा न्यायालय कानूनों की संविधानिकता की जांच कर सकता है। कॉरविन ने न्यायिक पुनर्विलोकन की परिभाषा देते हुए कहा है,''न्यायिक पुनर्विलोकन का अभिप्राय न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हे अपने न्याय-क्षेत्र के अंतर्गत लागू होनेवाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के संबंध मे प्राप्त है, जिन्हे वे अवैध और व्यर्थ समझे।'' एच0 जे0 अब्राहम के कथानुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है जो किसी भी कानून या सरकारी कार्य को असंविधानिक घोषित कर सकती है और उसके प्रयोग को रोक सकती है।'' मैक्रीडिस तथा ब्राउन के अनुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन का आशय न्यायाधीशों की उस शक्ति से है, जिसके अधीन वे उच्चतर कानून के नाम पर उन्हे अमान्य ठहरा सके।'' इनसायक्लोपिडिया ब्रिटानिका मे भी न्यायिक पुनर्विलोकन की स्पष्ट परिभाषा दी गई है। इसके अनुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयो की वह शक्ति है, जिसके द्वारा न्यायालय किसी देश की सरकार के विधायिनी, कार्यकारिणी और प्रशासकीय अंगो के कार्यों का परीक्षण करता है तथा यह देखता है कि वे संविधान के प्रावधानों के अनुकूल है''

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि न्यायालय को विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की जांच करने की शक्ति है। वह संविधान का संरक्षक है। इस हैसियत से यह देखनां उसका पुनीत कर्तव्य है कि विधायिका का कोई कानून देश के मौलिक कानून-संविधान के किसी प्रावधान के प्रतिकूल नही है। अमेरिका मे सर्वप्रथम 1803 ई0 मे मारबरी बनाम मेडिसन के मुकदमे मे मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। न्यायाधीश मार्शल ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि न्यायालय कानून की वैधानिकता की जांच कर सकता है। संविधान के किसी भी प्रावधान का उल्लंघन करने पर वह उसे अवैध घोषित कर सकता है तथा उसे लागे करने से अस्वीकार कर सकता है।

अभ्यास प्रश्न

1. न्यायपालिका के दो कार्य बताइए।
2. शक्ति प्रथक्करण सिद्धांत किसने दिया है।

7.8 सारांश

सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है। चाहे कानून के निर्माण की मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक क्यो न हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना भी पूर्ण क्यो न हो, परंतु फिर भी नागरिक का जीवन दुखीः हो सकता है और उसके जान-माल को खतरा उत्पन्न हो सकता है, यदि न्याय करने मे देर हो जाए या न्याय मे दोष रह जाए अथवा कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण या भ्रामक हो। ब्राइस ने न्यायपालिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''न्याय विभाग की कुशलता से बढकर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नही है क्योकि किसी ओर चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर उतना प्रभाव नही पडता जितना कि उसे इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र एवं निष्पक्ष न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।

7.9 शब्दावली

न्यायपालिका-मनुष्यों के पारस्परिक संघर्षों और मतभेदो को दूर करने तथा न्याय देनेवाली संस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है।

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कानूनों की व्याख्या करना एवं नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना। 2. मॉन्टेस्क्यू

7.11संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11
2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13
3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

7.12सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory
2. Robert Dahl: A preface to democratic theory
3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics
4. K.C. Wheare: Modern Constitution

7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायपालिका से आप क्या समझते हैं? इसके कार्यों को स्पष्ट कीजिए।

2.न्यायपालिका प्रजातन्त्र की आत्मा है? व्याख्या कीजिए।

इकाई - 8 व्यवस्था विश्लेषण- राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

इकाई की संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2. उद्देश्य

8.3 व्यवस्था विश्लेषण

8.4 राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

8.5 राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताएं

8.6 उपादेयता और सीमाएं

8.7. सारांश

8.8. शब्दावली

8.9.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.10.संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.11.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

8.12.निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान की परम्परागत अवधारणा राजनीति के जिन गतिशील तत्वों की पहचान और उनका सम्यक विश्लेषण करने में असफल रही, उसको राजनीति विज्ञान की नयी अवधारणा ने, सार्वभौमिक रूप से समझने में सहायता प्रदान की। राजनीति विज्ञान की आधुनिक अवधारणा ने नए परिवर्तनों को समझने के लिए न सिर्फ नए पद्धतियों की पहचान की अपितु प्राचीन अवधारणाओं को उनकी प्रासंगिकता की कसौटी पर भी कसते हुए, उनकी उपादेयता की सीमाओ की पहचान भी की। नए और आधुनिक उपागम में वैज्ञानिक पद्धतियो के प्रयोग ने उसकी विश्वसनीयता को स्थापित करते हुए, उसकी आवश्यकता को रेखांकित किया। तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत उपागम राजनीतिक संरचनाओं के व्यवहार हो सही अर्थों में समझने में विफल साबित हुए। राजनीतिक प्रक्रियाओं और व्यवहार के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए, नए विधियों और उपागमों की खोज प्रारम्भ हुयी जिसमें व्यवस्था विश्लेषण सर्वाधिक आधारभूत और महत्वपूर्ण है।

8.2. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- राजनीति विज्ञान के आधुनिक अवधारणा के विकास को बेहतर रुप से समझ सकेंगे।
- राजनीति विज्ञान के परम्परागत अवधारणा की कमियों को जान सकेंगे।
- राज्य अथवा अन्य सांस्थानिक संरचनाओं के स्थान पर राजनीतिक व्यवहार को एक व्यवस्थागत संरचना के रूप में जान पाएंगे।
- राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं की गत्यात्मकता को समझ सकेंगे।

8.3 व्यवस्था विश्लेषण

विश्लेषण के एक उपकरण के रूप में राजनीतिक व्यवस्था को समझने का यत्न है। व्यवस्था विश्लेषण राजनीतिक सिद्धांत को परम्परागत सिद्धांतों से हट कर एक सामान्य व्यवस्था उपकरण के रूप में विश्लेषित करता है, जो बिना किसी भेदभाव के सभी सांस्थानिक संरचनाओं के विश्लेषण के लिए एक उपयुक्त उपकरण के रूप में है। व्यवस्था सिद्धांत परम्परागत सिद्धांत के विपरीत राजनीतिक संरचना को एक उपकरण के रूप में स्वीकार करता है जो कुछ निश्चित सार्वभौमिक सिद्धांतों के साथ कार्य करता है एवं समस्त राजनीतिक सांस्थानिक व्यवस्था में एक समान रूप से कार्य करता है। राजनीति विज्ञान की गत्यात्मकता, इस विषय के साथ नए आयाम जोड़ती है और प्राचीन अवधारणाएं उन नवीन प्रवृत्तियों को उनकी समग्रता के साथ बढ़ते हुए विषयक्षेत्र और उनके विविध आयामों को समझने में पर्याप्त सिद्ध नहीं हुयीं। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा इस कमी को दूर करने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुयी।

8.4 राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अध्येताओं और विद्वानों ने यह महसूस किया कि, यदि राजनीतिक घटनाओं एवं संस्थाओं के गत्यात्मकता और उसके साथ विषय में जुड़ने वाले नवीन आयामों का अध्ययन करना है तो राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में राज्य रूपी संस्था के अत्यधिक महत्व को कम करना होगा। राजनीति शास्त्र के गत्यात्मक तत्वों जैसे सामाजिक प्रक्रिया एवं राजनीतिक प्रक्रिया के अंतःसंबंधों, उनको प्रभावित करने वाली संरचनाओं एवं उनकी पद्धतियों, एक इकाई के रूप में राजनीतिक व्यवहार और पर्यावरण (राजनीतिक) से उसके अंतःसंबंधों का निरूपण एवं उसके अध्ययन को केन्द्र में लाना होगा, तभी एक समग्र अवधारणा का विकास एवं उसका अध्ययन संभव हो सकेगा।

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए व्यवस्था सिद्धांत की अभिप्रेरणा 'सामान्य व्यवस्था सिद्धांत' से प्राप्त होती है। सामान्य व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक लुडविग वान बर्टलनफी ने किया था। उन्होंने समस्त प्राकृतिक विज्ञानों के समायोजन पर जोर दिया था। प्राकृतिक विज्ञान से समाज विज्ञान के विषय, विशेष रूप से मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा नृविज्ञान तथा तत्पश्चात राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में भी इसका लगातार प्रयोग किया जाने लगा। अमरीकन राजनीतिशास्त्रियों जैसे डेविड ईस्टन, गैब्रियल आमण्ड, मार्टन काप्लान आदि के नाम इसमें प्रमुखता से लिए जा सकते हैं। व्यवस्था सिद्धांत को आधुनिक राजनीतिक संरचनाओं और उनकी प्रक्रियाओं को समझने के लिए, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के एक सर्वमान्य उपकरण के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इसी व्यवस्था सिद्धांत के आधार को स्वीकार करते हुए कालांतर में अनेक नए आयामों को सम्मिलित करते हुए इसको विकसित करने का सफल प्रयास किया गया।

राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए 'व्यवस्था' की अवधारणा को समझना भी समीचीन होगा। 'व्यवस्था' (system) शब्द भौतिक विज्ञान से लिया गया है जिसका अर्थ सुपरिभाषित अंतर-क्रियाओं के ऐसे समूह से है जिसकी सीमाएं निर्धारित की जा सकें। व्यवस्था की अवधारणा में विभिन्न समूह अंतःक्रिया और समन्वय की प्रक्रिया से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और एक सीमा में पर्यावरण से प्रभावित होते और पर्यावरण को प्रभावित करते हुए स्थायित्व स्थापित करने का यत्न करते हैं। किसी भी व्यवस्था के अंतर्गत उसके विभिन्न अंग समन्वय की प्रक्रिया में एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और एक सांगठनिक स्वरूप का निर्माण करते हैं। जहां भी संगठन अथवा उसके गुण पाए जाते हैं जिसमें उसकी विभिन्न इकाईयां एक दूसरे से सम्बद्ध होकर, समन्वय स्थापित करते हैं वहां व्यवस्था पायी जाती है। राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं के ये समस्त गुण, राजनीतिक व्यवस्था के रूप में राजनीतिक विकास और उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं और उसके तत्वों को समझने में सहायक सिद्ध हुए। राजनीतिक व्यवस्था में, विभिन्न राजनीतिक संरचनात्मक तत्व एक दूसरे से सम्बद्ध होकर और परस्पर अंतःक्रिया करते हुए एक निश्चित पर्यावरण में कार्य करते हैं। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा सामान्य रूप से सभी जगह बराबर रूप से लागू होती हैं जहां भी किसी प्रकार का राजनैतिक क्रिया कलाप दृष्टिगत होता है। यहां, यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि, बहुत बार एक व्यवस्था के अंतर्गत भी अनेक व्यवस्थाएं कार्य करती हुयी दिखायी देती हैं जिन्हें हम उप-व्यवस्था के रूप में पहचान सकते हैं। कोई भी मानवीय व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था बन जाती है यदि उसके अंतर्गत शक्ति, सत्ता, नियम एवं नियंत्रण के तत्व दिखायी देने लगते हैं। राजनीतिक संगठन एवं व्यवस्था अन्य संगठनों से इस रूप में भिन्न होते हैं कि, इसमें सत्ता और नियम विद्यमान रहते हैं जबकि अन्य में उनका अभाव रहता है अथवा नगण्य रूप में होता है। व्यवस्था के तीन गुण सामान्य रूप से सभी व्यवस्थाओं में सर्वव्यापक रूप से पाए जाते हैं-

1. व्यापकता (Comprehensiveness)
2. अन्योन्याश्रय (Interdependence) तथा
3. सीमाएं (Boundaries)।

व्यापकता- व्यापकता का अर्थ यह है कि, किसी भी व्यवस्था के अंतर्गत उसके संरचनात्मक तत्वों के अतिरिक्त भी वो समस्त तत्व जो किसी भी रूप में उसकी प्रक्रिया का हिस्सा होते हैं अथवा किसी भी रूप में उससे सम्बद्ध होते हुए उससे प्रभावित होते हैं अथवा प्रभावित करते हैं, उस व्यवस्था का हिस्सा होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में, राजनीतिक संरचनाओं के अतिरिक्त उसकी विभिन्न प्रक्रियाएं, जाति, धर्म, परिवार, सामाजिक घटनाएं आदि भी उसका हिस्सा होती हैं।

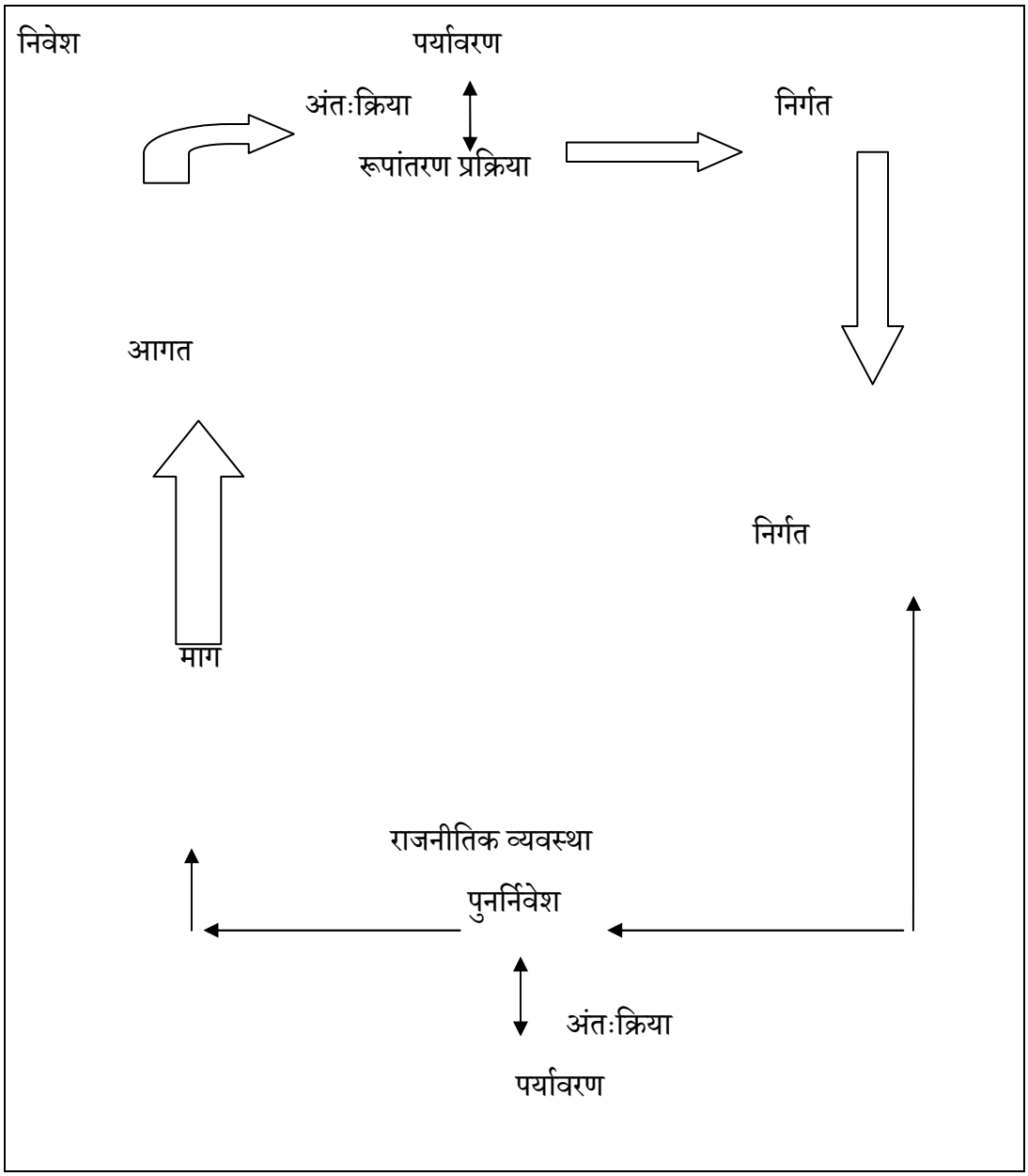

सामान्य राजनीतिक व्यवस्था रेखाचित्र

अन्योन्याश्रय- अन्योन्याश्रय का अर्थ है परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होना। व्यवस्था के अंतर्गत एक अंग के गुणों में परिवर्तन का प्रभाव दूसरे संघटकों पर स्वभाविक रूप से पड़ता है जिसे अन्योन्याश्रिता कहते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में भी एक घटक के परिवर्तन का प्रभाव स्वभाविक रूप से दूसरे घटकों पर परिलक्षित होता है। सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट रूप से राजनैतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं पर देखा जा सकता है।

सीमाएं- सीमा से आशय है कि, प्रत्येक व्यवस्था किसी निश्चित बिन्दु से प्रारम्भ होकर किसी निश्चित बिन्दु तक रहती है जिसके अंदर ही उसकी समस्त अंतःक्रियाएं सम्पादित होती हैं। ऐसा बिन्दु जहां पर अन्य व्यवस्थाओं की परिधि समाप्त होती है और राजनैतिक संरचनाओं और इकाईयों की गतिविधियां प्रारम्भ होती हैं, राजनीतिक व्यवस्था की सीमा कहलाती है।

8.5 राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताएं

आधुनिक राजनीति विज्ञान के विकास में व्यवस्था विश्लेषण ने निर्विवाद रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। एक विश्लेषण के उपकरण के रूप में व्यवस्था विश्लेषण ने राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं को समझने का न सिर्फ नवीन आयाम प्रदान किया है अपितु इसको प्रभावित करने वाले और राजनीतिक विकास को उसकी गतिशीलता में समझने का सार्वभौमिक आधार प्रदत्त किया है। राजनीतिक व्यवस्था को समझने में आधुनिक राजनीतिक विज्ञानियों की निम्न परिभाषाएं सहायक होंगी।

राबर्ट डहल के अनुसार, ''राजनीतिक व्यवस्था मानव सम्बन्धों का वह स्थायी संरूप है जिसके अंतर्गत शक्ति, नियम और सत्ता महत्वपूर्ण मात्रा में निहित हों।'' डेविड ईस्टन के अनुसार, ''राजनीतिक व्यवस्था किसी समाज में अंतःक्रियाओं की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से बाध्यकारी या सत्तात्मक आवंटन निर्मित एवं कार्यान्वित होते हैं।'' औरन यंग राजनीतिक व्यवस्था को एक परिवर्तन प्रक्रिया मानते हैं जो कार्य करती है, निर्गत उत्पन्न करती है और पर्यावरण को परिवर्तित करती है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था और उसके पर्यावरण में गतिशील प्रक्रिया के प्रचलन के आधार पर निरंतर आदान-प्रदान होता रहता है।'' आमण्ड तथा पावेल के अनुसार ''राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत न केवल सरकारी संस्थाएं जैसे विधान मण्डल, न्यायालय तथा प्रशासनिक अभिकरण सम्मिलित हैं, बल्कि सभी संरचनाओं के राजनीतिक रूप आते हैं।'' उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था की निम्न विशेषताओं को निर्दिष्ट किया जा सकता है-

1.बृहद सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत, राजनीतिक व्यवस्था सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो अन्य सामाजिक संरचनाओं को भी प्रभावित करती है। अरस्तू की परिभाषा भी व्यक्ति को स्वभाविक रूप से एक राजनीतिक प्राणी के रूप में चिन्हित करता है और एक राजनैतिक इकाई के रूप में उसकी भूमिका सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य हिस्सा है।

2.राजनीतिक व्यवस्था समाज के भीतर मनुष्य के उन अंतःसंबंधों को व्यक्त करता है जिनके आधार पर मनुष्य यह निर्णय करता है कि, किन आकांक्षाओं और उद्देश्यों को सार्वजनिक नीतियों का रूप देते हुए उसका क्रियान्वयन किया जाय।

3.राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत औपचारिक के साथ साथ अनौपचारिक प्रक्रियाओं और भूमिकाओं का भी अध्ययन किया जाता है।

4.कोई भी मानवीय संबंधों की संरचना राजनीतिक व्यवस्था का रूप धारण कर लेती है, यदि उसके अंतर्गत शक्ति, सत्ता, नियंत्रण एवं नियम के तत्व प्रभावी रूप में दिखायी देते हैं।

इसके अतिरिक्त भी राजनीतिक व्यवस्था की निम्न विशेषताएं सार्वभौमिक रूप से सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में पायी जाती हैं-

1.राजनीतिक संरचनाओं की समानता- समस्त राजनीतिक वयवस्थाओं में अनिवयर्यतः कुछ राजनीतिक संरचना पायी जाती है। इन संरचनाओं में परस्पर तुलना की जा सकती है। इन संरचनाओं में विभेद का अंतर केवल विशिष्टीकरण का होता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में हितों के निर्धारण के साथ-साथ उनका मांग के रूप में व्यवस्था में प्रवेश, रूपांतरण की प्रक्रिया और नीतियों नियमों के रूप में निर्गत के रूप में पुनः पर्यावरण में प्रवेश, सामान्य रूप से पाए जाते हैं। ये विभिन्न कार्य एक दूसरे से पृथक-पृथक संरचनाओं अथवा मिश्रित रूप में भी हो सकते हैं, किन्तु ये संरचनाएं अनिवार्य रूप से सभी राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान होते हैं।

2.कार्यों की सर्वव्यापकता- राजनीतिक व्यवस्था में कुछ निश्चित कार्य एक बराबर रूप से पाए जाते हैं। हितों के निर्धारण से लेकर निर्गत प्रक्रिया और उनके मध्य अंतःक्रिया प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के कार्य के रूप में सर्वव्यापक रूप से पाए जाते हैं।

3.राजनीतिक संरचना की विविधता- राजनीतिक व्यवस्था में निश्चित निर्दिष्ट कार्यों को करने के लिए कुछ निश्चित संरचनाएं विद्यमान रहती हैं, जो अपने विशिष्ट कार्य की प्रकृति के कारण एक पृथक स्वरूप में दिखायी देती हैं जैसे कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका। कई बार इन संरचनओं के कार्य मिश्रित स्वरूप में भी दिखायी देते हैं।

4.राजनीतिक संरचनाओं का मिश्रित स्वरूप- कोई भी राजनीतिक व्यवस्था अपने विविध इकाईयों से अपनी अंतःक्रियाओं के कारण एक दूसरे से जुड़ी होती है। अंतःक्रियाओं के कारण कई बार राजनीतिक संरचनाओं का स्वरूप मिश्रित रूप में दृष्टिगोचर होता है।

5.वैधता का अर्जन- किसी भी व्यवस्था की तरह, राजनीतिक व्यवस्था भी अपने स्थायित्व का निरंतर प्रयास करती है और इस प्रयास में वह अपने पर्यावरण से समर्थन प्राप्त कर, अपने नीतिगत निर्णयों एवं अन्य निर्गतों के लिए वैधता अर्जित करती है।

6.राजनीतिक व्यवस्था के भागों में अंतःनिर्भरता- राजनीतिक व्यवस्था के विविध अंगों की परस्पर अंतःनिर्भरता उसे एक व्यवस्था का स्वरूप प्रदान करती है। विविध अंगों का समन्वय और उनकी अन्योन्याश्रिता राजनीतिक व्यवस्था को एक इकाई के रूप में परिणित करती है।

7.राजनीतिक व्यवस्था की सीमा- किसी भी व्यवस्था की तरह राजनीतिक व्यवस्था भी एक सीमा के अंदर कार्य करता है, जो किसी निश्चित बिन्दु से प्रारम्भ होकर निश्चित सीमा के अधीन होता है।

8.राजनीतिक व्यवस्था द्वारा बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग- राजनीतिक व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता, उसके अंदर एक बाध्यकारी शक्ति का पाया जाना होता है जो सत्ता के द्वारा विविध कार्यों को करते हुए, राजनीतिक व्यवस्था के लिए आवश्यक नियंत्रण स्थापित करता है।

8.6 उपादेयता और सीमाएं

व्यवस्था विश्लेषण की अवधारणा जो कि प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धांत से अभिप्रेरित है समाज विज्ञान के विषयों, विशेष रूप से राजनीति विज्ञान की अवधारणा को समग्र दृष्टि प्रदान करते हुए, इस विषय को आधुनिक रूप प्रदान करने एवं विश्लेषण के उपकरण के रूप में समझने का यत्न है। इस उपागम से समाज के विभिन्न तत्वों की अंर्तनिर्भरता पर ध्यान आकर्षित किया गया है, जिसके परिणाम स्वरूप अन्तःनिर्भरता व अन्तःक्रियाओं को नियन्त्रित किये जाने वाले नियमों की खोज की जाने लगी, विशेष रूप से राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में। इस अवधारणा ने एक सामान्य सिद्धान्त के दिशा-निर्देश बनाने का प्रयास किया है जिसके माध्यम से इस विषय की बेहतर समझ विकसित करते हुए, इसके परिवर्तनकारी कारकों एवं गत्यात्मकता को विश्लेषित करते हुए नवीन सिद्धांतों की पहचान हो सके।

व्यवस्था विश्लेषण ने यद्यपि एक विश्लेषण के उपकरण के रूप में समाज विज्ञान सहित, राजनीतिक विज्ञान को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है तथापि इसकी सबसे बड़ी सीमा यह है कि, यह पूरी राजनीतिक व्यवस्था को एक उपकरण अथवा मशीन के रूप में देखता है। यह कोई मानकीकृत सिद्धांत प्रतिपादित न करते हुए, मात्र तथ्यपरक विश्लेषणात्मक उपकरण के रूप में ही कार्य करता है। दूसरी जो बड़ी कमी इस अवधारणा को लेकर है वह है, इसकी सीमाओं के निर्धारण की। समाज विज्ञान के विषयों की व्यापकता और परस्पर एक दूसरे से गुंथा होना, इन विषयों के विश्लेषण और व्यवस्था सिद्धांत के रूप में इसकी सीमाओं का स्पष्ट निर्धारण करने में इसकी कमी के रूप में दिखायी देती है। तथापि अपनी सीमाओं के बावजूद भी व्यवस्था सिद्धांत ने राजनीतिक सिद्धांत के विकास में एवं उसको आधुनिक बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

अभ्यास प्रश्न

1.राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए व्यवस्था सिद्धांत की अभिप्रेरणा किस सिद्धांत से प्राप्त होती है।

2.सामान्य व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन किस प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक ने किया था ?

3.किस राजनीतिक विचारक ने, राजनीतिक व्यवस्था को मानव सम्बन्धों का वह स्थायी संरूप माना है जिसके अंतर्गत शक्ति, नियम और सत्ता महत्वपूर्ण मात्रा में निहित हों ?

4.अंतःक्रिया एवं अंतःनिर्भरता राजनीतिक व्यवस्था का आवश्यक गुण है। यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

8.7. सारांश

व्यवस्था विश्लेषण ने राजनीतिक प्रक्रियाओं और संरचनाओं को समझने का एक नवीन आयाम प्रदान किया है। राजनीतिक सिद्धांत को परम्परावादी अवधारणा से आधुनिक अवधारणा की तरफ ले जाने में व्यवस्था विश्लेषण का महत्वपूर्ण योगदान है। व्यवस्था विश्लेषण के द्वारा राजनीतिक प्रक्रियाओं और उसकी गत्यात्मकता को समझने में सहायता प्राप्त हुयी तथा आधुनिक एवं नवीन अवधारणाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। व्यवस्था सिद्धांत ने राजनीतिक व्यवस्था को समाज के अन्य घटकों के सापेक्ष समग्रता में विश्लेषित करने का यत्न किया। वर्तमान आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के विकास में व्यवस्था विश्लेषण के सिद्धांत ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

8.8. शब्दावली

व्यवस्था- यह शब्द भौतिक विज्ञान से समाज विज्ञान में लिया गया है। व्यवस्था का अर्थ सुपरिभाषित अंतर-क्रियाओं के ऐसे समूह से है जिसकी सीमाएं निर्धारित की जा सकें। व्यवस्था की अवधारणा में विभिन्न समूह अंतःक्रिया और समन्वय की प्रक्रिया से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और एक सीमा में पर्यावरण से प्रभावित होते और पर्यावरण को प्रभावित करते हुए स्थायित्व स्थापित करने का यत्न करते हैं।

मांग- किसी राजनीतिक व्यवस्था में पर्यावरण द्वारा कुछ निश्चित नियमों, सेवा अथवा वस्तु की अपेक्षा में अपने विचारों को राजनीतिक व्यवस्था में सम्प्रेषित करना, राजनीतिक व्यवस्था की मांग कहलाती है।

रूपांतरण- राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत जिस प्रक्रिया द्वारा विविध मांगों को निर्णयन की स्थिति में लाया जाता है उसे रूपांतरण कहा जाता है।

निर्गत- राजनीतिक व्यवस्था में मांग और समर्थन के सापेक्ष, रूपांतरण की प्रक्रिया द्वारा नियम, विनियम, विधि, व्यवस्था, वस्तु आदि के रूप में जो भी सरकार द्वारा प्रदत्त किया जाता है, उसे निर्गत कहा जाता है।

पर्यावरण- जिस राजनीतिक वातावरण और व्यवस्था में समस्त संरचनाएं कार्य करती हैं और मांग,समर्थन, रूपांतरण सहित पुर्ननिवेश की समस्त प्रक्रियाएं सम्पादित होती हैं, उसे राजनीतिक व्यवस्था का पर्यावरण कहा जाता है।

अन्योन्याश्रय- अन्योन्याश्रय का अर्थ है परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होना। व्यवस्था के अंतर्गत एक अंग के गुणों में परिवर्तन का प्रभाव दूसरे संघटकों पर स्वभाविक रूप से पड़ता है जिसे अन्योन्याश्रिता कहते हैं।

8.9.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए व्यवस्था सिद्धांत की अभिप्रेरणा 'सामान्य व्यवस्था सिद्धांत' से प्राप्त होती है।

2.सामान्य व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक लुडविग वान बर्टलनफी ने किया था।

3.राबर्ट डहल ने राजनीतिक व्यवस्था को मानव सम्बन्धों का वह स्थायी संरूप माना है जिसके अंतर्गत शक्ति, नियम और सत्ता महत्वपूर्ण मात्रा में निहित हों।

4.यह कथन सत्य है।

8.10.संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.तुलनात्मक शासन एवं राजनीति, जैन

2.तुलनात्मक राजनीति, जे0 सी0 जौहरी

3.तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं

8.11.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.कम्पेरेटिव पॉलिटिक्सः ए डेवलेपमेन्टल एप्रोच, ऑमण्ड एवं पॉवेल

2.कम्यूनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलेपमेन्ट, लूसियन पाई

3.मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, एस0 पी0 वर्मा

8.12.निबंधात्मक प्रश्न

1.राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में व्यवस्था विश्लेषण सिद्धांत की विवेचना करें।

2.व्यवस्था विश्लेषण सिद्धांत मानवीकीय विषयों और विशेष रूप से राजनीति विज्ञान विषय के विश्लेषण के उपकरण के रूप में कहाँ तक उपयुक्त है? समालोचना करें।

3.व्यवस्था विश्लेषण सिद्धांत के विशेषताओं का उल्लेख करते हुए, इसकी उपादेयता एवं सीमाओं की विवेचना करें।

इकाई - 9 निवेश निर्गत विश्लेषण (डेविड ईस्टन)

इकाई की संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 विश्लेष्णात्मक अवधारणा

9.4 निवेश निर्गत विश्लेषण

9.5 निवेश निर्गत विश्लेषण के तत्व

9.6 उपादेयता और सीमाएं

9.7 सारांश

9.8. शब्दावली

9.9.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.10.संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.11.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

9.12.निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने में जिस अवधारणा ने अपना सर्वाधिक योगदान दिया, वह डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था का सिद्धांत था। डेविड ईस्टन कनाडाई मूल के अमेरिकी राजनीति विज्ञानी थे, जो कि अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर थे। डेविड ईस्टन ने व्यवस्था सिद्धांत और निवेश-निर्गत विश्लेषण की अवधारणा का प्रतिपादन कर राजनीति विज्ञान को अपना अमूल्य योगदान दिया। डेविड ईस्टन ने न सिर्फ अपने राजनीतिक सिद्धांतों से 1950 के दशक में व्यवहारवादी सिद्धांतों और अवधारणओं को बल प्रदान किया अपितु 1970 के दशक के उत्तर व्यवहारवाद में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान दिखायी देता है।

व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन 1953 में डेविड ईस्टन ने अपने प्रसिद्ध लेख 'द पोलिटिकल सिस्टम: एन इन्क्वायरी इनटू द स्टेट ऑफ पोलिटिकल (*The Political System: An Inquiry into the State of Political Science*) में राजनीति विज्ञान के विश्लेषण के सिद्धांत के रूप में किया। यद्यपि 'व्यवस्था' की अवधारणा का प्रयोग इसके पूर्व समाजशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे विषयों में हो चुका था, किन्तु राजनीति विज्ञान के विश्लेषण के संदर्भ इसका बेहतर प्रयोग डेविड ईस्टन के ही सिद्धांत द्वारा संभव हो सका। इस विषय को आधुनिक कलेवर देने का श्रेय अधिकांशतः तुलनात्मक राजनीति की धारा को जाता है, जिसमें व्यवस्था सिद्धांत सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कालांतर में ईस्टन ने अपने विविध कृतियों जैसे 'एन एप्रोच टू द एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल सिस्टम'(1953), ए फ्रेमवर्क फॉर पोलिटिकल एनालिसिस'(1965), और 'ए सिस्टम एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ' (1965) द्वारा व्यवस्था सिद्धांत को और पुष्ट किया। व्यवस्था सिद्धांत ने राजनीति की प्रक्रिया को समझने का एक सरल सार्वभौमिक आधार प्रदान किया जो एक समान रूप से किसी भी राजनीतिक प्रक्रिया को समझने में सहायक है। ईस्टन ने राजनीतिक विश्लेषण के क्षेत्र में एक सामान्य सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण एक पैमाने पर किया जा सकता है। ईस्टन के व्यवस्था सिद्धांत के द्वारा जहाँ विकसित राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं को विश्लेषित किया जा सकता है, वहीं अर्द्ध विकसित अथवा विकासशील व्यवस्था को भी उसी व्यवस्था सिद्धांत के द्वारा विश्लेषित किया जा सकता है। व्यवस्था सिद्धांत जहाँ राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के विश्लेषण में सहायक है वहीं उसके द्वारा स्थानीय स्तर पर भी समस्याओं का विश्लेषण किया जा सकता है। डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा ने राजनीतिक व्यवस्था को समझने का एक सरल सार्वभौमिक आधार प्रदान किया, जोकि राजनीति को 'मूल्यों के आधिकारिक आवंटन' के रूप में ही देखती है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- राजनीति विज्ञान के संदर्भ में व्यवस्था विश्लेषण की अवधारणा को बेहतर रुप से समझ सकेंगे।
- डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को जान सकेंगे।
- राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में आगत, निवेश, रूपांतरण और निर्गत की प्रक्रिया को जान सकेंगे।
- राजनीतिक व्यवस्था के तहत नीतिगत निर्माण की अंतः प्रक्रियाओं को समझ सकेंगे।
- राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य और सार्वभौमिक तत्वों को पहचान सकेंगे।

9.3 विश्लेष्णात्मक अवधारणा

डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा विश्लेषण के एक उपकरण के रूप में राजनीतिक प्रक्रियाओं को उनके सूक्ष्म स्तर पर समझने का यत्न है। ईस्टन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत दो अर्थों में सामान्य है-

प्रथम, ईस्टन इस विचार को स्वीकार नहीं करता है कि, अलग-अलग राजनीतिक संरचनाओं उनकी प्रक्रियाओं और समस्याओं के विश्लेषण के लिए अलग-अलग सिद्धांत होने चाहिए, अपितु एक ही सिद्धांत सार्वभौमिक रूप से सभी स्तरों पर लागू होना चाहिए। दूसरा ईस्टन का यह मानना है कि, राजनीतिक सिद्धांत का मुख्य कार्य उन सामान्य समस्याओ, सिद्धांतों और प्रक्रिया का विश्लेषण करना है जो समस्त राजनीतिक व्यवस्थाओं में एक समान रूप से पायी जाती है।

9.4 निवेश निर्गत विश्लेषण

डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था का निवेश-निर्गत विश्लेषण आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था का आधार है। ईस्टन ने राजनीतिक सिद्धांत को एक व्यवस्थित और सुसंगत विश्लेषण का आधार प्रदान किया है। ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का एक जटिल समूह है जो समाज के भीतर आधिकारिक मूल्यों का आवंटन और विनियोजन करता है। राजनीतिक व्यवस्था अंतः क्रियाओं का एक समूह है जिसके अंतर्गत आगत मांगों को निर्गत में बदला जाता है।

राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन का महत्व इस रूप में है कि, राजनीतिक व्यवस्था के तहत सत्ता, पर्यावरण से प्राप्त मांगों को किस प्रकार रूपांतरित करती है और उसका समाज पर किस प्रकार का

प्रभाव पुनः दृष्टिगत होता है। व्यवस्था के तहत किस प्रकार विभिन्न इकाईयों की अंतःक्रियाएं एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा अधिकारपूर्ण निर्णयों और उनके आधिकारिक आवंटन का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ता है, और इसके प्रभाव का विश्लेषण भी इस अवधारणा के द्वारा प्रभावी रूप से किया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था के सत्ता द्वारा रूपांतरण की प्रक्रिया से प्राप्त परिणामों को उस राजनीतिक व्यवस्था का निर्गत अथवा प्रदा कहा जाता है। किसी व्यवस्था में निर्गत की प्रक्रिया, उसके आगत अथवा आदा पर निर्भर करती है।

व्यवस्था को चलायमान बनाए रखने के लिए एक निश्चित संतुलन के साथ व्यवस्था की विभिन्न इकाईयों का कार्य करना आवश्यक है। आगत (Input)के बिना कोई व्यवस्था कार्य नहीं कर सकती और उससे होने वाला निर्गत (Output) उस व्यवस्था का लक्ष्य अथवा उद्देश्य। निर्गत अथवा प्रदा ही किसी राजनीतिक वयवस्था का आधार होती है जिसके द्वारा किसी राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को जाना जा सकता है। मूल्यों का आधिकारिक आवंटन और आधिकारिक निर्णय के साथ उनका वियोजन के द्वारा समर्थन प्राप्त करना ही राजनैतिक व्यवस्था के वैधानिकता का आधार है।

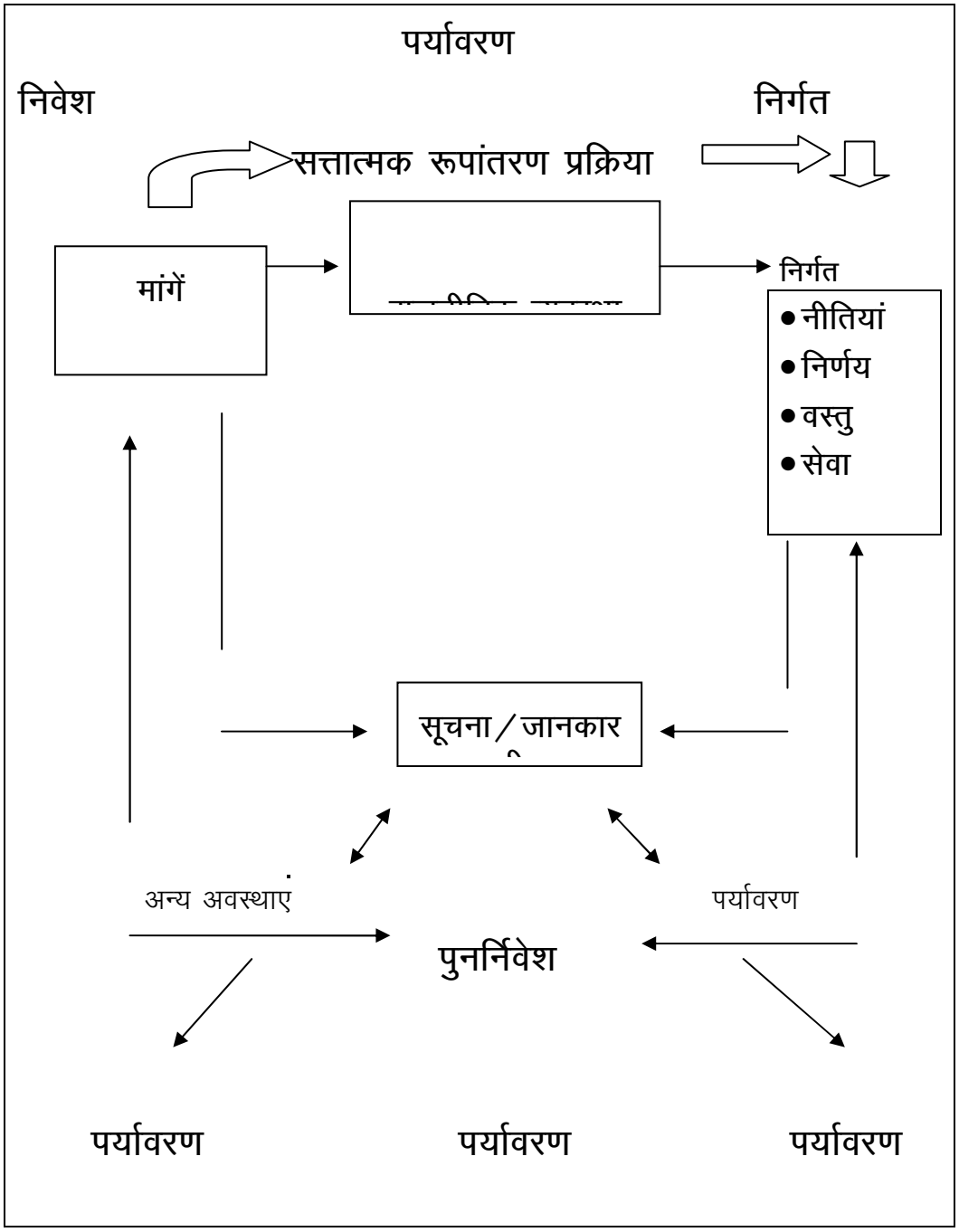

डेविड ईस्टन का निवेश निर्गत मॉडल

9.5 निवेश निर्गत विश्लेषण के तत्व

व्यवस्था सिद्धांत के निवेश-निर्गत विश्लेषण की विशेषताओं को उसके विभिन्न इकाईयों के रूप में समझना अपेक्षाकृत आसान होगा। निवेश-निर्गत विश्लेषण के निम्नलिखित तत्व इसकी विशेषताओं को भी इंगित करते हैं।

आगत (**Input**) - आगत अथवा आदा का अभिप्राय मांग तथा समर्थन से है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में पर्यावरण से कुछ मांगें रखी जाती हैं तथा उन मांगों के सापेक्ष रूपांतरण द्वारा निर्णय करने के निमित्त, व्यवस्था से कुछ समर्थन दिया जाता है। समर्थन उस राजनीतिक व्यवस्था में अपने निर्णयों के निमित्त दबाव बनाने अथवा उसके प्रति आकर्षित करने के निमित्त प्रयोग में लाया जाता है। राजनीतिक व्यवस्था को प्राप्त समर्थन, उसके लिए वैधता स्थापित करता है। इसके साथ ही समर्थन, राजनीतिक तंत्र को विभिन्न प्रकार की मांगों के दबाव से निपटने की शक्ति प्रदान करता है क्योंकि राजनीतिक तंत्र का अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर करता है कि, उसे जनता का कितना समर्थन प्राप्त है। मांगों की वैधता तंत्र की क्षमता तथा स्थायित्व को समझने में सहायता करती है। मांग हमें यह समझने में सहायता करती है कि, किस तरह पर्यावरण सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र पर अपना प्रभाव डालता है।

माँग (**Demand**) - माँग मत की अभिव्यक्ति है, जो किसी राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता से पर्यावरण के द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के रूपांतरण की अपेक्षा में व्यक्त की जाती है। माँगें विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं किन्तु राजनैतिक सत्ता सिर्फ उन्हीं माँगों को स्वीकार करती है जो उस राजनैतिक व्यवस्था के अनुकूल हो और जिसको पूरा कर सकने की उसकी क्षमता हो। माँगों की अपनी एक निर्दिष्ट दिशा होती है जिसका बहाव सदैव सत्ता की ओर होता है।

समर्थन (**Support**) - राजनीतिक व्यवस्था को अपने आप को सुचारू रूप से संचालित करने एवं उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों की वैधता स्थापित करने के निमित्त समर्थन की आवश्यकता होती है जो उस राजनैतिक व्यवस्था के पर्यावरण से प्राप्त होती है। राजनीतिक व्यवस्था का स्थायित्व और उस राजनीतिक व्यवस्था की कार्यकुशलता, उसको प्राप्त समर्थन के स्तर और उसकी प्रकृति पर निर्भर करता है। माँगों को औचित्यपूर्ण बनाने में समर्थन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समर्थन ही राजनीतिक व्यवस्था को पर्यावरण से जोड़ती है।

निर्गत (**Output**)- निर्गत, वे उत्पादित वस्तुएं अथवा सेवाएं अथवा नीतियां हैं, जो आगत के रूपांतरण के बाद प्राप्त होती हैं। आगत को समर्थन के सूत्र के साथ राजनैतिक सत्ता तंत्र के समक्ष निर्णयन हेतु रखा जाता है और उन विभिन्न माँगों के सापेक्ष राजनैतिक सत्ता द्वारा लिया गया निर्णय, निर्गत की श्रेणी में आता है।

पुनर्निवेश (**Feedback**) - निर्गत का उद्देश्य, विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उपजी हुयी आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। निर्गत के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में, नीतियों, वस्तुओं और सेवाओं के रूप में नवीन तत्वों के प्रवेश के फलस्वरूप उत्पन्न व्यवस्था के बारे में राजनीतिक व्यवस्था में जो पुनः मत अथवा माँग के रूप में अभिव्यक्ति अथवा प्रतिक्रिया व्यक्त होती है, उसे पुनर्निवेश कहा जाता है। राजनीतिक व्यवस्था के भीतर सम्पादित होने वाले सभी कार्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य पुनर्निवेशन-चक्र का है, क्योंकि इसके द्वारा राजनीतिक कार्यों का चक्र संचालित होता रहता है।

पर्यावरण (**Environment**)- राजनीतिक व्यवस्था सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में अन्य व्यवस्थाओं जैसे कि- आर्थिक, धार्मिक आदि की तरह ही एक उपव्यवस्था है। पर्यावरण द्वारा इसकी अन्य सहयोगी उप-पद्धतियों का बोध होता है। कोई भी व्यवस्था एक निश्चित पर्यावरण में ही कार्य करती है अथवा दूसरे शब्दों में किसी भी व्यवस्था के संचालित होने के निमित्त एक पर्यावरण आवश्यक होता है। आंतरिक सामाजिक पर्यावरण को देखने से यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिक व्यवस्था वातावरण, मानव जनित क्रियाकलापों और सामाजिक पद्धतियों से प्रभावित होता है।

9.6 उपादेयता और सीमाएं

निवेश निर्गत विश्लेषण में ईस्टन ने पुनर्निवेशन की प्रक्रिया को समाहित कर इसे गत्यात्मकता प्रदान की है। यह सिद्धांत राजनीतिक प्रक्रियाओं की गतिशीलता को समझने का यत्न करते हुए उस व्यवस्था में उत्पन्न हो रहे माँगों की प्रक्रिया को समझने का यत्न है। राजनीतिक परिवर्तन और विकास को समझने में इस सिद्धांत से बड़ी सहायता प्राप्त होती है। यह सिद्धांत किसी भी स्तर की राजनीतिक व्यवस्था को समझने और विश्लेषण हेतु उपयुक्त है। इस सिद्धांत ने अपने आप को किसी विशिष्ट राजनीतिक संरचना और व्यवस्था से न जोड़ते हुए, तुलनात्मक विश्लेषण को एक नयी अंतर्दृष्टि प्रदान करते हुए, सार्वभौमिक स्वरूप प्रदान किया है। औरन यंग के अनुसार ''यह सिद्धांत राजनीतिशास्त्रियों द्वारा राजनीतिक विश्लेषण के लिए विकसित सभी क्रमबद्ध सिद्धांतों में सर्वाधिक अन्तर्वेशित सिद्धांत है।''

निवेश-निर्गत सिद्धांत की उपयोगिता और विशेषताओं के बावजूद इसकी कुछ सीमाएं भी दिखायी देती हैं जो विभिन्न आलोचकों के विचारों में भी अभिव्यक्त होता है। पॉल क्रेस के शब्दों में, ''ईस्टन का सिद्धांत राजनीति का सारहीन दर्शन है।'' ग्वीशियानी के अनुसार, ''यह सिद्धांत यथास्थितिवाद को पुष्ट करता है।'' लिप्सन के अनुसार ईस्टन का सिद्धांत 'यांत्रिक व्याख्या' है। ईस्टन के निवेश निर्गत सिद्धांत की कमियों को निम्न रूप में देख सकते हैं-

1.यथास्थितिवाद- ईस्टन का सिद्धांत व्यवस्था को बनाए रखने पर बल देता है, यह व्यापक परिवर्तन और क्रांति का विश्लेषण नहीं करता है।

2.मानवीय तत्व की उपेक्षा- ईस्टन द्वारा व्यवस्था में प्रक्रिया तथा अंतःक्रिया पर विशेष बल दिया गया है, जिससे मानवीय तत्व की उपेक्षा प्रतीत होती है।

3.राजनीतिक तत्व की उपेक्षा- ईस्टन के सिद्धांत में सामाजिक पर्यावरण के विशद और व्यापक तत्वों को समाहित किया गया है, जिससे राजनीतिक तत्व की उपेक्षा का भान होता है। पर्यावरण में उपस्थित अनेक तत्वों को राजनैतिक स्वरूप में मानने में कठिनाई होती है।

यह सिद्धांत अपनी तमाम आलोचनाओं के बावजूद राजनीतिक सिद्धांत को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने के लिए महत्वपूर्ण रूप से उत्तरदायी है। इस सिद्धांत ने तुलनात्मक राजनीति और विश्लेषण की अवधारणा के विकास में नवीन मानदण्ड स्थापित किया है। यथास्थिति को लेकर होने वाली इसकी आलोचना पूर्ण रूपेण सत्य नहीं है क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था के अंदर क्रिया और अंतःक्रिया निरंतर परिवर्तन की प्रक्रिया को गतिशील बनाए रखता है और व्यवस्था के स्थायित्व को भी बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। व्यस्था के अंदर क्रियाएं और अंतःक्रियाएं भी मानवीय तत्वों के कारण ही संभव है, अतैव यह आलोचना भी समीचीन प्रतीत नहीं होता । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के साथ ही अपने अस्तित्व और विकास के लिए एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वहन करता है जिससे कई बार भूमिकाएं मिश्रित स्वरूप में दिखायी देती हैं। विभिन्न अंगों की इकाई के रूप में कार्य करते हुए वह एक राजनैतिक इकाई के रूप में भी कार्य करता है अतएव राजनैतिक तत्वों की उपेक्षा किसी भी व्यवस्था में और विशेष रूप से राजनीतिक व्यवस्था में संभव प्रतीत नहीं होता। ईस्टन द्वारा प्रतिपादित निवेश-निर्गत सिद्धांत ने राजनीतिक सिद्धांतों को एक नए आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने का माध्यम उपलब्ध कराया जिससे भिन्न-भिन्न परिवेश में कार्य रहे राजनीतिक व्यवस्थाओं को एक ही सार्वभौमिक मापदण्ड पर विश्लेषित किया जा सके। इसके साथ कुछ ऐसे सार्वभौमिक तत्वों और प्रक्रियाओं की पहचान की जो समस्त व्यवस्थाओं में सामान्य और अनिवार्य रूप से पाए जाते हों।

अभ्यास प्रश्न

1.डेविड ईस्टन द्वारा व्यवस्था सिद्धांत कब तथा किस लेख द्वारा प्रतिपादित किया गया ?

2.डेविड ईस्टन मूलतः कहाँ का था ?

3.ईस्टन राजनीति को किस रूप में परिभाषित करते हैं ?

4.राजनीतिक व्यवस्था में समर्थन कहाँ से प्राप्त होता है ?

5.राजनीतिक व्यवस्था में रूपांतरण की प्रक्रिया किसके द्वारा सम्पादित की जाती है ?

9.7 सारांश

डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था सिद्धांत, राजनीतिक सिद्धांत के आधुनिकीकरण की दिशा में एक मील का पत्थर है। व्यवस्था सिद्धांत ने न सिर्फ विश्लेषण के निमित्त आधुनिक परिप्रेक्ष्य उपलब्ध कराया, अपितु राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं के कुछ सर्वमान्य सिद्धांतों और तत्वों की भी पहचान की। नीति विश्लेषकों के द्वारा ईस्टन के सिद्धांत के पाँच चरणों यथा - आगत, रूपांतरण, निर्गत, पुनर्निवेश तथा पर्यावरण के द्वारा नीतियों का विश्लेषण और अध्ययन किया जाता है जिससे नीतिगत निर्माण की प्रक्रिया को बेहतर बनाने में सहायता मिल सके। राजनीति की गत्यात्मकता और उसकी विभिन्न अंतःक्रियाओं को भी इस सिद्धांत द्वारा समझ पाने में सहायता प्राप्त हुयी। डॉ0 एस0 पी0 वर्मा ने ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण उपागम की दो विशेषताओं का उल्लेख किया है। प्रथम, इस विश्लेषण पद्धति में सन्तुलन दृष्टिकोण से आगे तक जाकर व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों और गत्यात्मकताओं पर ध्यान दिया गया है। यह व्यवस्था को ऐसी निरंतरता मानता है जिसमें विभिन्न तत्वों और पर्यावरण में अदान प्रदान बना रहता है तथा व्यवस्था की अनुकूलन क्षमता बढ़ती रहती है। दूसरा, इसके द्वारा प्रस्थापित प्रत्ययों, प्रविधियों और अवधारणओं के माध्यम से तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक व्यवस्था का तुलनीय अवलोकन संभव हो पाता है।

ईस्टन ने राजनीति को 'मूल्यों के आधिकारिक आवंटन' के रूप में परिभाषित किया है, इस रूप में मूल्य कितने आधिकारिक हैं और इनका आवंटन किस प्रकार हुआ है, इसको समझने में डेविड ईस्टन का यह निवेश-निर्गत सिद्धांत महत्वपूर्ण है। ईस्टन का राजनीतिक व्यवस्था का यह सिद्धांत निश्चित रूप से राजनीतिक सिद्धांत के विकास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव है।

9.8. शब्दावली

निवेश - राजनीतिक व्यवस्था के अंदर जो मांग और समर्थन विभिन्न माध्यमों/संरचनाओं से आता है, उसे राजनीतिक व्यवस्था का निवेश कहा जाता है।

रूपांतरण- राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत जिस प्रक्रिया द्वारा विविध मांगों को निर्णयन की स्थिति में लाया जाता हैउसे रूपांतरण कहा जाता है।

निर्गत- राजनीतिक व्यवस्था में मांग और समर्थन के सापेक्ष, रूपांतरण की प्रक्रिया द्वारा नियम, विनियम, विधि, व्यवस्था, वस्तु आदि के रूप में जो भी सरकार द्वारा प्रदत्त किया जाता है, उसे निर्गत कहा जाता है।

पर्यावरण- जिस राजनीतिक वातावरण और व्यवस्था में समस्त संरचनाएं कार्य करती हैं और मांग,समर्थन, रूपांतरण सहित पुर्ननिवेश की समस्त प्रक्रियाएं सम्पादित होती हैं, उसे राजनीतिक व्यवस्था का पर्यावरण कहा जाता है।

समर्थन - राजनीतिक व्यवस्था को अपने आप को सुचारू रूप से संचालित करने एवं उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों की वैधता स्थापित करने के निमित्त समर्थन की आवश्यकता होती है जो उस राजनैतिक व्यवस्था के पर्यावरण से प्राप्त होती है।

पुनर्निवेश ; - निर्गत के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में, नीतियों, वस्तुओं और सेवाओं के रूप में नवीन तत्वों के प्रवेश के फलस्वरूप उत्पन्न व्यवस्था के बारे में राजनीतिक व्यवस्था में जो पुनः मत अथवा माँग के रूप में अभिव्यक्ति अथवा प्रतिक्रिया व्यक्त होती है, उसे पुनर्निवेश कहा जाता है। राजनीतिक व्यवस्था के भीतर सम्पादित होने वाले सभी कार्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य पुनर्निवेशन-चक्र का है, क्योंकि इसके द्वारा राजनीतिक कार्यों का चक्र संचालित होता रहता है।

9.9.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.डेविड ईस्टन द्वारा व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन 1953 में प्रकाशित लेख 'एन एप्रोच टू द एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल सिस्टम' में किया गया।

2.डेविड ईस्टन मूलतः कनाडाई मूल का था।

3.ईस्टन राजनीति को 'मूल्यों के आधिकारिक आवंटन' के रूप में परिभाषित करते हैं।

6.राजनीतिक व्यवस्था में समर्थन, पर्यावरण से प्राप्त होता है।

4.राजनीतिक व्यवस्था में रूपांतरण की प्रक्रिया राजनीतिक सत्ता द्वारा सम्पादित की जाती है।

9.10.संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.एन एप्रोच टू द एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल सिस्टम, डेविड ईस्टन

2.तुलनात्मक शासन एवं राजनीति, जैन

3.तुलनात्मक राजनीति, जे0 सी0 जौहरी

9.11.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.कम्पेरेटिव पॉलिटिक्सः ए डेवलेपमेन्टल एप्रोच, ऑमण्ड एवं पॉवेल

2.कम्यूनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलेपमेन्ट, लूसियन पाई

3.मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, एस0 पी0 वर्मा

4.ए फ्रेमवर्क फॉर पोलिटिकल एनालिसिस, डेविड ईस्टन

5.ए सिस्टम एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ, डेविड ईस्टन

9.12.निबंधात्मक प्रश्न

1.ईस्टन द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था सिद्धांत ने राजनीति विज्ञान के सिद्धांत को एक नयी दिशा प्रदान की। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

2.राजनीति मूल्यों का आधिकारिक आवंटन है। इस कथन की समीक्षा करें।

3.ईस्टन द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था सिद्धांत की विशेषताओं और उसकी सीमाओं की विवेचना करें।

4.ईस्टन द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था सिद्धांत, राजनीति विज्ञान के विश्लेषण का सार्वभौमिक सिद्धांत है। व्याख्या करें।

इकाई - 10 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

इकाई की संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 विश्लेष्णात्मक अवधारणा

10.4 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

10.5 उपादेयता और सीमाएं

10.6. सारांश

10.7. शब्दावली

10.8.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.9.संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.10.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

10.11.निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान के विकास के चरण को आधुनिक कलेवर देने का श्रेय अधिकांशतः तुलनात्मक राजनीति की धारा को जाता है। तुलनात्मक राजनीति को यदि, व्यवस्था सिद्धांत ने राजनीति की प्रक्रिया को समझने का एक सरल सार्वभौमिक आधार प्रदान किया तो संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम ने राजनीतिक व्यवस्था को उसकी विभिन्न संरचनाओं और उसकी कार्यप्रणाली तथा उसके प्रभावों के संदर्भ में देखते हुए व्यवस्था सिद्धांत को एक पूर्णता प्रदान की। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम, की प्रेरणा नृविज्ञान से प्राप्त होती है जो अपने अध्ययन में संरचनाओं और उन संरचनाओं के कृत्यों पर बल देता है तथा यह मानता है कि, संरचनाओं का कुछ निश्चित कृत्य ही समस्त व्यवस्था को चलायमान बनाए हुए है और इसलिए संरचनाओं के अस्तित्व और उनके स्थायित्व को समझने के लिए उन कृत्यों और संरचनाओं को जानना आवश्यक है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- राजनीति विज्ञान के संदर्भ में संरचना की अवधारणा बेहतर रुप से समझ सकेंगे।
- राजनीति विज्ञान के संदर्भ में कृत्य की अवधारणा को जान सकेंगे।
- व्यवस्था विश्लेषण सिद्धांत, जिन प्रश्नों के उत्तर देने में सक्षम प्रतीत नही होता, उसका समाधान संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम करने का यत्न करता है।
- संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम, कृत्यों और संरचनाओं के विश्लेषणात्मक उपागम के रुप में एक मूल्यांकनात्मक मॉडल प्रस्तुत करता है।

10.3 विश्लेष्णात्मक अवधारणा

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम, विश्लेषण के एक उपकरण के रूप में राजनीतिक व्यवस्था के संरचनाओं और प्रकार्यों को समझने का यत्न है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के अंर्तगत सरकारों की संरचना एवं कार्यों का विश्लेषण किया जाता है। संरचनाओं के व्यवहार की प्रवृत्ति का विश्लेषण उसके स्थिरता और परिवर्तनशीलता को इंगित करती है। जिन संरचनाओं के निरंतर सम्पादित होने वाले व्यवहारों से संरचना के अस्तित्व को स्थिरता प्राप्त होती है उन क्रियाओं को प्रकार्यात्मक कहते हैं, जबकि इसके विपरीत जिन व्यवहारों से, संरचनाओं की स्थिरता पर प्रश्न लगता है अथवा खतरा होता है, उन्हें दुष्क्रियात्मकता की संज्ञा दी जाती है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम इन्हीं प्रकार्यात्मकता और दुष्क्रियात्मकता के संदर्भों में राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण एवं उनके विकास का मूल्यांकन करता है।

10.4 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

राजनीति विज्ञान में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम को 1960 तक सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के विकास के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपागम माना गया था। यह उपागम ईस्टन के निवेश-निर्गत विश्लेषण से उत्पन्न असन्तोष के कारण अस्तित्व में आया, तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययनों में इसका प्रयोग विशेष रूप से आमण्ड ने किया है। यह उपागम समाज को अलग-अलग भागों में देखने के बजाय उसे एक समग्र के रूप में देखता है। इसमें किसी प्रणाली के हर एक भाग और उपभाग की संरचनाओं और कार्यों एवं इसके प्रकार्यात्मक पक्षों पर बल दिया जाता है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण दो संकल्पनाओं पर आधारित है। पहला संरचना और दूसरा प्रकार्य। संरचना को हम राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों के निष्पादन की व्यवस्था को कह सकते हैं। हर राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों की क्रिया, जिस व्यवस्था के द्वारा की जाती है उस व्यवस्थात्मक संगठन को संरचना का नाम दिया जाता है। संरचना द्वारा यह जरूरी नहीं कि वह एक ही प्रकार के कार्य करे, वह एक साथ कई प्रकार के कार्य कर सकती है। जैसे राजनीतिक दल, राजनीतिक व्यवस्था के भीतर एक संरचना मात्र है जो कई कार्य करते हैं जिसमें जनमत को सरकार को प्रेषित करना, महत्वपूर्ण विषयों पर जनमत तैयार करना, राजनीति व्यवस्था में अधिक से अधिक लोगों को व्यापक पैमाने पर भाग लेने के लिए प्रेरित करना आदि कार्य शामिल है।

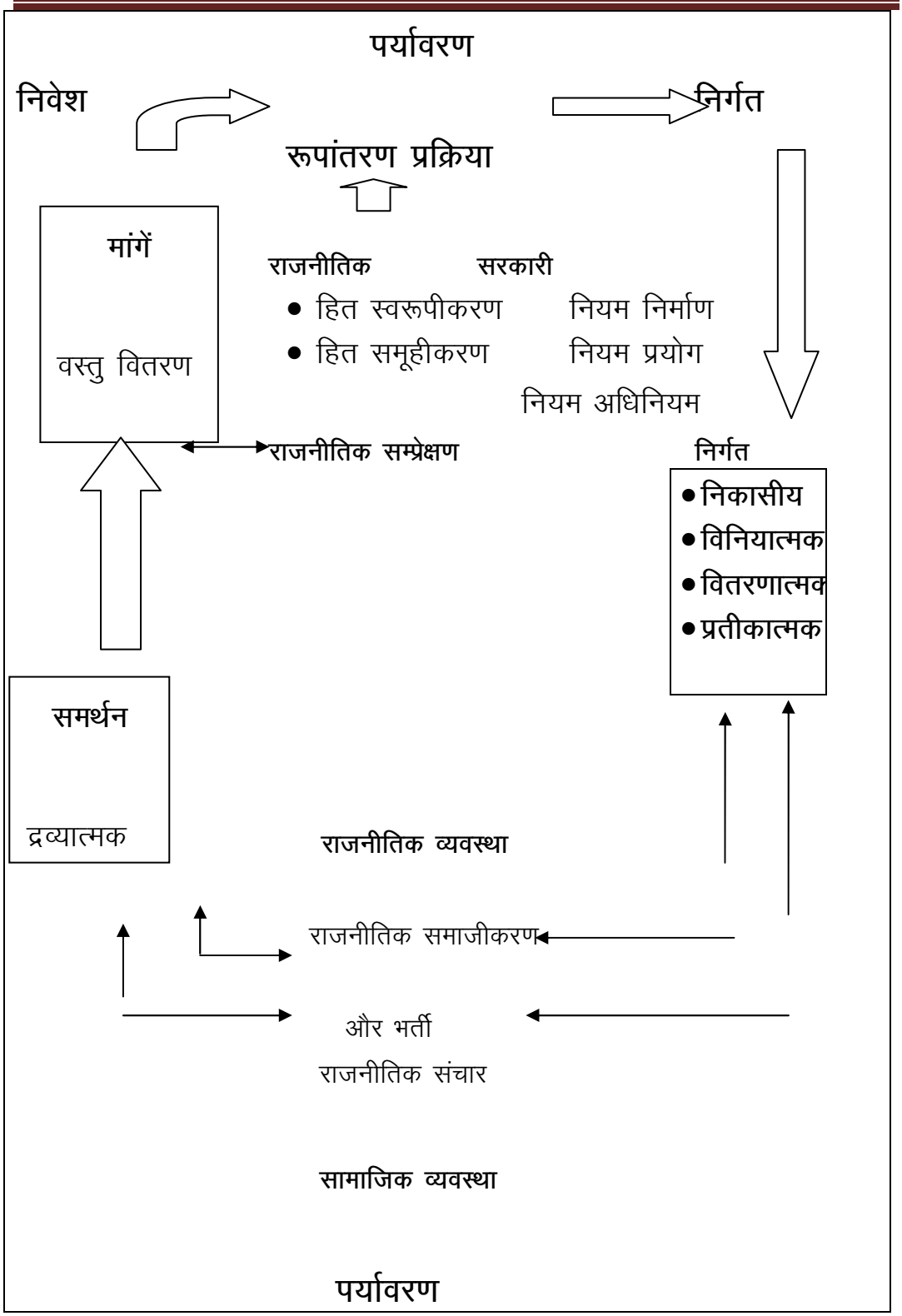
पर्यावरण
निवेश
निर्गत
रूपांतरण प्रक्रिया
मांगें
वस्तु वितरण
राजनीतिक
सरकारी
हित स्वरूपीकरण
हित समूहीकरण
नियम निर्माण
नियम प्रयोग
नियम अधिनियम
राजनीतिक सम्प्रेक्षण
निर्गत
निकासीय
विनियात्मक
वितरणात्मक
प्रतीकात्मक
समर्थन
द्रव्यात्मक
राजनीतिक व्यवस्था
राजनीतिक समाजीकरण
और भर्ती
राजनीतिक संचार
सामाजिक व्यवस्था
पर्यावरण

ऑमण्ड का संरचनात्मक- प्रकार्यात्मक मॉडल

संरचना, वयवस्था के भीतर उन प्रबंधों को बनाती है जो प्रकार्यों का निष्पादन करते हैं। राजनीतिक संदर्भों में जो व्यवस्था काम करती है, उसका एक ढांचा होता है और यह ढांचा (structure) या संरचना अपने आप में एक गतिशील मशीन की भांति कार्य करती है।

प्रकार्यों की संकल्पना के अर्थ को समझाते हुए एस0 पी0 वर्मा की मान्यता है कि, प्रकार्य में तीन बुन्यादी प्रश्न सम्मिलित हैं-

1. किसी व्यवस्था में कौन से बुनियादी कार्य किये जाते हैं ?

2. यह कार्य किस उपकरण से किये जाते हैं ? और

3. किन परिस्थितियों में इन प्रकार्यों का निष्पादन किया जाता है?

मर्टन ने प्रकार्य को परिभाषित करते हुए कहा है- ''प्रकार्य, वे प्रेक्षित परिणाम हैं जो किसी पद्धति के अनुकूल या पुनः समायोजन की व्याख्या करते हैं, और उन प्रेक्षित परिणामों की अपक्रिया (dysfunction) करते हैं जो व्यवस्था के अनुकूल या समायोजन को कम करतें हैं।''

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की विशेषताएं-

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम इस बात की व्याख्या करता है कि कौन सी संरचना, राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत कौन से कार्यों का सम्पादन करती है। यह वस्तुतः व्याख्या और परीक्षण का एक उपकरण है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की मान्यता यह है कि, मनुष्य सुसंगत ढंग से क्रिया करता है और पुरानी क्रियाओं को दोहराता रहता है। जहाँ ईस्टन ने राजनीति व्यवस्था को, 'मांगों-समर्थनों' तथा 'नीतियों, निर्णयों' के रूप में समझने का प्रयास किया है, वहीं ऑमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था को संरचना एवं प्रकार्य के विश्लेषण के रूप में विशेष तरीके से समझने का प्रयत्न किया है। इस कारण से संरचनात्क-प्रकार्यात्मक विश्लेषण की विशेषताएं निवेश, निर्गत विश्लेषण से कुछ भिन्न प्रकार की हो जाती हैं। ऑमण्ड के अनुसार राजनीति व्यवस्था के चार लक्षण है-

1.राजनीतिक व्यवस्था के भागों में आत्मनिर्भरता।

2.राजनीतिक व्यवस्था की सीमा।

3.राजनीतिक व्यवस्था द्वारा बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग।

संरचात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में ऑमण्ड ने संरचनाओं और प्रकार्यों को विश्लेषित करने में राजनीतिक व्यवस्था को ही आधार बनाया है, परन्तु ऑमण्ड इस बात में अधिक आगे बढ़ गया कि,

इसने उन सब संरचनाओं की ओर ध्यान केन्द्रित किया है जो राजनीतिक व्यवस्थाओं को विशेष प्रकृति प्रदान करती हैं।

इस उपागम में यह मानकर चला जाता है कि, राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए व्यवस्था की संरचनाओं का कुछ कार्य या विकार्य अनिवार्यतः निष्पादित होने चाहिए। ईस्टन की भांति आमण्ड भी संरचनाओं और कार्यों को विश्लेषित करने में राजनीतिक व्यवस्था का ही आधार रखता है। इसने उन सब संरचनाओं की ओर ध्यान केन्द्रित किया है जो राजनीतिक व्यवस्थाओं को विशेष प्रकृति प्रदान करती है। 'कार्य' शब्द का व्यवहार भी विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होता है, कुछ संरचनाएं विशिष्ट और स्पष्ट कार्य करती हैं जिसे स्पष्ट कार्य ;डंदपमिेज निदबजपवदेद्ध कहा जाता है जैसे संसद के द्वारा विधि निर्माण, न्यायपालिका द्वारा नीति-निर्णयन आदि। अधिकांशतः संविधानिक व्यवस्थाओं में स्पष्ट कार्यों का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है। इसके विपरीत, संरचनाओं के कुछ कार्य स्पष्ट नहीं होते और उनका पता तब तक नहीं हो पाता जबतक कि उनकी खोज नहीं की जाती। ऐसे कार्यों को अव्यक्त कार्य ;(Latent functions)कहा जाता है।

ऑमण्ड के अनुसार व्यवस्था में संरचनात्मक विभिन्नीकरण या विविधता हो सकती है, दूसरे शब्दों में किसी राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों का संपादन 'अ' प्रकार की संरचनाओं के द्वारा हो सकता है तो किसी अन्य व्यवस्था में इन्हीं कार्यों का निष्पादन 'ब' प्रकार की संरचनाएं का सकती हैं। यहाँ संरचनाओं की समानता मौलिक नहीं है, किन्तु व्यवस्था में बने रहने के लिए प्रकार्यों का एक सा निष्पादन अनिवार्य है। कुछ स्थितियों में कुछ संरचनाएं एक सी प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु उनके कार्यों में बहुत हद तक भिन्नता पायी जाती है, जैसे भारतीय संसद और अमेरिकन कांग्रेस, चीन का साम्यवादी दल और भारत तथा अन्य लोकतांत्रिक देशों के राजनैतिक दल।

संरचनात्मक एकरूपता के स्थान पर इस उपागम में यह स्वीकार किया गया है कि, संस्कृति विशेष के अनुसार संरचनाओं में हेर-फेर या इनका रूप परिवर्तन या उनके स्थान पर नई प्रकार की संरचनाओं का निर्माण हो सकता है। संरचनाएं हर समय केवल प्रकार्य ही करती हो ऐसा इस उपागम में नहीं माना गया है। एक ही संरचना एक समय में प्रकार्य और दूसरे समय में विकार्य करने की स्थिति में धकेली जा सकती हैं। सामान्य तौर पर संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की कुछ सामान्य लक्षणों को निम्नवत देखा जा सकता है-

1.प्रत्येक व्यवस्था में संरचनाएं विद्यमान होती हैं, जिनकी पहचान की जा सकती है।

2.इन संरचनाओं के अंग व्यवस्था के अंतर्गत कार्य करते हैं।

3.व्यवस्था की संरचनाओं के अंगों द्वारा किए गए कार्यों का महत्व,व्यवस्था के कार्यों के परिप्रेक्ष्य में ही है।

4.व्यवस्था की संरचनाओं के अंग कार्य की दृष्टि से अन्योन्याश्रित होते हैं।

5.ठन कार्यों का महत्व उसी समय तक है, जब तक वे व्यवस्था के अंग हैं।

6.व्यवस्था की प्रवृत्ति साम्य (Equillibrium) की ओर होती है।

राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक व्याख्या

ऑमण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था ''अन्तः क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था है जो उन सभी स्वतन्त्र समाजों में पायी जाती है जो, कम व अधिक विधिसम्मत भौतिक बाध्यता को काम में लाते हुए या उसकी धमकी देते हुए एकीकरण और अनुकूलन स्थापित करने के कार्यों में लगे हुए है।'' ऑमण्ड की राजनीतिक व्यवस्था की व्याख्या से तीन बातें स्पष्ट होती हैं जो इस प्रकार है-

(अ) राजनीतिक व्यवस्था का स्थूल घटक है जो पर्यावरण को प्रभावित करता है और स्वयं पर्यावरण से प्रभावित होताहै और विधिसम्मत बल प्रयोग का प्रावधान उसे बनाये रखने का प्रमुख कारण है।

(ब) अन्तःक्रियाएं व्यक्तियों के बीच नहीं किन्तु उनके द्वारा स्वीकृत भूमिकाओं के बीच होती रहती है।

(स) राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसी खुली हुई व्यवस्था है जो अपनी सीमाओं से बाहर स्थित घटकों और व्यवस्थाओं के साथ एक अनवरत् संरचारण सम्बन्ध के द्वारा जुड़ी हुई हैं।

ऑमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक व्यवस्था में ईस्टन के समान ही तीन चरण स्वीकार किये हैं-

(1) राजनीतिक व्यवस्था के निवेश

(2) रूपान्तरण प्रक्रिया तथा

(3) राजनीतिक व्यवस्था के निर्गत।

राजनीतिक व्यवस्था का निवेश प्रकार्य राजनीतिक प्रकृति के प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाऐ होती हैं। ये चार वर्गों में रखी गयी हैं, यथा (1)राजनीतिक समाजीकरण एवं भर्ती, (2)हित स्वरूपण, (3)हित समूहन और (4)राजनीतिक संचार। दूसरे शब्दों में राज व्यवस्था के औपचारिक स्वरूप तक पहुँचने के पहले व्यक्तिओं को राजव्यवस्था के मूल्यों एवं लक्ष्यों में शिक्षित व प्रशिक्षित हो जाना चाहिए। राजव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि, पहले यह लघु स्तर पर विभिन्न मांगों एवं हितों को प्रकट एवं स्पष्ट कर लें। इसके पश्चात व्यापक आधार पर विभिन्न हितों से तालमेल बैठाकर

समूहीकृत किया जाय। इन निवेश प्रकार्यों में राजनीतिक संचरण का महत्वपूर्ण स्थान होता है। संचरण के बिना राजव्यवस्था न बन सकती है और न ही कार्य कर सकती है।

प्रथम निवेश प्रकार्य 'राजनीतिक समाजीकरण' वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृति के मूल्य, विश्वास तथा संवेग, प्रमान और आगामी पीढ़ियों को प्रदान किये जाते हैं। व्यक्ति इसके माध्यम से किसी राजनीतिक घटना के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पर्यावरण का मूल्यांकन करता है। यही प्रक्रिया व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की राजनीतिक मनोवृत्तियों तथा मूल्यों का निर्धारण करती है।

समाजीकरण की शैली विशिष्ट या विस्तृत हो सकती हैं। इसका संचार राजनीतिक संरचनाओं की विभिन्नीकृत और विशिष्ट प्रकृति हो सकता है। उसका स्वरूप सार्वभौमिक या एकदेशीय जैसे रक्त सम्बन्ध, हित समूह दल आदि की गतिविधियां हो सकती हैं। ये विभिन्न प्रकार्य, विभिन्न प्रकार तथा मात्रा में निष्ठाएं उत्पन्न करते हैं। विकसित और विकासशील प्रकार्यों में यह द्वितीयक एवं विशिष्ट संरचनाओं द्वारा विशिष्ट एवं अभिव्यक्त व्यक्तिकार्यों ;तवसमद्ध के रूप में हो सकता है।

राजनीतिक समाजीकरण की संधिरेखा पर ही राजनीतिक भर्तीकरण का प्रकार्य अवस्थित है। वह व्यवस्था के सदस्यों को समाजीकरण के आधार पर विभिन्न व्यक्तिकार्यों, पदों निपुणताओं आदि के लिए भर्तीं करता है। वहां से राजनीतिक ज्ञानात्मक मानचित्र मूल्य, प्रत्याशाएं, प्रभाव आदि प्राप्त होते हैं। इस प्रकार राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति के दीक्षा की प्रक्रिया है तथा राजनीतिक भर्तीं राजव्यवस्था के सदस्यों का राजनीति में प्रवेश है।

हित-स्वरूपीकरण मुख्य रूप से किसी व्यवस्था की राजनीतिक सीमाओं को निर्धारित करता है। यह राजनीतिक संस्कृति व राजनीतिक समाजीकरण पर आधारित होता है। इसमें हित अभिव्यक्ति, प्रथम चरण होता है, जिसमें व्यक्ति और समूह अपनी मांगों को राजनीतिक व्यवस्था के ध्यान देने योग्य बनाने के लिए प्रारम्भिक रूप प्रदान करके सत्ताओं को अपने उद्देश्यों के अनुरूप विधियों से संबोधित करते हैं। यह प्रकार्य अभिव्यक्त या अप्रकट, विस्तृत या विशिष्ट, सामान्य या एकदेशीय, साधनात्मक या भावनात्मक शैली से किया जा सकता है।

विभिन्न हितों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर उन्हें पुनः समूहीकृत करना आवश्यक होता है। राजनीतिक व्यवस्था विभिन्न हितों दावों और मांगों का समूहीकरण करके नीति निर्माण करती है। ऑमण्ड की यह मान्यता है कि, हित समूहीकरण सही अर्थो मे निर्णय के लिए या स्थानान्तरण के लिए मांगों के संयुक्तीकरण के माध्यम से अनेक विकल्प प्रस्तुत करना है। हित समूहीकरण का प्रकार्य दो प्रकार से संचालित किया जा सकता हैः

(1) विभिन्न हितों को संयुक्त अथवा समायोजित करके या

(2) एकदेशी नीति के प्रतिमान के प्रति निष्ठा रखने वाले राजनीतिक व्यक्तियों की भर्ती द्वारा।

हित समूहीकरण से व्यवस्था के निर्गत प्रकार्यों को सरल, कार्य कुशल, मापनीय, दायित्वपूर्ण तथा सीमा संधारण (Boundry Maintenance) मे सहायक बनाया जा सकता है।

राजनीतिक संरचरण हर प्रकार की राजनीतिक अंतः क्रियाओं में होता है। संचार की संरचनाओं से ही रूपान्तरण प्रक्रिया के लिए मांग और समर्थन राजनीतिक व्यवस्था में आते हैं और इन्हीं के माध्यम से राजनीतिक रूपान्तरण, राजनीतिक व्यवस्था के निर्गतों के रूप में पहुँचते हैं अतः संचार की संरचनाए निवेशों को रूपान्तरण के लिए ले जाने और रूपान्तरणों को निर्गतों के रूप में राजनीतिक व्यवस्था और अन्य व्यवस्थाओं तथा पर्यावरण में पहुँचाने का कार्य करती है। संचार शैली अभिव्यक्त या अप्रकट, विस्तृत या विशिष्ट, व्यापक या एकदेशीय, भावात्मक तटस्थ या भावात्मक हो सकती है। इसे हम चार दृष्टियों से देख सकते हैं (1)सूचनाओं में समरसता (2)गतिशीलता (3)मात्रा तथा (4) दिशा।

निर्गत प्रकार्यः-

राजनीतिक व्यवस्था में मांग और समर्थन के सापेक्ष, रूपांतरण की प्रक्रिया द्वारा नियम, विनियम, विधि, व्यवस्था, वस्तु आदि के रूप में जो भी सरकार द्वारा प्रदत्त किया जाता है, उसे निर्गत कहा जाता है। नियम निर्माण राजव्यवस्थाएं सदा से करती आयी हैं। पहले इनका धार्मिक, राजतंत्रतीय तथा रूढ़िगत आधार होता था। वर्तमान प्रजातंत्रों में यह कार्य विधान मण्डलों, कार्यपालिकाओं, न्यायपालिकाओं तथा उच्च अधिकारी वर्ग द्वारा किया जाता है। इन्हें नियम निर्माण की संरचनाएं बताया गया है। इनकी शक्तिओं को संविधान या ''विधि के शासन'' की धारणा द्वारा नियंत्रित कर दिया जाता है। किन्तु जनतंत्रात्मक शासन में निर्वाचित संरचना जैसे लोकसभा को सर्वोपरि माना जाता है। व्यवहार में ये संरचनाएं भी दलों, गुटों, दबावसमूहों आदि के निर्देशन में कार्य करती हैं।

नियम प्रयुक्ति राजव्यवस्था का बृहद निर्गत है। यह नियम-निर्माण के पश्चात उसके क्रियान्वयन से संबंधित होता है। आधुनिक राजव्यवस्था में इसके निए नौकरशाही का विशाल संगठन खड़ा किया गया है। इसके अतिरिक्त और भी दूसरी संरचनाएं यह कार्य करती हैं। नियम प्रयुक्ति में नियमों को साधारण रूप से सभी पर लागू कर दिया जाता है।

नियम अधिनिर्णयन (Rule- Adjudication) में उन नियमों को विशेष या व्यक्तिगत मामलों में लागू किया जाता है। राजव्यवस्था के उत्तर जीवन के लिए यह आवश्यक है कि इस अधिनिर्णयन प्रकार्यों को कुशल, योग्य, विशेषज्ञ तथा निष्पक्ष संरचनाओं द्वारा सम्पन्न कराया जाय। इससे राजव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों को निष्पादित करने के लिए प्रायः न्यायालयों का गठन किया जाता है।

राजव्यवस्थाओं का वर्गीकरणः-

आमण्ड ने उपर्युक्त प्रकार्य संवर्गों की तुलनात्मक योजना के अनुसार विकासशील देशों का अध्ययन किया है। संरचनात्मक-प्रकार्यवाद की समस्त अवधारणाओं को काम में लेते हुए उन्होंने विकासशील राजव्यवस्थाओं का वर्णन किया है। ऑमण्ड ने विकासशील देशों का अध्ययन करके 5 प्रारूप प्रस्तुत किये हैं जो इस प्रकार है। -

1.पहले प्रारूप को वे राजनीतिक प्रजातंत्र कहते हैं जैसे जापान, भारत, इजराईल आदि।

2.दूसरा प्रारूप घाना, नाईजीरिया आदि देशों में पाया जाता है इसे वह अभिभावक प्रजातन्त्र कहते हैं। इसके लोकतन्त्र की आकारात्मक संरचनाओं के होते हुए भी कार्यपालिकाओं और सेवीवर्गों में शक्ति के गुण होता है। व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका की स्थिति दुर्बल होती है।

3.तीसरा प्रारूप आधुनिकीकरणशील अल्पतन्त्र है, जिसमें प्रजातन्त्रात्मक संविधान स्थगित रहते हैं और सेवीवर्ग या सेना का प्रभुत्व स्थापित रहता है, जैसे- पाकिस्तान, सूडान आदि।

4.चौथा प्रारूप सर्वाधिकार वादी अल्पतन्त्र है, जैसे- उत्तर कोरिया आदि।

5.पांचवां प्रारूप परम्परात्मक अल्पतन्त्र है जो कि प्रायः राजतन्त्रात्मक, वंश परम्परागत होते हैं। भर्ती का आधार प्रास्थिति एवं रक्तवंश होता है। जैसे- भूटान, सउदी अरब आदि।

आमण्ड के अनुसार विकसित एवं विकासशील देशों की संसचनाओं एवं प्रकार्यों में भी अन्तर होता है। अमरीकी और ब्रिटिश व्यवस्थाओं की अनौपचारिक संरचनाएं, औपचारिक, प्राथमिक एवं द्वितीयक संरचनाओं द्वारा अनुप्राणित तथा उत्संस्कारित होती हैं जबकि, अपश्चिमी व्यवस्थाओं में इसका उल्टा होता है। यहां राजनीतिक प्रकार्य भी प्रायः शासनिक संरचनाओं द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। शहरों और ग्रामों का भेद वास्तविकता को छिपा नही सकता। इसमें शासनिक संरचनाओं का अधिक महत्व होता है।

10.5 उपादेयता और सीमाएं

संरचनात्मक प्रकार्यवादी उपागम आलोचना का शिकार रहा है। इस उपागम के सभी समर्थक यथास्थिति, स्थायित्व, संतुलन जैसी अनुदारवादी अवधारणाओं के पक्षधार हैं। इस उपागम में स्थायित्व और व्यवस्था अनुरक्षण की परिस्थितिओं पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। केवल सन्धारणात्मक पक्ष पर जोर देने के कारण उसमें मानकीय तत्वों का समावेश हो जाता है। यह नियन्त्रण, शक्ति, नीति-निर्माण, प्रभाव आदि बलों के विश्लेषण में सक्षम नहीं है। इस उपागम की प्रयुक्ति के पश्चात किसी सामान्य सिद्धान्त के विकास की बात कहना भूतार्थ-निर्णयन (ex post facto jugdement) मात्र है, क्योंकि सिद्धान्त का अधिग्रहण तो पहले ही किया जा चुका है। इससे

सोद्देश्यवादिता (Teleology) साफ-साफ झलकती है। प्रकार्यात्मक अपेक्षाओं की धारणा निगमनात्मक है जिसके कारण आनुभाविक यथार्थ को तोड़-मरोड़ कर प्रतिस्थापित करना पड़ता है।

हॉल्ट एवं रिचर्डसन ने आक्षेप किया है कि, ऑमण्ड संरचनाओं की व्याख्या प्रकार्यों की दृष्टि से करता है जो अनुचित है, क्योंकि इस तरह कभी सम्भावता सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जा सकता है। सरंचनाओं एवं प्रकार्यों में कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। अनेक धारणाएं वर्तुलाकार ;ब्पतबनसंतद्ध है जो एक दूसरे पर आधारित होने के कारण किसी को भी स्पष्ट नहीं करती जिन्हें स्थापित करना शेष रहता है, उन्हें वह पूर्वधारणा बना लेता है।

ऑमण्ड ने जिन प्रकार्यों का विवेचन किया है, वे प्रकार्य राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा पूरी तरह से निष्पादित होते हैं या नही इसको निश्चय करने का कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसके आलावा आलोचकों द्वारा यह कहा जाता है कि, विकासशील देशों में से अनेक देशों में संरचनाएं स्वतः विकसित न होकर आरोपित की गयी है। इसी तरह स्वेच्छाधारी और सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में संरचनाओं के स्वभाविक होने की परिस्थितियां बहुत कम होती हैं। यद्यपि इन व्यवस्थाओं में यह संरचनाएं संवैधनिक होती हैं फिर भी इनको स्वभाविक नहीं कहा जा सकता। अनेक देश ऐसे हैं जहां पर आरोपित संरचनाओं द्वारा व्यवस्थाओं का स्थायित्व व अनुरक्षण ही नही हो रहा अपितु उनमें विकास भी तेजी से होता पाया गया है, अतः इस दृष्टि से यह दृष्टिकोण दुर्बल पड़ जाता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम सर्वाधिक लोकप्रिय एवं बृहद् उपलब्धि है। इसी उपागम के कारण तुलनात्मक राजनीति का व्यापक अध्ययन आरम्भ हुआ है। इसने राजनीतिक घटनाओं, आंकड़ों, परिवर्तनों तथा प्रक्रियाओं के अध्ययन के प्रबन्धकीय संवर्ग प्रदान किये हैं। इस उपागम से समाज के विभिन्न तत्वों की अंर्तनिर्भरता पर ध्यान आकर्षित किया गया है, जिसके परिणाम स्वरूप अन्तःनिर्भरता व अन्तःक्रियाओं को नियन्त्रित किये जाने वाले नियमों की खोज की जाने लगी। इस उपागम ने अनेक महत्वपूर्ण अवधारणाएं, मानकीकृत शब्दावली तथा एक आधुनिक विचार बन्ध दिया है। सबसे बढ़कर इसने एक सामान्य सिद्धान्त के प्रति दिशा-निर्देश बनाने का प्रयास किया है। सिद्धान्त, तथ्य एवं शोध के एकीकरण पर जोर देने में यह सर्वथा अग्रणी उपागम रहा है।

अभ्यास प्रश्न

1.संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम किसके द्वारा प्रतिपादित है?

2.संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण किन दो संकल्पनाओं पर आधारित है?

3.आगत कितने प्रकार के होते हैं?

4.ऑमण्ड ने विकासशील देशों के राज्यव्यवस्थाओं कितने प्रकार के प्रारूप बताए हैं?

5.परम्परात्मक अल्पतन्त्र का एक उदाहरण बताइए।

10.6. सारांश

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम के कारण तुलनात्मक राजनीति का व्यापक अध्ययन आरम्भ हुआ है जिसने राजनीतिक व्यवस्थाओं के समझ के लिए एक व्यापक और निरपेक्ष अवधारणा प्रदान किया है। इसने राजनीतिक घटनाओं, आंकड़ों, परिवर्तनों तथा प्रक्रियाओं के अध्ययन को नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। इस उपागम से समाज के विभिन्न तत्वों की अंर्तनिर्भरता पर ध्यान आकर्षित किया गया है, जिसके परिणाम स्वरूप अन्तःनिर्भरता व अन्तःक्रियाओं को नियन्त्रित किये जाने वाले नियमों की खोज की जाने लगी। इस उपागम ने अनेक महत्वपूर्ण अवधारणाएं, मानकीकृत शब्दावली तथा एक आधुनिक विचार बन्ध दिया है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम ने राजनीतिक व्यवस्था के कुछ मूलभूत संरचनाओं और प्रकार्यों की पहचान कर राजनीतिक व्यवस्थाओं, विशेष रूप से विकासशील देशों के राजनीतिक विकास के विविध पक्षों की पड़ताल हेतु एक दृष्टि प्रदान करता है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर बल देते हुए संरचनाओं में प्रकार्यात्मक अन्तर्निर्भरता का विश्लेषण करता है।

10.7. शब्दावली

संरचना- हर राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों की क्रिया, जिस व्यवस्था के द्वारा की जाती है उस व्यवस्थात्मक संगठन को संरचना का नाम दिया जाता है।

प्रकार्य- वे प्रेक्षित परिणाम हैं जो किसी पद्धति के अनुकूल या पुनः समायोजन की व्याख्या करते हैं, और उन प्रेक्षित परिणामों की अपक्रिया (कलेनिदबजपवद) करते हैं जो व्यवस्था के अनुकूल या समायोजन को कम करतें हैं।

निवेश- राजनीतिक व्यवस्था के अंदर जो मांग और समर्थन विभिन्न माध्यमों/संरचनाओं से आता है, उसे राजनीतिक व्यवस्था का निवेश कहा जाता है।

रूपांतरण- राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत जिस प्रक्रिया द्वारा विविध मांगों को निर्णयन की स्थिति में लाया जाता है उसे रूपांतरण कहा जाता है।

निर्गत- राजनीतिक व्यवस्था में मांग और समर्थन के सापेक्ष, रूपांतरण की प्रक्रिया द्वारा नियम, विनियम, विधि, व्यवस्था, वस्तु आदि के रूप में जो भी सरकार द्वारा प्रदत्त किया जाता है, उसे निर्गत कहा जाता है।

पर्यावरण- जिस राजनीतिक वातावरण और व्यवस्था में समस्त संरचनाएं कार्य करती हैं और मांग,समर्थन, रूपांतरण सहित पुर्ननिवेश की समस्त प्रक्रियाएं सम्पादित होती हैं, उसे राजनीतिक व्यवस्था का पर्यावरण कहा जाता है।

10.8.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम ऑमण्ड द्वारा प्रतिपादित है।

2.संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण संरचना और प्रकार्य की संकल्पनाओं पर आधारित है।

3.आगत चार प्रकार के होते हैं।

4.ऑमण्ड ने विकासशील देशों के राज्यव्यवस्थाओं के पांच प्रारूप बताए हैं।

5.परम्परात्मक अल्पतन्त्र का उदाहरण भूटान है।

10.9.संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.तुलनात्मक शासन एवं राजनीति, जैन

2.तुलनात्मक राजनीति, जे0 सी0 जौहरी

3.तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं

10.10.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.कम्पेरेटिव पॉलिटिक्सः ए डेवलेपमेन्टल एप्रोच, ऑमण्ड एवं पॉवेल

2.कम्यूनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवलेपमेन्ट, लूसियन पाई

3.मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, एस0 पी0 वर्मा

10.11.निबंधात्मक प्रश्न

1.तुलनात्मक राजनीति की अवधारणा को संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम ने एक नवीन आयाम दिया है। इस कथ की विवेचना करें।

2.कृत्य और अपकृत्य को परिभाषित करते हुए, संरचना एवं पर्यावरण पर इसके पड़ने वाले प्रभाव की विवेचना करें।

3.संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम को दर्शाते हुए, इसकी उपादेयता एवं सीमाओं की विवेचना करें।

इकाई११ : राजनीतिक दल

इकाई संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 दल, अर्थ एवं परिभाषा

11.4 आवश्यक तत्व

11.5 राजनीतिक दल के कार्य

11.6 दलीय व्यवस्था के गुण

11.7 राजनीतिक दलों के दोष

11.8 दलीय प्रणलियाँ (वर्गीकरण)

11.8.1 लॉ पालोम्बरा की दल व्यवस्था (वर्गीकरण)

11.8.2 सारटोरी की दल व्यवस्था

11.8.3 इलाण्डेल का वर्गीकरण

11.8.4 अमाण्ड का वर्गीकरण

11.8.5 एलन वाल का वर्गीकरण

11.8.6 मिचेल्स का वर्गीकरण

11.8.7 डूवर्जर का वर्गीकरण

11.9 दलीय व्यवस्था के प्रकार

11.10 सारांश

11.11 शब्दावली

11.12 अभ्यास के प्रश्न

11.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.14 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.16 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रास्तावना

राजनीतिक दल प्रजातान्त्रिक तथा उत्तरदायी शासन के लिए अपरिहार्य है। राजनीतिक दलों के अभाव में प्रजातन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आधुनिक प्रजातन्त्रों में प्रजातन्त्र का संचालन राजनीतिक दलों के द्वारा ही होता है। राजनीतिक दल ही राजनीतिक चेतना के केन्द्र होते हैं। सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया राजनीतिक दल के इर्दगिर्द घूमती दिखायी पड़ती है। ये प्रत्येक शासन प्रणाली में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये महत्वपूर्ण कार्य निष्पादित करते हैं। इनका प्रत्येक व्यवस्था में विशिष्ट स्थान है यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने राजनीतिक दलों को अदृश्य सरकार कहा है।

11.2 उद्देश्यः- इकाई के निम्न उद्देश्य हैः-

- राजनीतिक दलों का अर्थ एवं कार्यों से परीचित कराना।
- राजनीतिक दलों के विभिन्न वर्गीकरण का ज्ञान कराना।
- राजनीतिक दलों के आवश्यक तत्व तथा प्रकारों का ज्ञान कराना।
- राजनीतिक दलों के गुणों, दोषों से विद्यार्थियों को परीचित कराना।
- दलीय व्यवस्था के प्रकार का वर्णन करना।

11.3 दल का अर्थ एवं परिभाषाः-

सामान्य भाषा में व्यक्तियों के किसी समूह को जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कार्य करता है दल कहा जाता है। यदि दल का उद्देश्य राजनीतिक है तो वह राजनीतिक दल कहलाताहै । विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक दल की अलग-अलग परिभाषा दी है-

बर्क के शब्दों में - ''राजनीति दल ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो किसी राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए किसी एक विशिष्ट सिद्धान्त को आधार मानकर जिसमें वे सहमत हों, अपना संगठन करते है।''

गेटेल के शब्दों में - ''राजनीतिक दल प्रायः नागरिकों का ऐसा समुदाय है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करता है तथा अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार को संगठित करना तथा सामान्य नीति को पूर्ण करना चाहता है।''

लीकॉक के शब्दों में - ''राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं जो इकट्ठे मिलकर राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक मामलों में एक से होते हैं और सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं।''

गिलक्राइस्ट के शब्दों में - ''राजनीति कद नागरिकों के उस समूह को कहते हैं जिसमें सभी सदस्यों के राजनीतिक विचार एक से होते हैं। तथा जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करके सरकार को नियन्त्रित करने का काम करते हैं।''

11.4 राजनीतिक दलों के आवश्यक तत्व -

राजनीतिक दलों की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक दलों के निम्न आवश्यक तत्व बताये जाते हैं-

1.आधारभूत सिद्धान्तों के एकता- राजनीतिक दल के लिए आवश्यक है कि उसके कुछ प्रमुख सिद्धान्त हों। इसमें शामिल हो रहे लोगों के लिए आवश्यक है कि वे उन सिद्धान्तों पर एकजुट हों । सभी सदस्यों का सिद्धान्तों पर मतैक्य होना चाहिए। यदि सिद्धान्तों के आधार पर मतभेद होंगे तो सभी एकजुट नहीं हो पायेंगे और लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

2.संगठन- समान विचार वाले लोग यदि संगठित नहीं होंगे तो वह राजनीतिक दल नहीं वरन् भीड़ बनकर रह जायेंगे। संगठन एक शक्ति का प्रतीक है। संगठन का आश्य नियम, अनुशासन एवं पदसोपान से है। जिसमें कार्य विभाजन है तथा उत्तरदायित्व निश्चित किये जा सकें। अतः बिना संगठन बनाये राजनीतिक दलों की कल्पना नहीं की जा सकती।

3.वैधानिक उपायों में विश्वास- राजनीतिक दलों के लक्ष्य होते हैं उसे लागू करने के लिये वे सत्ता प्राप्ति करना चाहते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति कि लिए वे विभिन्न प्रयास करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रयास संवैधानिक होने चाहिए। संविधान विरूद्ध किया गया प्रयास राजनीतिक दलों के लिए स्वीकार्य नहीं है। हिंसा में , क्रान्ति में विश्वास रखने वाले संगठन राजनीतिक दल नहीं हो सकते।

4.राष्ट्रीय हित का संवर्धन- राजनीतिक दल के लिए आवश्यक है कि वे किसी जाति, धर्म, वर्ग के हित को दृष्टि में रखकर कार्य न करें। उनके लिए आवश्यक है कि वे सार्वजनिक हित की पूर्ति करे। राजनीतिक दल संकीर्ण, स्वार्थ, जातिगत, धार्मिक हित की पूर्ति के लिए नहीं बन सकते।

5.सत्ता प्राप्ति की लालसा- राजनीतिक दल निश्चित सिद्धांतों पर एकजुट हुए लोगों का समूह होता है। वे उन सिद्धान्तों को सार्वजनिक हित के लिए लागू करना चाहते हैं। इन सिद्धान्तों को लागू करने के लिए आवश्यक है दल को सत्ता प्राप्त हो। अतः सत्ता प्राप्ति की लालसा भी राजनीतिक दल का आवश्यक तत्व है।

11.5 राजनीतिक दलों के कार्य-

हर प्रकार की शासन प्रणालियों में राजनीतिक दलों का अस्तित्व होता है। वह चाहे लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली हो या अधिनायकतन्त्र सभी में राजनीतिक दल दिखायी पड़ते हैं। यह अलग बात है कि लोकतन्त्र में उनकी भूमिका बेहद महत्वपूर्ण एवं प्रभावी होती है, जबकि अधिनायकतन्त्र में केवल सजावट की वस्तु बन कर रह जाते हैं लोकतन्त्र का संचालन ही राजनीतिक दल करते हैं। वे लोकमत का निर्माण करते हैं, राजनीतिक चेतना जागृत करते हैं तथा निरन्तर प्रयासों से सामान्य जन का विश्वास लोकतन्त्र में बहाल रखते हुए मतदान सुनिश्चत करवाते हैं। लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य निम्न हैं-

1.राजनीतिक चेतना का प्रसार- लोकतन्त्र को व्यवहार में लाने का सम्पूर्ण श्रेय राजनीति दलों को जाता है। जनता के सजग कर, उनसे राजनीतिक कर्तव्य कराने का कार्य राजनीतिक दल ही करते हैं। विभिन्न दल अपने पत्र, पत्रिकाओं, विज्ञापनों के माध्यम से जनता को सूचनायें, नीतियाँ प्रदान करते हैं। वे राष्ट्रीय समस्याओं पर जनता का ध्यान आकृष्ट कराते हैं। विभिन्न राजनीतिक दल विभिन्न समस्याओं पर अपना मत देकर आम जनता को विकल्प देते हैं। वे प्रेस, समाचार पत्रों के माध्यम से अपने विचार देते हैं- लोवेल के शब्दों में - ''राजनीतिक दल' राजनीतिक विचारों के दलाल हैं।''

2.जनमत का निर्माण करना- यह राजनीतिक दलों का महत्वपूर्ण कार्य है। वे लोकमत निर्माण में प्रभावी भूमिका अदा करते हैं। विभिन्न मुद्दों पर वह अपने दल की राय से लोगों को अवगत कराते हैं। उनकी यह राय जटिल प्रश्नों को समझने में आमजनता की मदद करती है। राजनीतिक दलों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम, सभायें, गोष्ठियाँ अंततः लोगों को जागरूक कर उनकी अपनी राय निर्मित करवाती

है। लोगों की सार्वजनिक हित में बनी राय का योग ही लोकमत होता है। अतः इसमें राजनीतिक दलों की महती भूमिका रहती है। ब्राइस के शब्दों में- लोकमत को प्रशिक्षित करने उसके निर्माण एवं अभिव्यक्ति करने में राजनीतिक दलों के द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं।''

3.कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के बीच की कड़ी- राजनीतिक दल व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में सम्पूर्ण सूत्र का कार्य करते हैं। वे मध्यस्थ की भूमिका अदा करते हैं। संसदीय शासन में सरकार एवं विधायिका के मध्य संवाद तथा जनता की आकांक्षाओं को सरकार तक पहुँचाने का कार्य दल करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर कार्य करता है फिर भी उसमें गतिरोध उत्पन्न नहीं हो पाता तो उसमें महत्वपूर्ण भूमिका राजनीतिक दल अदा करते हैं। अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों के कारण ही सामंजस्य स्थापित रहता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में - ''दलीय पद्धति ऐसा तरीका है। जहां अमेरिकी संविधान की कठोरता का दोष कम हो गया है।''

4.सरकार पर अंकुशः-राजनीतिक दल के कारण सरकारें निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन नहीं कर पाती हैं। राजनीतिक दल सत्तारूढ़ दल की गलत नीतियों का प्रसार करते हैं और सार्वजनिक मंचों से भर्त्सना करते है। इस पूरी प्रक्रिया में सरकार के विरूद्ध जनमत निर्माण होता है। विपक्षी दल भी सरकार के ऊपर गलत नीतियाँ वापस लेने का दबाव बनाते हैं। विपक्ष वैकल्पिक सरकार के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है। यही कारण है की राजनीतिक दलों की मौजूदगी सरकार पर अंकुश लगाती है। लास्की के शब्दों में - ''राजनीतिक दल देश में तानाशाही से रक्षा के सर्वश्रेष्ठ साधन है।''

5.विशेष नीति के संचालन के लिये विधायिका में एकता- प्रत्येक राजनीतिक दल विधायिका में एकता स्थापित करता है। प्रत्येक राजनीतिक दल का उम्मीदवार अपने दल की नीति एवं कार्यक्रम निर्वाचन के समय जनता के बीच रखते हैं। समय-समय पर अपने दल के सदस्यों को अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से अनुशासित करना होता है। राजनीतिक दल अपने सदस्यों को नियन्त्रित करते हैं। वे अपने दल के सदस्यों को अपनी नीतियों के प्रति सचेत करते हैं। वे दल की नीतियों के विरूद्ध आचरण करने वाले लोगों के प्रति कठोर कार्यवाही कर दलीय अनुशासन एवं एकता को बनाते हैं।

6.जनता एवं सरकार के बीच कड़ी- राजनीतिक दल जनता तथा सरकार के बीच संपर्क का कार्य करते हैं। सरकार द्वारा बनायी गई नीति के प्रति जनता के रवैया का आँकलन राजनीतिक दल करते हैं, वे इसकी सूचना सरकार तक पहुँचाते हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर जनमत बिगड़ने से बचाने के लिए सरकार को चेतावनी ही नहीं देते वरन् नीतियों, कार्यक्रमों में आवश्यक फेरबदल भी करते हैं। अतः जनता एवं सरकार के बीच कड़ी की महत्वपूर्ण भूमिका वह अदा करते हैं।

7.चुनाव का संचालन- आज सार्वभौम वयस्क मताधिकार, बढ़ी जनसंख्या, बड़े निर्वाचन क्षेत्र के कारण चुनाव पहले की तुलना में अधिक जटिल हो गये हैं। आज सफल निर्वाचन की कल्पना राजनीतिक दलों के अभाव में नहीं की जा सकती। वे प्रत्याशियों का चयन, चुनाव-प्रचार, चुनाव संचालन, मतदान तथा मतगणना तक निरंतर व्यवस्था बनाने में सक्रिय रहते हैं। उनके इस महत्वपूर्ण कार्य पर फाइनर ने लिखा है-''राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असंभव नीतियों को अपनाकर राजनीतिक यंत्र को नष्ट कर दिया जायेगा।''

8.सरकार का निर्माण- आम निर्वाचन के बाद विजयी राजनीतिक दल सरकार का निर्माण करते हैं। संसदात्मक शासन में विधायिका के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल का नेता प्रधानमंत्री बनता है तथा वह अपना मन्त्रिमण्डल (सरकार) बनाता है। वही अध्यक्षात्मक शासन में राष्ट्रपति के चुनाव के बाद राष्ट्रपति स्वतन्त्र रूप से सरकार का निर्माण करता है। अतः कहा जा सकता है कि संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक दोनों ही शासन प्रणलियों में सरकार का निर्माण राजनीतिक दल करते हैं। राजनीतिक दलों के अभाव में विधायिका के सदस्य नियन्त्रण मुक्त होकर 'अपनी ढपली अपना राग' अपना सकते हैं। यह देशहित, जनहित के लिए ठीक नहीं हो सकता। अतः राजनीतिक दल के अभाव में प्रभावी सरकार का निर्माण असंभव है।

11.6 दलीय व्यवस्था के गुण

राजनीतिक दलों के विषय में अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि यह लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है। इनमें अनेक अच्छाइयाँ हैं। बिना राजनीतिक दलों के आदर्श शासन व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती । ये जनमत निर्माण से लेकर सरकार बनाने एवं नीतियों को क्रियान्वित कराने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। राजनीतिक दलों के महत्वपूर्ण गुण निम्नलिखित हैं-

1.राजनीतिक चेतना के साधन हैं- राजनीतिक दलों का यह प्रमुख गुण है। वे राजनीतिक चेतना का प्रसार करते हैं। वे जन जागरण अभियान चलाकर जनता की निद्रा भंग करते हैं। वे अपने कार्यक्रमों, गोष्ठियों, सभाओं से जनता से न केवल जागरूक बनाते हैं वरन् उनमें राजनीतिक चेतना जागृत करते हैं। वे जनता की उदासीनता को मिटाने का कार्य करते हैं। वे नागरिक कर्तव्यों की ओर लोगों को प्रेरित करते हैं। यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है।

2.सरकार पर नियन्त्रणः- राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है। राजनीतिक दल ही सरकार पर पैनी नजर रखते हैं। वे सरकार की नीतियों , कार्यक्रमों का विश्लेषण करते है और उसको जनता में प्रचारित करते है। राजनीतिक दल ही अपने वैकल्पिक सरकार के रूप में प्रस्तुत करते है। वे सरकार का विपक्ष के माध्यम से सदन में चेतावनी देते है। आम जनता में विरोध प्रदर्शन, धरना आदि के द्वारा सरकार विरूद्ध चलाकर लोकमत को सरकार के विरूद्ध करते हैं। राजनीतिक दलों के इन कार्यों से सरकार पर नियन्त्रण लगता है। यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है।

3.राजनीतिक शिक्षा के माध्यमः- राजनीतिक दलों का यह प्रमुख गुण है। वे लोकतन्त्र में जनता को सर्वाधिक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। वे सघन सदस्यता अभियान, जनसंपर्क अभियान से जनता से संवाद कायम करते हैं। वे राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर, सामाजिक, आर्थिक नीतियों पर अपनी राय से जनता को अवगत करा आम जनता का ज्ञान बढ़ाते हैं। यह राजनीतिक दल ही हैं जो नागारिकों को मतदान, सरकार निर्माण, सरकार पर नियन्त्रण की विधियों से अवगत कराते हैं।

4.शासन के विभिन्न अंगों में तालमेल के साधनः- राजनीतिक दलों का यह प्रमुख गुण है कि विधायिका एवं कार्यपालिका में सामंजस्य स्थापित करते हैं। यदि गतिरोध उत्पन्न हो जाये तो यह देशहित में नहीं होता है। दलों के सदस्य सरकारों के कार्यक्रमों, नीतियों से विधायिका को ने केवल अवगत कराते हैं वरन् विश्वास में भी लेते हैं। वे विधायिका को विश्वास में कर नीतियों को क्रियान्वयन आसान बनाते हैं। यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है।

5.दल एवं सरकार के सदस्यों पर नियन्त्रणः- राजनीतिक दल चुनाव में अपने ही दल के सदस्यों को चुनाव में टिकट देते हैं। चुनाव जीतने के बाद ये सभी सदस्य दलीय अनुशासन में रहते हैं। ये सरकार में शामिल होने के बाद भी दलीय अनुशासन से बँधे रहते हैं। दल सदैव उनसे दल के निर्देशांे के पालन की अपेक्षा करते हैं। राजनीतिक दल सदस्यों को अनुशासन एवं नियन्त्रण में रखने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

6.सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों का संचालनः- राजनीतिक दल सुप्त अवस्था में नहीं रहते। उन्हें लोकमत को अपने पक्ष में करना होता है, यदि है तो उसे बनाये रखने का प्रयास करना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे निरंतर सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रम चलाते रहते हैं। ये सामाजिक आर्थिक कार्यक्रम सरकार एवं आम नागरिकों दोनों के लिए हितकर होते हैं। यह राजनीतिक दल का विशेष गुण है कि इन कार्यक्रमों का संचालन।

7.स्थाई एवं श्रेष्ठ सरकार की स्थापनाः- यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है कि वह जिस भी व्यवस्था में रहते हैं, वहां पर स्थाइ एवं श्रेष्ठ सरकार का निर्माण करते हैं। राजनीतिक दल ही हैं जो लोकमत को किसी दल विशेष के पक्ष में बनाते हैं और उनके ही प्रयास से आम जनता मतदान केन्द्रों तक जाकर मतदान करती है। अतः वे ही स्थाई सरकार के निर्माण के मूल में होते हैं। उन्हीं के दबाव में सरकारें जनकल्याण के कार्यक्रम चलाती है।

8.निरंकुशता से मुक्तिः- राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है। वे आम नागरिकों को सचेत कर उनके समर्थन से सरकारों के ऊपर नैतिक नियन्त्रण रखते हैं। सरकारें राजनीतिक दलों द्वारा बनाये गये लोकमत की अवहेलना नहीं कर सकती। वे जनमत के खिसकने का जोखिम नहीं उठा सकती। अतः वे जन आकांक्षाओं के अनुरूप नीतियां एवं कार्यक्रम बनाते हैं। यह राजनीतिक दलों का विशेष गुण है और इसी से सरकारों की निरंकुशता से मुक्ति मिलती है।

9.राष्ट्रीय एकता के साधनः- राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता के साधन हैं। राजनीतिक दल सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में बांधते हैं। इनकी सदस्यता सभी धर्मों, जातियों एवम् सभी क्षेत्र के लोगों के लिये होती हैं। ये अपने अभियान, कार्यक्रमों से सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में बांधतें हैं। यह राष्ट्रीय एकीकरण का माध्यम बनते हैं।

10.श्रेष्ठ कानूनों का निर्माणः- विधायिका में कानून बनता है। बहुमत प्राप्त दल ही सदैव कानून बनवाने में अग्रणी भूमिका में रहते हैं। लोकमत के भय से, जनता से किये वायदों के अनुरूप व कानून बनाती है। यदि वे व्यक्तिगत कारणों से सार्वजनिक हित छोड़ती हैं तो अन्य राजनीतिक दल सदन में तथा सड़क पर उनका विरोध करते हैं। उनकी गतल, समाजविरोधी नीतियों की आलोचना करते हैं।

11.7 राजनीतिक दलों के दोषः-

राजनीतिक दल किसी भी शासन के लिये आवश्यक हैं। इनमें अनेक अच्छाइयाँ हैं। इसके साथ इसमें अनेक दोष भी दिखायी पड़ते हैं। हाल ही में उभरी नई राजनीतिक प्रवृत्तियों ने सिद्ध किया है कि राजनीतिक व्यवस्था में जो दोष दिखायी पड़ रहे हैं। उसका मूल कारण राजनीतिक दल हैं। अमेरिकी संविधान निर्माता तो राजनीतिक दलों से व्यवस्था को मुक्त रखना चाहते थे। राजनीतिक दलों के प्रमुख दोष निम्न है-

1.दलों द्वारा नैतिकता एवं आदर्शों का त्यागः- हर राजनीतिक दल का उद्देश्य चुनाव जीतकर सत्ता को प्राप्त करना होता है। प्रत्येक दल निर्वाचन के समय 'चेन केन प्रकारेण' चुनाव जीतना चाहता है। ऐसे में ये दल सभी आदर्शों को त्यागकर प्रतिद्वन्दी नेता पर व्यक्तिगत हमले करना, छवि धूमिल करना, उनके निजी जीवन की सी0डी0 बनाकर जनता में वितरित करते हैं। वे चुनाव में मतदाताओं को लुभाने के लिए शराब , पैसे एवं अन्य अनैतिक साधनों का खुलकर प्रयोग करते हैं।

2.दलीय अनुशासन से स्वतन्त्रता का अन्तः- राजनीतिक दल लोकतन्त्र की महत्वपूर्ण कड़ी है। यह भी अनोखा संयोग है कि जो लोकतन्त्र नागरिक स्वतन्त्रता के प्रहरी है वहीं दलीय अनुशासन के आधार पर अपने दल के सदस्यों की आवाज का दबा देते हैं। कई बार दल की सदस्यता लेने के बाद व्यक्ति असहाय एवं मजबूर होकर दलीय विचार को स्वीकार करता है। वह अपनी अर्न्तआत्मा एवं अन्तकरणः की आवाज को दबाता है।

3.उग्र दलबन्दी का विकासः- राजनीतिक दलों का प्रमुख दोष है। इसमें प्रत्येक दल सत्ता पाने के लिए गलाकाट प्रतियोगिता में लग जाता है। इस कार्य में विभिन्न दल आदर्श प्रतियोगी के स्थान पर उग्र प्रतियोगी हो जाते हैं। इस क्रम में वह कई बार समाज हित, राष्ट्रीय हित की अनदेखी कर जाते

हैं। दलीय कड़वाहट इतनी बढ़ जाती है कि राष्ट्रीय हित के मुद्दे, विभिन्न देश हित से जुड़े कानून पास नहीं हो पाते।

4.दलीय स्वार्थों पर बलः- राजनीतिक दल सत्ता प्राप्ति की लालसा रखते हैं। सत्ता पाने के बाद व समाज हित, राष्ट्रीय हित के लिये नहीं वरन् दलीय स्वार्थ के लिये, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कार्य करते हैं। इससे समाज में व्यापक असन्तोष पैदा होता है। यह राष्ट्रहित को भी नुकसान पहुँचाता है।

5.भाई-भतीजाबाद एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावाः- भ्रष्टाचार एवं राजनीतिक दलों का सम्बन्ध अब बहुत मजबूत दिख रहा है। इसमें मुख्य रूप से जिम्मेदार महंगी चुनावी प्रक्रिया है। चुनाव में हुए खन्र की भरपाई के लिये ये दल अत्याधिक धनार्जन करते है। कई बार चुनाव में जिन कम्पनियों से धन (चंदा) मिला होता है उसकी भरपाई इस भ्रष्टाचार से करते है। भाई भतीजावाद भी इसी की कड़ी है। दुनिया के अधिकांश देशों में यह रोग फैल रहा है।

6.विधायिका राजनीतिक संघर्ष का अखाड़ाः- आज राजनीतिक दलों की प्रतिस्पर्धा इस स्तर पर पहुँच चुकी है कि वे राजनीतिक संघर्ष में राष्ट्रहित को भुला बैठे हैं। उनमें आपसी विश्वास, तालमेल समाप्त हो गया है। वे एक दूसरे को रचनात्मक सहयोग नहीं दे रहे हैं। आज रोज विधायिका में काम काज बन्द होने की खबर आम हो गई हैं। संसद लड़ाई का अखाड़ा बन गई है । देश हित, समाज हित के लिये अति आवश्यक बिल पास नहीं हो पा रहें हैं।

7.साम्प्रदायिकता को बढ़ावाः- कई बार यह देखा गया है कि दलीय स्वार्थ के लिये राजनीतिक दल साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं। वे धार्मिक आधार पर प्रत्याशियों का चयन करते हैं। कई बार धार्मिक आधार पर मन्त्रिमण्डल में स्थान तय होते हैं। यह संयोग है या कुछ और कि चुनाव से पहले धार्मिक तुष्टिकरण के वायदे किये जाते हैं। कई बार तो चुनाव से पहले दंगों का दौर दिखता है।

8.राष्ट्रीय हितों की अनदेखीः- कई बार राजनीतिक दल राष्ट्रीय हित का संवर्धन नहीं करते। वे दलीय हितों को साधते है। मेरीयट के शब्दों में - ''दलभक्ति की अधिकता से देश भक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड़ जाता है। वोट प्राप्त करने के धन्धे पर अत्याधिक ध्यान देने से दलों के नेता अथवा उनके प्रबन्धक देश की उच्चतम आवश्यकताओं को भूल या टाल सकते हैं।''

9.योग्य व्यक्तियों की उपेक्षाः- शासन भी एक कला है। यह एक सम्पूर्ण देश के करोड़ों लोगों को प्रभावित करता है। दुर्भाग्यवश इस महत्वपूर्ण कार्य की जिम्मेदारी दलीय बाध्यताओं के कारण सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के हाथ में नहीं आ पाती। योग्य व्यक्ति कई बार राष्ट्रीय हित, सामाजिक हित के लिये दलीय स्वार्थों के विरूद्ध मुखर हो जाता है। कतिपय यही कारण है कि आज योग्य व्यक्तियों का अभाव व्यवस्था में दिखायी पड़ रहा है।

दलीय दोषों अथवा दलबन्दी से बचने के उपायः- इससे बचने के लिये कुछ सुझाव कारगर हो सकते हैः-

1.राजनीतिक शिक्षा का प्रसार

2.आर्थिक विषमता को कम करना

3.सीमित दलीय व्यवस्था

4.कम खर्चीले चुनाव

5.राजनीति से अपराधी, भ्रष्टाचारी को दूर करना

6.दलीय लोकतन्त्र की बहाली

7.व्यापक चुनाव सुधार

11.8 दलीय प्रणालियाँ (वर्गीकरण):-

आधुनिक दलीय प्रणलियों की समीक्षा करते हुए डुवर्जर ने कहा-'' किसी भी देश में लम्बे समय तक राजनीतिक दलों की संख्या, उनकी संरचना, विचारधारओं उनके समझौतों तथा विपक्ष में स्थायित्व आ जाता है।'' इसी के आधार पर किसी भी देश के दलीय प्रणाली को समझा जा सकता है। इस संबंध में अमाण्ड, जेम्स जप, हिचनर , डूबर्जर , ला पालोम्बरा , सारटोरी आदि ने विस्तृत विश्लेषण किया।

11.8.1 ला पालोम्बरा की दलीय व्यवस्थाः-

ला पालोम्बरा ने दल व्यवस्था के प्रकार का निर्धारण करते समय राजनीतिक दलों मे निम्न लक्षणों का आवश्यक माना-

(1) राजनीतिक दल की विशेषतायें एवं लक्षण।

(2) दलों के आपसी संबंध।

(3) दलों का समाज के अन्य घटकों के साथ संबंध।

(4) दलों के कार्यप्रणाली को प्रभावित करने वाले तत्व।

पालोम्बरा एवं वीनर दोनों ही ने इस आधार पर दल व्यवस्था को स्पष्ट रूप् से दो भागों में बाँट दियाः-

(1) प्रतियोगी दल व्यवस्थायें

(2) अप्रतियोगी दल व्यवस्थायें

11.8.2 साराटोरी की दल व्यवस्थाः-

साराटोरी ने दूसरी तरफ वर्गीकरण में दलों की संख्या को आधार माननाभ्रांतिपूर्ण माना। उसकी मान्यता थी कि दलों के वर्गीकरण में इनके वैचारिक फासले, वैचारिक उग्रता, सत्ता काल अथवा सत्ता में आने की संभावना को ध्यान में रखने की बात कही। सारटोरी ने दल व्यवस्था का वर्गीकरण करने में त्रिमुखी आधार को स्वीकार किया-

(1) राजनीतिक दलों की संख्या

(2) दलों की विचारधारा एवं प्रकृति

(3) दलों में विखण्डन की मात्रा

सारटोरी ने एक तरफ संख्या के आधार पर किया गया वर्गीकरण को गलत मानते हुए भी उसे पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया। उसकी मान्यता थी कि दलों की संख्या अपने आप में दलों के लक्षण प्रकट करने वाली है। अतः इसे छोड़ा नहीं जा सकता है। उसने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा कि किसी भी व्यवस्था में दो दलों का होना राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक दलों, निर्वाचन प्रणलियों के बारे में बहुत कुछ तथ्य प्रस्तुत कर देताहै ।

11.8.3 बलोण्डेल का वर्गीकरणः-

बलोण्डेल ने दलीय प्रणाली ने इसके ठीक विपरीत केवल संख्या के आधार पर किसी देश की प्रणाली को समझने को अधूरा प्रयास बताया। वह इसके विपरीत दल प्रणाली के वास्तविक रूप, उसकी प्रकृति, उसके विकास की स्थिति, दलों के संबंधों को वर्गीकरण का आधार मानता है। इसके साथ ही वह दलीय विविधता के महत्व को समझते हुए कहता है कि निम्न तत्व भी दलीय प्रणाली को समझने में कारगर हो सकते है-

(1) राजनीतिक दलों की क्रियाकलाप की दृष्टि से गणना तथा देश की राजनीति में भूमिका।

(2) राजनीतिक व्यवस्था में दल की शक्ति, दल के माप में दल की सदस्य संख्या मतदान प्रतिशत, तथा व्यवस्थापिका में प्राप्त स्थानों को आधार बनाया जा सकता है।

(3) दलों में विचारधारा संबंधी अंतर।,(4) दलों का संगठन,(5) दलों के समर्थन का आधार।

बलोण्डेल ने इन पाँच तत्वों के आधार पर राजनीतिक दलों के पाँच प्रकार बताये हैः-

(1) एक दलीय व्यवस्था,(2) द्वि दलीय व्यवस्था,(3) ढा़ई दलीय व्यवस्था,

(4) एक दल प्रधान बहुदलीय व्यवस्था

(5) बहुदलीय योग दल

11.8.4 अमाण्ड का वर्गीकरणः- अमाण्ड ने राजनीतिक दलों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें चार भागों में बांटा-

(1) तानाशाही अथवा सर्वसत्तावादी दल ,(2) प्रमुखता प्राप्त लोकतान्त्रिक दल

(3) प्रतिस्पर्धात्मक दो दल ,(4) प्रतिस्पर्धात्मक बहु दल

इसके अतिरिक्त हिचनर और लेवाइन ने राजनीतिक दल प्रणाली को पाँच भागों में विभक्त किया हैः-

(1) प्रतिस्पर्धा पूर्ण दो दलीय प्रणाली ,(2) प्रतिस्पर्धा पूर्ण बहु दलीय प्रणाली ,(3) प्रमुखतापात्र लोकतान्त्रिक प्रणाली.(4) अधिनायकवादी दलीय प्रणाली .(5) दलीय प्रणलियों रहित राज्य

11.8.5 एलन वॉल का वर्गीकरण:- एलन वॉल के अनुसार दल प्रणाली के कई वर्गीकरण किये जा सकते है। वह मानता था कि दल व्यवस्था की अधिकाधिक संख्या के कारण कोई भी वर्गीकरण पूर्णतया सही नहीं होगा। वर्गीकरण के आधारों की अनेकता के कारण वर्गीकरण कठिन हो गया है। वह मानता है कि दलों का संचालन दलीय पद्धति के अर्न्तगत होता है और इसका प्रभाव दल के आचरण पर पड़ता है। दलों की संख्या के आधार पर भी वर्गीकरण सही नहीं है। बड़े दलों की संख्या समान होते हुए भी दल व्यवस्थाओ के बीच बड़े अंतर होते है। एक दलीय, द्विदलीय और बहुदलीय व्यवस्थाओं के बीच अतर करने पर ब्रिटिश सवं अमेरिकी दलीय व्यवस्था एक समूह में तथा इटली तथा स्वीडन की दल पद्धतियों को एक साथ नहीं रखा जा सकता। वाल ने दलों की संख्या, उनकी संरचना, उनकी शक्ति को आधार बनाकर दलों का वर्गीकरण किया। उसका दलीय वर्गीकरण इस प्रकार हैः-

(1) अस्पष्ट द्वि दलीय पद्धतिः- यह अस्पष्ट विचारधाराओं पर आधारित दलीय व्यवस्था है। इसमें येनकेन प्रकारणे मत प्राप्त करने तथा चुनाव जीतने पर बल दिया जाता है। इसमे दलीय व्यवस्था केन्द्रीकृत होती है। तथा व्यक्ति आधारित होती है। इसमें व्यक्ति के गुणों को दलीय सिद्धान्तों पर वरीयता दी जाती है। अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्था इसका आदर्श उदाहरण है।

(2) सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतिः- सुस्पष्ट द्विदलीय व्यवस्था में दल अधिकाधिक केन्द्रीकृत होते है। जर्मनी तथा आस्ट्रेलिया में ऐसा स्पष्ट दिखता है। इसमें विचारधारओं का महत्व होता है तथा चुनाव में विचारधारा के आधार पर दलों में स्पष्ट अंतर दिखायी पड़ताहै । ब्रिटेन की व्यवस्था में भी यही लक्षण पाया जाता है।

(3) कार्यवाहक बहुदलीय व्यवस्थाः- यह वह दलीय व्यवस्था है जिसमें दो से अधिक दल होने के बावजूद वह द्विदलीय व्यवस्था का आभास कराती है। इन देशों में सरकार की स्थिरता पर मतदाताओं का बहुत जोर रहता है। वे अपनी जागरूकता का परिचय देते हुए मत विभाजन नहीं होने देते है। यर्थात में वहाँ पर प्रभावी रूप् से दो दल ही दिखायी पड़ते है। स्वीडन, नार्वे, आदि देशों में अनेक दल होने के बावजूद दो दलों के बीच में सत्ता का संघर्ष दिखायी पड़ता है।

(4) अस्थिर बहुदलीय व्यवस्थाः- इस व्यवस्था में सरकार की स्थिरता का अभाव रहता है। इसमें सरकारें अल्पमत की अन्य दलों के सहयोग से बनती है। इस प्रकार की दल प्रणाली का सर्वोच्च उदाहरण इटली है। वहाँ पर अधिकतर बहुमत के अभाव में छोटे-छोटे दलों के समर्थन से सरकार का गठन होताहै । इसमें स्थायित्व का अभाव रहता है। एक सरकार के पतन के बाद पुनः अन्य के सहयोग से नई सरकार बन जाती है।

(5) प्रभावी दल पद्धतिः- इस व्यवस्था में दलों के बीच प्रतियोगिता चलने दी जाती है। इस प्रतियोगिता से ऐसे दल का उदय होता है जो अन्य दलों पर छा जाता है। भारत इसका उदाहरण है। भारत में आजादी के बाद 1977 तक कॉग्रेस पार्टी भारतीय शासन व्यवस्था पर छा गई थी। दूसरे दलों को प्रभावी प्रतियोगिता की छूअ प्रदान की गई। भारत में कई बार ऐसे अवसर भी आये है जब छोटे दलों ने अन्य के समर्थन से शासन पर नियन्त्रण स्थापित किया।

(6) एक दलीय पद्धतियाँ - यह वह शासन प्रणाली है जिसमें एक दल का प्रभुत्व रहता है। इसके प्रमाण मिस्त्र तथा तंजानिया में मिलते है। कीनिया में भी एक दलीय व्यवस्था का उदाहरण मिलता है। शेख मुजीब के समय बंगलादेश, जनरल जिया उक हक के समय पाकिस्तान में भी एक दल के शासन का उदाहरण मिलता हे। इस प्रणाली में दलों के बीच चुनावी प्रतियोगिता का पूर्णतया अभाव रहता है। दलों में ही गुट चुनावी खींचतान करने की छूट रखते है।

(7) सर्वाधिकारवादी एक दलीय पद्धतिः- यह पद्धति कई बार एक दलीय पद्धति के साथ जोड़ दी जाती है। इस व्यवस्था में इस दल का सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इस व्यवस्था में केवल शासकों के द्वारा अभिजनों की भर्ती की जाती है। चीन, सोवियत संघ , यूरोप के पूर्वी जर्मनी की सरकार इसके आदर्श उदाहरण है।

एलन वाल का वर्गीकरण सीमित उपयोगिता वाला है। उसके सिद्धान्त से सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते है। यह सही है कि दल पद्धति के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों को निर्धारित करना जाटिल होता है। इनका गति को समझ कर सिद्धान्त का रूप् देना भी कठिन है।

11.8.6 मिचेल्स के विचार

जर्मन विद्वान रार्वअ मिचेल्स ने अपनी पुस्तक श्च्वसपजपबंस च्तवजपमेश् में स्पष्ट किया कि राजनीतिक दल का चरित्र अपने समय की ऐतिहासिक व्यवस्था से निर्धारित होता है। वह मानता है कि जिस दल में निर्णय करने की शक्ति कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित रहती है वहाँ सदैव यह खतरा बना रहता है कि जनता की आक्रोश की आंधी उसे बहा सकती है। इस जोखिम से बचने के लिये प्रत्येक राजनीतिक दल अत्याधिक सदस्य संख्या का विस्तार करता है। इससे दल का आधार व्यापक एवं जटिल हो जाता है।

मिशेल्स आगे स्पष्ट करता है कि किसी भी दल में सारे निर्णण लेने की शक्ति अंततः एक छोटे से समूह या गुट मे आ जाती है। लेकिन राजनीतिक दल इस गुटीय व्यवस्था को छिपाकर उसे लोकतान्त्रिक दिखाने का प्रयास करते है। इसे मिचेल्स ने ' गुटतनत्र का लौह नियम' (Iron law of Oligarchy) कहा। वह स्पष्ट करता है कि किसी भी शासन व्यवस्था को चलाने के लिये संगठन अनिवार्य होता है। इसी के द्वारा निर्बल पक्ष संबल पक्ष के विरूद्ध संघर्ष करता है। वह कहता है जिनके हित समान होते है वे एकता के साथ अपने लक्ष्य प्राप्त कर लेते है। वह स्पष्ट करता है कि चाहे समाजवादी व्यवस्था हो, पूँजीवादी व्यवस्था हो, सभी अपने-अपने संगठनों से अपने-अपने हितों को साधने का प्रयास करते है। वह इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि मजदूर पूंजीपति के समक्ष नहीं टिक सकते परन्तु संगठित हो वे इसका मुकाबला कर सकते है। एक दल के रूप् में संगठित हो वे पूजीवादी शोषणकारी व्यवस्था को नष्ट कर सकते है। धीरे-धीरे दल मजदूर दल में शासन कर नियन्त्रण नौकरशाही के पास आ जाता है।

वह अपने विचारों में आगे स्पष्ट करता है कि सर्वहारा एवं कमजोर वर्गों के लिये बना दल सत्ता में आने के बाद अपने उद्देश्यों को भूल जाताहै। वह धीरे-धीरे अपने लक्ष्यों से दूर चला जाता है।

मिचेल्स के शब्दों में -'' संगठन का विचार ऐसे तर्कों पर आधारित है जिसमें निर्वाचित लोग निर्वाचकों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते है, जो आशा लेकर आये थे, वे आज्ञा देने लगते है। जो सेवा करने आये थे वे सेवक के स्थान पर स्वामी बन जाते है।''

वह अपने सिद्धान्त के अंत में स्थापित करता है कि कोई भी शासन व्यवस्था , कोई भी दलीय व्यवस्था जनता के हित के स्थान पर दलीय हित और अंततः शासकों के हितों का पोषण करती है। जनता का शासन एक काल्पनिक वस्तु बन जाती है।

11.8.7 डूवर्जर का सिद्धान्त:- फ्रांसीसी विद्वान डूवर्जर ने अपनी पुस्तक श्च्वसपजपबंस चंतजपमेश् में स्पष्ट किया है कि राजनीतिक दलों का उदय एक विशेष प्रक्रिया का परिणाम है। समाम में कुद बिन्दुओं पर सहमति के आधार पर समूह उभरते है। फिर निर्वाचक समितियाँ उभरती है। इन दोनों के मध्य स्थायी संबंध स्थापित हो जाता है। इन स्थायी संबंधों का ही परिणाम ' राजनीतिक दल' का उदय है। राजनीतिक सिद्धान्तों पर एकजुटता के अतिरिक्त भौगोलिग निकटता, व्यवसायिक हितों में समानता भी ऐसे समूहों को जन्म देने में सहायक होती है।

डूवर्जर आगे स्पष्ट करता है कि राजनीतिक दलों का उदय संसद के बाहर भी संभव है। जिस राजनीतिक दल का उदय संसद के अंदर होता है। उसकी कार्यप्रणाली में कुछ वाहय संस्थायें जैसे दार्शनिक समूह, मजदूर समाज, पत्रकार समूह, आदि हस्तक्षेप करने लगते ऐसी संस्थायें संसद के अंदर एवं बाहर दोनों ही स्थान पर दलों को जन्म देने में सक्षम रहती है। इंग्लैण्ड में मजदूर दल को फेवियन सोसाइटी ने जन्म देने में सहयोग प्रदान किया। डूवर्जर का मत था कि जो दल संसद के बाहर उदित होते है उनमें कठोर अनुशासन पाया जाता है। इनमें केन्द्रीकरण की प्रवृति भी बहुत पायी जाती है। संसद के अन्दर पैदा होने वाले दलों में अपने लक्ष्यों की पूर्ति की भावना अधिकाधिक पायी जाती है। डूवर्जर ने दलों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है:-

(1) कॉकस अथवा समूह (समिति) यह दलों के छोटा स्वरूप होता है। ये सदस्यों की गुणवत्ता पर बल देते है। इनका प्रयास कुशलता पूर्वक लक्ष्यों की प्राप्ति होता है। ये सदस्य संख्या पर बल नहीं देते है। ये सामान्यतः विशिष्ट या गणमान्य व्यक्ति होते है। ये प्रायः चुनाव के समय क्रियाशील होते है। बाकी समय में यह सुसुप्ता अवस्था में रहते है। इसका उदाहरण फ्रांस के तीसरे एवं चतुर्थ गणराज्य में रेडीकल पार्टी के रूप् में मिलता है।

(2) शाखा दलः- यह ऐसा दलीय प्रकार होता है जिसका उद्देश्य अधिकाधिक संख्या में सदस्य बनाना होता है। इनका पूरा ढ़ाचा होता है। ये निर्वाचन क्षेत्रों में अपनी इकाईयाँ भी स्थापित करते है। ये वर्ष भर सक्रिय रहने वाले दल होते है। इनके विभिन्न कार्यक्रम, गतिविधियाँ निरन्तर चलती रहती है। सामान्यतः यह समाजवादी दलों की तरह निरन्तर सक्रिय रहते है। प्रायः यह देखा जाता है कि समाजवादी दलों के नेता शाखा के सदस्यों के पास आते रहते है। ये उनसे विचारों का आदान प्रदान कर समस्याओं का समाधान खोजने की प्रयास करते है।

(3) प्रकोष्ठः- यह फाँसीवादी तथा साम्यवादी दल का अविष्कार है। इसमें शासक दल की अनेकों इकाईयों देश भर में फैली होतीहै । सभी प्रकोष्ठों के सदस्यों की स्थिति, भूमिका और महत्व दल के सदस्यों की तुलना मे अधिक महत्वपूर्ण होती है। प्रकोष्ठ के सम्पूर्ण कार्यक्रमों, योजनाओं एवं नीतियों के संबंध में सम्पूर्ण निर्णय वरिष्ठम लोगों की समिति लेती है।

(4) सैनिक दस्तेः- फाँसीवादी एवं साम्यवादी दल अपने साथ एक सैनिक विभाग भी रखते है।इसका उदाहरण इटली एवं जर्मनी में मिलता है। इटली में जहां ' हलचल दस्ता' वहीं जर्मनी में ' तूफान दस्ते' इसके उदाहरण है। चीन में माओ ने मी लाल रक्षक दस्ता बना रखा था। ये सम्पूर्ण सैनिक नहीं थे परन्तु इन्हें प्रशिक्षण दिया जाता था। इनकी सैनिकों से अलग वेशभूषा निर्धारित होती थी। ये संगठन के सर्वोच्च के अधीन कार्य करते थे।

इसके अतिरिक्त राजनीतिक दलों की सदस्यता की प्रकृति को देखते हुए डूवर्जर ने न केवल प्रजातान्त्रिक तथा सर्वाधिकारवादी दलों के बीच अंतर किया है। इस आधार पर उसने दो प्रकार बताये हैः-

(1) संवर्ग युक्त दलः- यह विशिष्ट जनों का समूह होता है। यह चयन के सिद्धान्त के आधार पर ढांचे का निर्माण करते है। ये विशिष्ट लोग चुनाव के लिये कार्यक्रम बनाने, योजना बनाने, चुनाव हेतु प्रत्याशियों के चयन तथा दल के लिये धन के एकत्रीकरण का सम्पूर्ण कार्य करते है। किसी भी व्यक्ति का सम्मान चुनाव लड़ने की उसकी क्षमता तथा पार्टी कोष में अधिकाधिक चंदा देने से निर्धारि होता है। इनका महत्व दल में बहुत अधिक होता है। ये लोग ही चुनाव हेतु योजना बनाने में सहयोग प्रदान करतेहै ।

(2) जनदलः- समय गुजरने के साथ मतदाता की संख्या में अत्याधिक वृद्धि हुई है। इस वृद्धि ने राजनीतिक दलों को जनदल में परिवर्तित होने में सहायता ही है। संवर्ग दल से अलग जनदल संविधानवाद में विश्वास करते हुए चुनाव में उतरते है। यह अधिकधिक लोगों से सम्पर्क करने तथा उनके सलाह एंव परामर्श से काम करने का प्रयास करता है। इस व्यवस्था में सदस्यमा खुली रहती है। प्रत्येक व्यक्ति जो उनके सिद्धान्तों में विश्वास करता है। वह इनका सदस्य बन सकता है।

इसके अतिरिक्त जन्म एवं विकास के आधार पर डूवर्जर ने राजनीतिक दलों को दो भागों में बांटा हैः-

(1) भीतर से उपजे दलः- यह विचार पाश्चात्य लोकतान्त्रिक व्यवस्था से प्रभावित है। इसमें मताधिकार का विस्तार, संसदीय प्रजातंत्र के क्रमिक संस्थानीकरण ने अनेक जागरूक नागरिकों को छोटे-छोटे संघ बनाने पर उत्साहित किया। इसी प्रकार विधायी सदनों के भीतर अपने हितों की रक्षा तथा उनके सवर्धन के लिये समूहों का जन्म हुआ। प्रजातन्त्र के विकास के साथ इन समूहों ने अपने नियम, चंदे, नीतियों, कार्यक्रमों आदि का विवरण रखने के रूप में अपनी कार्यविधि में सुधार किया। इन दलों का जन्म विधायकों की गतिविधियों के कारण हुआ है।

(2) बाहर से उपजे दल:- बाहर से उपजे दल वे है जो किसी क्रान्तिकारी लक्ष्य को प्राप्त करने तथा किसी निश्चित हित की रक्षा के लिये बने है। रूस एवं चीन के साम्यवादी दल इसका उदाहरण है। जिन्नाह के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने भी राज्य विरोधी नीति अपनाकार नये राज्य पाकिस्तान का

गठन कराने में सफलता पाई। इस प्रकार के दल का उदय विधायिका के बाहर होता है। और साम्यवादी दल के लिये गंभीर चुनौती रखता है।

11.9 दल प्रणाली के प्रकार:-

आज दुनिया के लगभव सभी देशों में दलों का अस्तित्व है। वह चाहे अधिनायकतन्त्र हो या उदारवादी लोकतन्त्र या समाजवादी राज्य सभी में राजनीतिक दलों का अस्तित्व है। अन्तर केवल एक बात का है कुछ देशों में दल केवल दिखावा है और कुछ देशों में वास्तविक रूप से राजनीतिक व्यवस्था में अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं। मुख्य रूप से तीन प्रकार की दलीय व्यवस्था दिखायी पड़ती हैः-

1.एकदलीय व्यवस्थाः- एकदलीय व्यवस्था का अर्थ है कि शासन में केवल एक दल की उपस्थिति। यह ऐसा शासन होता है जिसमें किसी अन्य दल को स्वीकार नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक तरह का अधिनायकवाद है क्योंकि आमजनता के पास अपने मताधिकार के लिये विकल्प ही नहीं है। ये मुख्य रूप से वामपंथी के शासन वाले राज्यों, तानाशाहों के यहाँ दिखायी पड़ता है। यह व्यवस्था लोकतन्त्र के लिये हितकर नहीं है।

2.द्विदलीय व्यवस्था:- जब किसी देश में दो मुख्य दल होते हैं तो उसे द्विदलीय व्यवस्था कहते है। यहाँ पर दो से अधिक दल होने पर प्रतिबन्ध नहीं होता परन्तु जनता का विश्वास न पाने के वजह से वह पनप ही नहीं पाते। उदाहरण के लिये अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी तथा डेमोक्रेटिक पार्टी, इंग्लैण्ड में अनुदार दल तथा श्रमिक दल आदि।

3.बहुदलीय व्यवस्थाः- बहुदलीय व्यवस्था का अर्थ है दो से अधिक दलों का अस्तित्व। यूरोप में इटली, फ्रांस में बहुदलीय व्यवस्था पाई जाती है। भारत में भी बहुदलीय व्यवस्था पाई जाती है। बहुदलीय व्यवस्था वाले देशों में राजनीतिक अधिकार का विस्तार देते हुए सभी व्यक्तियों को यह स्वतन्त्रता दी जाती है कि वे राजनीतिक दल बना सकते हैं। यही कारण है कि उन देशों में दलों की संख्या आवश्यकता से अधिक है। दुनिया के अनेक देश बहुदलीय व्यवस्था के कारण प्रभावित हो रहे हैं। अनेक दल राजनीतिक परिपक्वता के अभाव में मतविभाजन करवाते हैं और चुनाव में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता। स्पष्ट बहुमत के अभाव में अस्थिर सरकारें आती हैं। बार-बार चुनाव होते हैं। फ्रांस में यही कारण था कि पांचवां गणतन्त्र के संविधान में नयी व्यवस्था अपनायी गयी। यह नयी व्यवस्था अध्यक्षात्मक एवं संसदात्मक का मिश्रण है। भारत में भी 90 के दशक में अस्थायी सरकारों ने नयी बहस को जन्म दे दिया था कि क्यों न यहां पर अध्यक्षात्मक शासन को स्वीकार कर लिया जाये? जहाँ पर द्विदलीय व्यवस्था है वहां पर ऐसा संकट उत्पन्न नहीं हुआ। यही कारण है कि लास्की, लावेल, ब्राइस, फाइनर जैसे अनेक विद्वानों ने लोकतन्त्र में द्विदलीय व्यवस्था को श्रेष्ठ माना है।

अभ्यास के प्रश्नः-

(1) निर्बल एवं अस्थिर शासन व्यवस्था किस शासन प्रणाली की विशेषता है-

(अ) द्विदलीय व्यवस्था (ब) बहुदलीय (स) एकदलीय (द) कोई नहीं

(2) किसको लोकतन्त्र का प्राण कहा जाता है-

(अ) दबाव समूह (ब) हित समूह (स) राजनीतिक दल (द)सभी

(3) निम्न में से कौन दल विहीन लोकतन्त्र के समर्थक थेः-

(अ) गांधी (ब) नेहरू (स) विनोवा भावे (द) जयप्रकाश

(4) निम्न में से कौन राजनीतिक दल का कार्य है-

(अ) राजनीतिक शिक्षा (ब) शासन एवं जनता के बीच कड़ी (स) लोकमत का निर्माण

(द) सभी

(5) निम्न मे से किसने '' दलों को प्रजातन्त्रीय यंत्र के संचालन में तेल के समान बताया-

(अ) वर्क (ब) सारटोरी (स) हूबर (द) कोई नहीं

(6)''कुछ लोगों के हितों के लिये बहुतों का पागलपन है।'' यह कथन है-

(अ) वर्क (ब) मिचेल्स (स) मोस्का (द) एलक्जेडर पोप

11.10 सारांशः-

राजनीतिक दल लोकतन्त्र के लिये अनिवार्य माने जाते है। इनके अभाव में लोकतन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कुछ विद्वानों इसे लोकतन्त्र के लिये प्राणवायु के समान मानते है। लोकतन्त्र का उदय सर्वप्रथम इंग्लैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था में हुआ। आज दुनिया के सभी लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक दलों का अस्तित्व है।

राजनीतिक दल कुद सिद्धान्तों पर एकमत लोगों का समूह है जिनका उद्देश्य संवैधानिक तरीके से सत्ता को प्राप्त कर अपने नीतियों एवं कार्यक्रमों को लागू करना होता है। ये संवैधानिक साधनों में विश्वास करते है, निश्चित सिद्धान्तों पर एकजुट होते है।, सत्ता प्राप्ति इनका लक्ष्य होता है। राजनीतिक दल मुख्य रूप से सत्ता प्राप्ति के लिये सदैव क्रियाशील रहते है। जब वे सत्ता से दूर रहते है तब वे उसको पाने जनमत को अपने पक्ष में करने के लिये विभिन्न प्रकार के उपक्रम जैसे रैली, प्रचार,भाषण आदि का सहारा लेते है। आधुनिक समय मे इस कार्य हेतु सोशल मीडिया का महत्व बहुत बढ़ गया है। सत्ता प्राप्त होने के बाद वे अपनी नीतियों, कार्यक्रमों को लागू करते है तथा सत्ता को अपने पास रखने के लिये अपने प्रचार अभियान को निरन्तर चलाते रहते है। वे जनता को

राजनीतिक रूप् से जागरूक बनाते है। वह उनके मतदान व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयास करते है। वह जनता के समक्ष विकल्प बनकर प्रस्तुत होते है। दूसरे शब्दों से कहे तो राजनीतिक दलों के बिना लोकतन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विभिन्न विद्वानों जैसे एलन वाल, सारटोरी, डूर्वजर, मिचेल्स, आदि ने राजनीतिक दलों का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया है। आधुनिक समय में राजनीतिक दलों का स्वरूप् कार्यविधि , ढांचा में भी बदलाव दिखायी पड़ रहा है। इन सबके बावजूद राजनीतिक दलों के अभाव में लोकतन्त्र की कल्पना भी संभव नहीं है।

11.11 शब्दावली:-

अल्पतन्त्र का लौह नियमः- मिचेल्स ने यह सिद्धान्त दिया। इसका अर्थ है कि शासन सदैव योग्य लोगों के हाथ में रहता है। जो अल्पसंख्या में होता है।''

बहुदलीय व्यवस्थाः- किसी भी शासन व्यवस्था में दो से अधिक दलों का अस्तित्व बहुदलीय व्यवस्था कहलाता है।

कार्यवाहक बहुदलीय व्यवस्थाः- दो से अधिक दलों के अस्तित्व के बावजूद वास्तविकता में सत्ता के लिये दो दलों में संघर्ष रहता है। ऐसी व्यवस्था को कार्यवाहक बहुदलीय व्यवस्था कहते है।

सर्वसत्तावादी दलः- यह वह व्यवस्था है जिसमें एक दल ही प्रभावी रहता है। उसके पास सभी प्रकार की सत्ता समाहित रहती है।

11.12 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर:-

1. ब, 2. स, 3. द, 4. द, 5. स, 6. द

11.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची:-

1.जौहरी जे0सी0, जौहरी सीमा, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

2.गेना सी0बी0, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें

3.सिंघल एस0सी0, तुलनात्मक राजनीति

4.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें

5.जैन आर0सी0, तुलनात्मक राजनीति

11.14 सहायक एवं उपयोगी पाठ्य सामग्री:-

1.गाबा ओ0पी0, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा

2.सोडारों माइकल, कम्परेटिव पॉलिटिक्स

3.संधू ज्ञान सिंह, राजनीति सिद्धान्त

4.राय गांधी जी, तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें

11.16 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1.राजनीतिक दल से क्या समझते है? इनके कार्यों का वर्णन कीजिये।

2.राजनीतिक दलों की परिभाषा दीजिये तथ इसके गुण दोषों का वर्णन कीजिये।

3.राजनीतिक दलों का अर्थ समझाइये तथा इनकी विशेषतायें बताइये।

4.राजनीतिक दल पर एक निबन्ध लिखिये।

5.राजनीतिक दल से क्या समझते है? दलीय व्यवस्था के प्रकार पर प्रकाश डालिये।

इकाई 12: दबाव समूह और राजनीति

इकाई की संरचना

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 अर्थ एवं परिभाषा

12.4 दबाव समूह के तत्व

12.5 दबाव समूह के उदय के कारण

12.6 राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में अंतर

12.7 दबाव समूह के साधन

12.8 दबाव समूह के दोष

12.9 दबाव समूह के प्रकार / वर्गीकरण

12.10 दबाव समूह एवं लाबींइंग मेंअन्तर

12.11 दबाव समूह एवं हित समूह मेंअन्तर

12.12 दबाव समूह राजनीति की प्रभावकारिता के निर्धारक

12.13 दबाव समूह की सक्रियता के विभिन्न स्थान

12.14 दबाव समूह एवं लोकतन्त्र

12.15 विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं (सरकारों) मेंदबाव समूह

12.15.1 ऑग्ल- अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूह

12.15.2 यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह

12.15.3 इटली एवं फ्रांस में दबाव समूह

12.15.4 सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्था मे दबाव समूह

12.15.5 विकासशील राष्ट्रों में दबाव समूह

12.6 सारांश

12.17 शब्दावली

12.18 अभ्यास के प्रश्न

12.19 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.20 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

12.21 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

12.22 निबन्धात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

लोकतन्त्र मेंराजनीतिक दल व्यक्ति एवं सरकार के बीच सम्पर्क सूत्र के रूप मेंकार्य करते हैं। समय गुजरने के साथ बड़े राज्यों मेंबड़ी आकांक्षाओं को पूरा करने मेंराजनीतिक दल असमर्थ होने लगे। इसी समय जन आकांक्षा के ज्वार, लोगों की बढ़ती आवश्यकताओं ने लोगों को अपने हितों के आधार पर संगठित किया। कतिपय यही कारण है बीसवीं शताब्दी मेंअनेक हित समूह अथवा दबाव समूह उभरे।

आधुनिक राजनीति शास्त्र मेंदबाव समूह की भूमिका महत्वपूर्ण हैं ये बहुलवाद से मान्यता प्राप्त समूह है। जिन्हें लास्की, कोल, फिंगिस, मेटलैण्ड जैसे विद्वानों ने स्वीकार किया। आधुनिक समय मेंइनका महत्व इतना बढ़ गया है कि फाइनर इन्हें 'अज्ञात साम्राज्य' कहता है वहीं मैंकिन इन्हें 'अदृश्य सरकार तथा सेलिन इसे 'अनौपचारिक सरकार' कहता है आमण्ड पावेल के शब्दों में- ''हर समाज तथा राजनीतिक पद्धति मेंमाँगें प्रस्तुत करने की अपनी रीतियाँ होती हैं तथा हितों के निर्णयकों के समक्ष उन्हें विभिन्न रूपों मेंप्रस्तुत किया जाता है। लोकतान्त्रिक प्रक्रिया मेंयह कार्य हित समूह द्वारा किया जाता है। यही कारण है हित समूह का अध्ययन बेहद महत्वपूर्ण है।''

12.2 उद्देश्यः-

- दबाव समूह का अर्थ एवं उत्पत्ति समझाना।
- आधुनिक समय में दबाव समूह के विभिन्न प्रकारों से अवगत कराना।
- विभिन्न शासन व्यवस्थाओं में दबाव समूह की भूमिका को समझना।
- दबाव समूहों के साधन एवं गुणदोष को समझना।

12.3 अर्थ एवं परिभाषा-

सामान्य शब्दों मेंकहें तो दबाव समूह विशेष हितों के साथ जुड़े एसे संगठन होते हैं जो अपने समूह के हितों की रक्षा के लिए नीति निर्माताओं पर दबाव बनाते हैं।

वी0ओ0की0 के शब्दों मे - ''दबाव समूह वे निजी संघ हैं जो सार्वजनिक नीतियों का प्रभावित करने के लिये बनते हैं।''

ओटी गार्ड के शब्दों में- ''दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों का औपचारिक संगठन है जिनके एक या अनेक सामान्य उद्देश्य अथवा स्वार्थ होते हैं जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिये प्रभावित करते हैं।''

माइनर वीनर के शब्दों में- ''हित अथवा दबाव समूह से हमारा अभिप्राय किसी ऐसे ऐच्छिक रूप से संगठित समूह से होता है जो सरकार के संगठन से बाहर रहकर अधिकारियों की नियुक्ति, सरकार की नीति, इसका प्रशासन तथा इसके निर्णय को प्रभावित करने का यत्न करता हो।''

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि दबाव समूह एक से हित वाले लोगों का एक समूह है जो अपने समूह हित की पूर्ति के लिए सरकार पर दबाव बनाते हैं। ये समूह औद्योगिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, श्रमिक समूह विधि निर्माण के कार्य को अपने हित मेंप्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये समूह अपने सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिये सभी माध्यमों से दबाव बनाते है।

12.4 दबाव समूह के प्रमुख तत्वः-

1.सीमित उद्देश्यः- जहाँ राजनीतिक दल का उद्देश्य सार्वजनिक हित की पूर्ति करना होता है वहाँ दबाव समूह का उद्देश्य सीमित होता है। यह केवल अपने समूह के हित को पूरा करने का प्रयास करते हैं। ये अपने समूह हित को पूरा करने के बाद या तो निष्क्रिय हो जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं। इनका स्वार्थ केवल अपने समूह हित तक होता है। ये सार्वजनिक हित, राष्ट्रहित के विषय मेंसक्रिय नहीं रहते।

2.सीमित सदस्यताः- दबाव समूह का जन्म ही वर्ग विशेष, समूह विशेष की हित पूर्ति के लिये होता है। यही कारण है कि इनकी सदस्यता सीमित रहती है। ये एक विशेष वर्ग के लोग होते हैं। इसमेंसम्पूर्ण देश के सभी समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं होता। यही कारण है कि इनकी सदस्यता सीमित होती है। उदाहरण के लिये वे छात्र संघ, किसान सभा, मजदूर संघ के रूप मेंदिखायी पड़ते हैं।

3.संवैधानिक-असंवैधानिक साधनों का प्रयोगः- दबाव समूह अपने उद्देश्य को पाना चाहते हैं। वे सरकार की विधि निर्माण की प्रक्रिया पर दबाव बना कर अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं।

इसके लिये कई बार वे संवैधानिक तथा असंवैधानिक माध्यमों का भी प्रयोग करते है। वे विधि निर्माताओं को धमकी देना, प्रलोभन देना, धन देना, डराना आदि सभी उपक्रम कर अपने लिये कार्य करवाना चाहते हैं। वह सभी प्रकार के हथकन्डे अपना कर अपने हितों की पूर्ति करते हैं।

4.शासन एवं विधान मण्डल की सदस्यता नहीं- ये विधि निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित कर अपने हित मेंविधि निर्माण चाहते हैं। इस विधि निर्माण प्रक्रिया मेंखुद को शामिल नहीं करना चाहते अर्थात् स्वयं चुनाव लड़कर विधानमण्डल मेंपहुँचकर स्वयं कानून बनाने मेंशामिल नहीं होना चाहते। शासन के उत्तरदायित्व से बाहर रहकर केवल दबाव द्वारा अपने हित साधना चाहते हैं।

5.अनिश्चित कार्यकालः- दबाव समूह का जन्म ही निश्चित उद्देश्य एवं हित साधन के लिए होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ ही उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है और वो भी समाप्त हो जाते हैं। कुछ दबाव समूह जिनके उद्देश्य पूरे नहीं हुए हैं वे बने रहते है। इन दबाव समूहों की सक्रियता मेंअन्तर आता रहता है।

6.सभी शासन व्यवस्थाआं मेंउपलब्धताः- दबाव समूह आधुनिक समय मेंसभी शासन व्यवस्थाओं मेंउपलब्ध दिखायी पड़ते हैं। लोकतन्त्र हो या तानाशाही, पूँजीवादी राज्य हो या समाजवादी राज्य सभी मेंदबाव समूह सक्रिय दिखायी पड़ते हैं। राबर्ट सी0 वोन के शब्दों में- ‘‘दबाव समूह सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं मेंसर्वाधिकारवादी राज्यों मेंभी पाये जाते हैं।

12.5 दबाव समूह के उदय के कारणः-

दबाव समूह के उदय के प्रमुख कारण निम्न हैः-

1.राज्य के कार्यों मेंवृद्धि होने से शासन के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक कार्य भी राज्य करने लगा। अपने वर्ग अथवा समूह हित के लिये कानून बनवाने लोग संगठित हुए।

2.औद्योगित क्रान्ति ने मजदूर वर्ग को जन्म दिया। वे अपने हितों के लिये संगठित प्रयास करने लगे।

3.विभिन्न वर्गों की बढ़ती आकांक्षा एवं जागरूकता उन्हें समान हित के आधार पर संगठित करता है।

4.प्रादेशिक निर्वाचन प्रणाली या प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त जो क्षेत्र के आधार पर प्रतिनिधित्व देता है जिसमेंआर्थिक समूह, सामाजिक, सांस्कृतिक समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। अतः वे अपने हितों के लिये संगठित होते हैं।

5.बढ़ती महत्वाकांक्षा भी अनेक दबाव समूहों का निर्माण करवाती है। राजनीति मेंसक्रिय होने की लालसा मेंकुछ लोग दबाव समूह का गठन करते हैं।

12.6 राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंअन्तर:-

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह किसी भी शासन व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग हैं। जहाँ राजनीतिक दलों के बिना लोकतन्त्र का संचालन नहीं हो सकता वहीं दबाव समूह के बिना भी हम किसी शासन व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकते। जहाँ राजनीतिक दल सीधे सरकार, नीति निर्माताओं को नियन्त्रित कर राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण करवाते हैं। वहीं दबाव समूह भी समाज एवं शासन के साथ जुड़कर अपने पक्ष मेंनीतियों का निर्माण करवाते हैं। ये सरकार के साथ समाज एवं व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इसके बावजूद दबाव समूह एवं राजनीतिक दल में कुछ अन्तर है।

मौरिस डूवर्जर ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है - ''राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करके उसका उपयोग करना चाहते हैं- वे ऐसा महापौरों, सीनेट सदस्यों को निर्वाचित करवाकर तथा मन्त्रियों एवं राज्य के अध्यक्ष को चुनवाकर करते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह राजनीतिक सत्ता को प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करने मेंहाथ नहीं बँटाते हैं। वे सत्ता से दूर रहते हुये, सत्ता को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। वे उस पर दबाव डालने का प्रयास करते हैं जिसके पास सत्ता होती है। वे अपने सदस्यों को सत्तारूढ़ कराने का प्रयास नहीं करते हैं। हैरल्ड ब्रूस ने दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए लिखा है- ''दबाव समूह प्रायः राजनीतिक दलों से स्वतन्त्र होते हुए भी उनके सहयोगी होते हैं। परिस्थिति के अनुसार उनके सम्बन्ध बदलते रहते हैं। दबाव समूह सामान्यतः गैर राजनीतिक होते हैं। वे दलीय सीमाओं को लांघकर मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।'' दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों मेंप्रमुख अन्तर निम्न है-

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंअन्तर

1.राजनीतिक दल राजनीतिक	1.दबाव समूह गैर-राजनीतिक
2.राजनीतिक दल का व्यापक क्षेत्र	2.दबाव समूह का क्षेत्र छोटा
3.राजनीतिक दल का कार्यक्रम व्यापक	3.दबाव समूह का कार्यक्रम संकीर्ण
4.राजनीतिक दल संगठित	4.दबाव समूह असंगठित भी
5.संवैधानिक साधनों मेंविश्वास	5.येन-केन प्रकारेण हित सिद्धि
6.राजनीतिक दल सदैव क्रियाशील	6.उद्देश्य सिद्धि तक ही क्रियाशील
7.राजनीतिक दल विधानमण्डल के भीतर और बाहर कार्य करते हैं।	7.दबाव समूह केवल विधानमण्डल के बाहर ही कार्य करते हैं।

8.राजनीतिक दल का उद्देश्य सत्ता प्राप्त कर लक्ष्य सिद्धि प्रशासक को प्रभावित करने तक सीमित।

8.दबाव समूह विधि निर्माता व

1.राजनीतिक दल राजनीतिक होते हैं जबकि दबाव समूह गैर राजनीतिकः- राजनीतिक दलों के उद्देश्य राजनीतिक होते हैं। वे चुनाव में भाग लेते हैं, चुनाव मेंप्रत्याशी खड़े करते हैं। वे चुनाव जीतकर शासन सत्ता को प्राप्त करना चाहते हैं। दबाव समूह सत्ता प्राप्त करना नहीं चाहते, वे विधायकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों को प्रभावित कर दबाव बना नीति को अपने हित मेंबनवाने का प्रयास करते हैं, जिससे उस वर्ग विशेष (हित समूह) के हितों की पूर्ति हो सके। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल औपचारिक राजनीतिक संगठन होते हैं जबकि दबाव समूह बाहर रहकर अपना हित साधना चाहते हैं।

2.राजनीतिक दलों का क्षेत्र व्यापक होता है जबकि दबाव समूह का छोटाः- राजनीतिक दलों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। इसमेंअनेक वर्गों, समूहों के लोग शामिल होते हैं। इनकी सदस्य संख्या लाखों में होती है। इसके विपरीत दबाव समूह की सदस्य संख्या सीमित तथा क्षेत्र भी सीमित होता है। कोई भी व्यक्ति एक साथ कितने भी समूहों का सदस्य बन सकता है। परन्तु एक बार मेंएक ही दल का सदस्य बन सकता है। अतः क्षेत्र के आधार पर राजनीतिक दलों एवं दबाव समूह मेंअन्तर है।

3.राजनीतिक दलों के कार्यक्रम व्यापक जबकि दबाव समूह के संकीर्णः- राजनीतिक दल वर्ष भर संपूर्ण देश में विभिन्न कार्यक्रम चलाते हैं। वहीं दबाव समूह कार्यक्रम एवं हित की दृष्टि से संकीर्ण तो होते ही है साथ ही अत्याधिक सजातीय होते हैं। उनके मुद्दे व हित समान होते हैं। अतः विचारों की संगति ही एकता एवं सजातीयता प्रदान करती है। दूसरी तरह दलों के कार्यक्रम व्यापक क्षेत्र एवं मुद्दे भी व्यापक होते हैं। यही कारण है कि उनमेंसजातीयता नहीं हो पाती है। अतः दलों एवं दबाव समूहों मेंकार्यक्रमों की व्यापकता के आधार पर अन्तर है।

4.राजनीतिक दल संगठित जबकि दबाव समूह असंगठित होते हैः- राजनीतिक दल सम्पूर्ण देश या प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सत्ता प्राप्ति करना चाहते हैं। अतः वे पूर्णतः संगठित होते हैं। इनकी सदस्यता लाखों मेंहोती है। इनका संगठन पद-सोपान पर आधारित होता है। प्रत्येक पदाधिकारी की जिम्मेदारी तय होती है। दल के अंदर लोकतान्त्रिक चुनाव होते हैं। इसके ठीक विपरीत दबाव समूह असंगठित होते हैं। वे केवल त्वरित लाभ एवं हित के लिये नीति निर्माताओं एवं क्रियान्वन करने वालों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

5.राजनीतिक दल संवैधानिक साधनों मेंविश्वास करते हैं जबकि दबाव समूह नहीं- राजनीतिक दलों एवं दबाव समूह मेंयह प्रमुख अन्तर है। जहां दबाव समूह 'चेन केन प्रकारेण' अथवा किसी तरह अपने हित साधना चाहता है। वह हितपूर्ति के लिये अनैतिक, अमर्यादित आचरण जैसे - घूस, शराब आदि का प्रयोग करने से भी संकोच नहीं करते। वहीं राजनीतिक दल संवैधानिक साधनों के द्वारा

सर्वोच्च लक्ष्य (सत्ता) को प्राप्त करना चाहते हैं। वे हिंसा अथवा अन्य असंवैधानिक साधनों में विश्वास नहीं करते। यही कारण है कि राजनीतिक दल लोकमत को पक्ष मेंकर मत के द्वारा सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

6.राजनीतिक दल सदैव क्रियाशील जबकि दबाव समूह सदैव नहीं- राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंयह प्रमुख अन्तर है कि जहाँ राजनीतिक दल का क्षेत्र बड़ा होता है, लक्ष्य बड़ा होता है अतः उनके प्रयास भी बड़े होते हैं। वे वर्ष भर क्रियाशील रहते हैं। वे वर्ष भर कार्यक्रम, आन्दोलन चलाते हैं। दूसरी तरफ दबाव समूह सदैव क्रियाशील नहीं रहते। वे केवल अपने हितों के लिये सक्रिय होते हैं और हित पूरा होते ही निष्क्रिय हो जाते हैं।

7.राजनीतिक दल विधानमण्डल के अन्दर एवं बाहर कार्य करते हैं जबकि दबाव समूह केवल बाहरः- राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंप्रमुख अन्तर है जहांँ राजनीतिक दल जनता के समर्थन से सत्ता पाते हैं। इसलिये वह इस समर्थन को खोना नहीं चाहते। अतः वह सदैव जनता के बीच रहते हैं। तथा विधायिक मेंभी अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह केवल अपने समूह मेंसक्रिय रहते हैं। वह विधानमण्डल के सदस्य नहीं होते अतः वहाँ सक्रिय नहीं रहते।

8.सत्ता प्राप्ति को लेकर अन्तरः- राजनीतिक दल का उद्देश्य सत्ता प्राप्त कर अपने नीतियों एवं सिद्धान्तों को लागू करना होता है जबकि दबाव समूह केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति चाहता है। वह सत्ता प्राप्ति की लालसा नहीं रखते। वे केवल विधि निर्माताओं, प्रशासकों को प्रभावित कर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं।

12.7 दबाव समूह के साधनः-

आज दुनिया में लाखों दबाव समूह कार्यरत हैं। इन सबके अपने उद्देश्य एवं कार्य करने के तरीके हैं। दबाव समूहों के साधन एवं उद्देश्य को लेकर विद्वानों मेंमतैक्य नहीं रहा। कुछ विद्वान इनमेंअनेक बुराइयाँ देखते हैं तथा लोकतन्त्र भ्रष्ट करने का माध्यम मानते हैं। वहीं कुछ विद्वान इसे उचित, राजनीतिक प्रक्रिया मेंउत्पन्न रिक्तता को भरने का माध्यम मानते हैं। अमेरिका एवं ब्रिटेन के दबाव समूहों के प्रति नजरिये मेंभी अन्तर है। जहां अमेरिका मेंइन्हें भ्रष्टता के गढ़ के रूप मेंदेखा जाता है वहीं ब्रिटेन मेंयह लोकतन्त्र के अनिवार्य हिस्से के रूप में देखे जाते हैं। दबाव समूहों द्वारा अपनाये जाने वाले साधन इस प्रकार हैः-

1.संगठन निर्माणः- दुनिया मेंदो तरह से दबाव समूह दिखायी पड़ते हैं। कुछ दबाव समूह पूर्णतः संगठित होते हैं। वे पद-सोपान के क्रम मेंसंगठित होते हैं। संगठन बनाकर वह कार्य विभाजन करते हैं। इस तरह वह उत्तरदायित्व तय कर अपने उद्देश्यों को पाने का प्रयास करते हैं।

2.लॉबीगः- दबाव समूह का यह महत्वपूर्ण साधन है। अमेरिका मेंयह तरीका बहुत लोकप्रिय है। इसमेंदबाव समूह के सदस्य विधायिका के सदस्यों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। इस उद्देश्य के लिये विभिन्न दबाव समूह विशेष प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं। दबाव समूह द्वारा प्रयोग मेंलाया जा रहा प्रमुख साधन है।

3.सामूहिक प्रचारः- दबाव समूह द्वारा प्रयोग मेंलाया जा रहा प्रमुख साधन है। वे अपने उद्देश्यों, लक्ष्यों का व्यापक प्रचार करते हैं। वे विभिन्न प्रचार एजेन्सियों के माध्यम से अपनी मांगों को सरकार तक पहुँचाते हैं तथा उन्हें वैध ठहराते हैं। वह सुनियोजित ढंग से व्यापक प्रचार अभियान द्वारा सरकार पर दबाव बनाते हैं। इस साधन के द्वारा सरकार पर दबाव बना अपना हित साधते हैं।

4.पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशनः- दबाव समूह का यह महत्वपूण साधन है। इसमेंविभिन्न समूह विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करते हैं। वे अपनी मांगों का ने केवल प्रचार करते हैं। वरन् उनको सही भी ठहराते हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार दूर-दूर तक किया जाता है। इससे दबाव समूह को अनेक लाभ होते हैं। उन्हे प्रचार, वैधता तो मिलती ही साथ ही अनेक नये सदस्य भी मिलते हैं जिससे इनकी सदस्य संख्या बढ़ती है।

5.जनता से सीधा सम्पर्कः- दबाव समूह के पास सदस्यता होती है। वे सीधे जनता से सम्पर्क करते हैं। वे जनता के बीच जाकर अपनी मांगों का प्रचार करते हैं। साथ ही जनसमर्थन भी प्राप्त करते हैं। उनको प्राप्त जनसमर्थन ही उनकी शक्ति होती है जिसके माध्यम से भी वह अपनी मांगों को पूरा करवाते हैं।

6.विभिन्न राजनीतिक दलों से परोक्ष सम्बन्धः- दबाव समूह सीधे चुनाव मेंभाग नहीं लेते परन्तु वे विभिन्न राजनीतिक दलों से परोक्ष सम्बन्ध रखते हैं। वे उनको विधायिका मेंपहुँचाकर अपने हितों की पूर्ति करवाते हैं। भारत मेंभारतीय राष्ट्रीय श्रमिक संघ ;प्ण्छण्ज्ण्ब्ण्द्ध साम्यवादी दलों से, भारतीय मजदूर संघ (भारतीय जनता पार्टी से) जुड़ा हुआ है।

7.हड़ताल एवं धरना प्रदर्शनः- दबाव समूह सरकार एवं विधि निर्माताओं पर दबाव बनाने के लिये हड़ताल एवं धरना प्रदर्शन करते हैं। इसके माध्यम से वह अपने साथ उपस्थित संख्या बल प्रदर्शित करते हैं। वे इसके माध्यम से सरकार का ध्यान आकृष्ट कर अपनी मांगों को मनवाने का प्रयास करते हैं।

8.न्यायालय की मददः- दबाव समूह अपने हितों के लिये विभिन्न उपक्रम करते हैं। परन्तु कई बार ऐसे कानून बन जाते हैं जो उनके हितों के विरूद्ध होता है तो वे न्यायालय की शरण मेंजाकर उन कानूनों का रद्द कराना चाहते हैं। वे कई बार किसी मामले मेंसार्वजनिक हित का हवाला देकर सर्वोच्च न्यायालय मेंजनहित याचिका ;च्ण्ण्स्ण्द्ध भी करते है। अतः दबाव समूह न्यायालय की मदद भी लेते हैं।

9.गोष्ठियों एवं सभाओं का आयोजन - वे समय-समय पर जनजागरण बढ़ाने के लिये गोष्ठियों एवं सभाओं का आयोजन करते हैं। ये गोष्ठियों एवं सभाओं का आयोजन सूचनाओं के आदान-प्रदान का महत्वपूर्ण माध्यम है। वे इन सभाओं, गोष्ठियों मेंविधि निर्माताओं एवं प्रभावशाली व्यक्तियों का आमन्त्रित करते हैं। वे इससे अपने मतों को प्रभावशाली ढंग से रखते हैं तथा अधिकारियों एवं नीतिनिर्माताओं को अपने पक्ष मेंकरने का प्रयास करते हैं।

10.अनैतिक माध्यमों का उपयोगः- दबाव समूहों कई बार हित साधने के लिये अनैतिक साधनों का भी प्रयोग करते हैं। वे असंवैधानिक साधनों का प्रयोग करने से भी नहीं हिचकते हैं। कतिपय यही कारण है कि दबाव समूह की व्यापक आलोचना भी की जाती है।

12.8 दबाव समूहों के दोषः- दबाव समूहों के सम्बन्ध मेंविद्वानों मेंएकमत का अभाव है। जहाँ ब्रिटेन के विचारक इसे लोकतन्त्र के लिये स्वाभविक मानते हैं। वहीं अमेरिका की व्यवस्था से जुड़ें विद्वान इसे लोकतन्त्र मेंअनैतिकता एवं अमर्यादित आचरण के वाहक मानते हैं। वे कहते है कि दबाव समूह लोकतन्त्र में भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता को बढ़ा रहे हैं। दबाव समूहों के प्रमुख दोष निम्न हैः-

1.संकीर्ण विचारों पर आधारित

2.अप्रजातान्त्रिक एवं अनुत्तरदायी समूह

3.व्यापक सामाजिक हित, राष्ट्रहित की उपेक्षा

4.भ्रष्ट एवं अमर्यादित आचरण के प्रणेता

5.वसुधैव कुटुम्बकम अथवा सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के विरूद्ध

6.दलीय अनुशासन के विरूद्ध

7.लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्तों की अवहेलना

12.9 दबाव समूहों के प्रकार अथवा वर्गीकरण:-

समाज मेंकई तरह के दबाव समूह दिखायी पड़ते हैं। संगठन के आधार पर यह जनवादी समूह तथा परम्परागत या विशिष्ट वर्गीय समूह के रूप मेंदिखते हैं अनेक विद्वानों ने दबाव समूहों के वर्गीकरण प्रस्तुत किये है। लोकतान्त्रिक देशों मेंयह मुख्य रूप से छोटे, बड़े, स्थाई, अस्थाई कई प्रकार के दबाव समूह पाये जाते हैं। यह वर्गीकरण लक्ष्य, संगठन की प्रकृति, अवधि, कार्य, क्षेत्र आदि के आधार पर किया जाता है।

लक्ष्य के आधार पर यह स्वार्थी एवं परोपकारी तथा संगठन के आधार पर औपचारिक एवं अनौपचारिक तथा कार्य क्षेत्र के आधार पर सीमित एवं वृहद कार्य क्षेत्र वाले दबाव समूह कहा जा सकता है। राजनीति शास्त्र मेंअनेक विद्वानों ने जैसे आमण्ड, हिचनर, जीन ब्लोण्डेल ने अलग-अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं। इनमेंसे आमण्ड एवं ब्लोण्डल के वर्गीकरण इस प्रकार है-

आमण्ड का वर्गीकरण:- आमण्ड ने दबाव समूहों को चार भागों मेंबाँटा। उसके वर्गीकरण को अनेक विद्वानों के साथ हिचनर एवं लेवाइन ने स्वीकार किया। आमण्ड ने हित समूह (दबाव समूह) को चार भागों मेंबांटा:-

1.संस्थागत हित समूहः- सेना, पुलिस, प्रशासनिक अधिकारियों के संगठन

2.प्रदर्शनात्मक या उद्दण्ड हित समूहः- हिंसक , सविंधान विरूद्ध कार्य करने वाले

3.साहचर्य हित समूह:-व्यापारी संघ, किसान संघ, मजदूर संघ आदि

4.असाहचर्य हित समूहः- ब्राहमण महासभा, क्षत्रिय महासभा, सुन्नी वक्फ बोर्ड

जीन ब्लौण्डेल का वर्गीकरणः-

1.सामुदायिक हित समूह

- रूढ़िगत ;ब्नेजवउंतल च्तमेेनतम ळतवनचद्ध- क्षत्रिय महासभा जाट संघ
- संस्थागत ;प्देजपजनजपवदंस च्तमेेनतम ळतवनचद्ध. सैनिक कल्याण परिषद, कर्मचारी संघ

2.साहचर्य हित समूह

- संरक्षात्मक -श्रमिक, व्यापारिक संघ
- उत्थानात्मक ; - गौ-रक्षा, नारी कल्याण

उपरोक्त दो वर्गीकरण को देखने के बाद दबाव समूह के निम्न प्रकार बनाये जा सकते हैः-

दबाव समूह के प्रकारः-

1.संस्थानात्मक दबाव समूहः- संस्थानात्मक दबाव समूह वह होते हैं जिनका अपना संगठनात्मक ढांचा होता है जो किसी न किसी संस्था से जुड़े होते हैं। ऐसे दबाव समूह मेंमुख्य रूप से सेना, पुलिस नौकरशाही जैसे विभिन्न संस्थान आते हैं। ये विभिन्न संस्थानों मेंकार्य कर रहे लोगों को अपने हित

मेंबनाया समूह होता है। इनके सदस्य इनके साथ अन्य समूहों की सदस्यता भी लेते हैं। भारत मेंऐसे दबाव समूह मुख्य रूप से भारतीय पुलिस सेवा संघ, सैनिक कल्याण परिषद, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी संघ प्रमुख हैं।

2.समुदायात्मक दबाव समूहः- समुदायात्मक संघ मुख्य रूप से अपने समुदाय विशेष के हितों की पूर्ति के लिये संगठित होते हैं। ये स्वतन्त्र होते हैं। ये किसी अन्य संस्था से जुड़े हो सकते हैं। ये मुख्य रूप से एक साथ एक व्यवसाय करने से बने समूह होते हैं। इनमें मुख्य रूप से व्यापारी संघ, किसान संघ, मजदूर संघ आदि आते हैं।

3.असमुदायात्मक दबाव समूहः- इस समूह की मुख्य प्रेरक शक्ति जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, अथवा रक्त समूह होता है। ये स्वतः स्फूर्त समूह होते हैं। प्रायः यह संगठित नहीं होते। ये बेहद प्राचीन समय से अस्तित्व मेंहैं। इस समूह के पीछे अदृश्य रूप से समाज के परम्परागत मूल्य बन्धन का कार्य करते हैं। इसमेंमु ुख्य रूप से क्षत्रिय महासभा, कायस्थ महासभा, सुन्नी वक्फ बोर्ड आदि है।

4.उद्दण्ड या प्रदर्शनकारी दबाव समूहः- यह मुख्य रूप से वह समूह है जो अपनी मांगों को लेकर हिंसक और संविधान विरूद्ध कार्य करने लगते हैं। वे अपनी मांगों को लेकर हड़ताल, धरना प्रदर्शन, अनशन, सार्वजनिक सम्पति को नुकसान पहुंचाना, रोड ब्लाक, आगजनी आदि का सहारा लेते हैं। वे इस अमर्यादित आचरण से शासन पर दबाव बनाने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि दबाव समूहों का स्थान विभिन्न शासन प्रणालियों मेंबेहद मजबूत है। प्रारम्भ मेंइन्हें अनैतिक, आदर्शों के विरूद्ध एवं लोकतन्त्र को नष्ट करने वाला माना गया।

समय के साथ राज्य के क्षेत्र, जनसंख्या एवं कार्य बढ़ने से राजनीतिक दलों की लोगों तक पहुँचने मेंअसमर्थता तथा लोगों की बढ़ती महत्वाकांक्षा एवं जागरूकता ने राजनीतिक रूप से दबाव समूह को जन्म दिया। आज लोकतन्त्र की कल्पना भी उनके बिना नहीं हो सकती। वे सूचनायें एकत्रित एवं प्रसारित करते हैं, सरकारों पर नियन्यत्र रखते हैं, व्यवसायिक प्रतिनिधित्व की कमी को पूरा करते हैं, सरकार एवं जनता के बीच कड़ी का काम करते हैं। वे विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल के समान है। कतिपय यही कारण है कि फाइनर ने उन्हें 'अज्ञात साम्राज्य' कहा।

12.10 दबाव समूह एवं लॉबीइंग मेंअंतरः-

दबाव समूह एवं लॉबी को सामान्यतः एक ही समझा जाता हैं वास्तव मेंदोनों मेंबड़ा अंतर है। दबाव समूह का कार्यक्षेत्र व्यापक होता है तथा अपने लक्ष्य एवं उद्देश्य को प्राप्त करने के उनके माध्यम भी व्यापक होते है। दबाव समूह अपने व्यापक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रचार, पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन राजनीतिक दलों पर दबाव , हड़ताल, प्रदर्शन , न्यायालय की शरण तथा गोष्ठियों आदि का

सहारा लेते है। वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये अनैतिक माध्यमों का प्रयोग करने मेंभी संकोच नहीं करते है। वे अपने उद्देश्य के लिये सरकारी आकड़ों का विश्लेषण कर वह उनका प्रदर्शन कर अपने पक्ष को मजबूत करते है।

इसके विपरीत लाबीइंग का क्षेत्र एवं कार्यविधि दोनों ही दबाव समूह से संकुचित होती है। लांविग के अर्न्तगत केवल विधि निर्माताओं के ऊपर दबाव एवं प्रभाव बनाया जाता है। विधि निर्माताओं को किसी भी प्रकार से प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। वे उन्हें प्रलोभन देने वं अनैतिक माध्यमों का प्रयोग कर अपने पक्ष मेंविधि निर्माण अपने पक्ष मेंकराने मेंविश्वास करते है। वे विधेयकों को अपने पक्ष मेंपास कराने का प्रयास करते है। वे जनमत को बिल्कुल ही महत्व नहीं देते । वे सामान्यतः विधानसभा के लॉबी में सक्रिय रहते है और निजी संपर्कों के द्वारा विधायकों को अपने पक्ष मेंकर कानून अपने लिये बनवाने मेंसफल हो जाते है।

12.11 दबाव समूह एवं हित समूह मेंअंतरः-

सामान्यतः दबाव समूह एवं हित समूह को एक ही समझ लिया जाता है। वास्तव मेंदबाव समूह एवं हित समूह मेंएक बारीक रेखा है। यहाँ पर लाथम का कथन उल्लेखनीय है-'' सभी हित समूह दबाव समूह नहीं होते है, किन्तु परीस्थितिवश वे दबाव समूह की श्रेणी मेंआ जाते है। '' ऐसा माना जाता है कि जब तक हित समूह सक्रिय नहं रहते वे हित समूह रहते है। परन्तु जैसे ही वे हित पूर्ति के लिये सक्रिय हो जाते है वो दबाव समूह मेंपरिवर्तित हो जाते है। इस संबंध मेंपी0 एन0 मसालदान का विश्लेषण बड़ा महत्वपूर्ण है-'' समाज मेंव्यक्तियों के केवल सामान्य हित ही नहीं होते है , अपितु कुछ विशेष हित भी होते है।'' साधारणतया व्यक्ति अपन विशेष व्यवसायिक एवं आर्थिक हित को ज्यादा महत्व देता है। जिन व्यक्तियों के आर्थिक एवं व्यससायिक हित एक से होते है। वे एक हित गुट बन जाते है। कुछ हित गुट मजबूती से संगठित होते है। जब वह संगठित हो अपने विशेष हितों की पूर्ति के लिये सक्रिय हो शासन पर दबाव डालते है। तब वह दबाव समूह मे परिवर्तित हो जाते है।''

कार्टर और हर्ज ने दबाव समूह और हित समूह के अन्तर को बरीकी से स्पष्ट किया। उनके अनुसार - '' विभिन्न आर्थिक , व्यवसायिक ,धार्मिक नैतिक और अन्य समूहों से भरे आधुनिक बहुलवादी समाज के सम्मुख अनिवार्य रूप् से एक बड़ी समस्या यही है कि विभिन्न हितों तथा शासन के बीच सामजस्य कैस रहे। एक स्वतन्त्र समाज के लिए हित समूह को स्वतन्त्र रूप से संगठित होने की आवश्यकता रहती है और जब वे समूह सरकारी तन्त्र और प्रक्रिया को प्रभावित करने का यत्न करते है और इस प्रकार कानूनों, नियमों, लाइसेन्स, तथा अन्य विधायी और प्रशासकीय कार्यों को अपने अनुकूल ढालने की चेष्टा करते है तो वे हित समूह दबाव समूह में बदल जाते है और हित समूह की गतिविधियों सरकार पर दबाव डालने की हो जाती है।''

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक समय मेंजागरूक समाज विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य आवश्यकताओं के लिये एकजुट हो हित समूह बनाते है। जब वे इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये वे सक्रिय होते है। और सरकार पर दबाव बनाने, प्रभावित करने का प्रयास करते है तब वह दबाव समूह में परिवर्तित हो जाते है। दबाव समूह एवं हित समूह मेंप्रमुख अन्तर निम्न हैः-

1.हित समूह अपने हितों की वृद्धि के लिये आग्रह , निवेदन आदि साधनों का प्रयोग करते है जबकि दबाव समूह सदैव दबाव की नीति अपनाते है।

2.हित समूह अपने हितों की रक्षा के लिये शासन को प्रभावित या उन्हें पीछे ढकलने का प्रयास नहीं करते है। इसके विपरीत दबाव समूह राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिये विशेष रूप से प्रयासरत रहते है।

3.हित समूह जागृत नागरिक समाज का हिस्सा होता है। ये हमेशा अपने हितों के लिये सजग रहते है। इनका राजनीति से किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं रहता है। दबाव समूह सरकार पर दबाव बनाने के लिये हर माध्यम का प्रयोग करते हैं। वे राजनीति के साथ प्रत्यक्ष संबंध रखते है।

12.12 दबाव समूह राजनीति की प्रभावकारिता के निर्धारकः-

दबाव समूह का अस्तित्व आज के सभी लोकतन्त्रों में पाया जाता है। आज के लोकतन्त्रों की कल्पना भी दबाव समूहों के अभाव में नहीं की जा सकती है। यह अलग बात है कि कुछ लोकतन्त्रों में ये अत्याधिक प्रभावशाली होते है तथा कुछ स्थानों पर वह सक्रिय नहीं रहते है। एक्सटीन की मान्यता है कि ये तीन तत्व ही दबाव समूह के प्रभावशीलता को तय करते हैः-

1.दबाव समूह के स्वयं के लक्षण का प्रभाव

2.सरकार की गतिविधियों का प्रभाव

3.सरकार की संरचनाओं के निर्णय लेने के का प्रभाव

(1) दबाव समूह के लक्षणः- एक्सटीन के मतानुसार दबाव समूह की स्थिति भी कई बार उसकी प्रभावशीलता के लिये जिम्मेदार होते है। दबाव समूह की आर्थिक स्थिति, उनका आकार, संगठन का ढ़ाचा, कार्यकर्ताओं की निष्ठा, आदि दबाव समूह के प्रभाव को निर्धारित करते है। यह भी देखा गया है कोई दबाव समूह अपने सदस्यों की कर्मठता, निष्ठा तथा नेताओं की योग्यता से हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था मेंप्रभावी रहते है वहीं कुछ दबाव समूह आर्थिक मजबूत स्थिति तथा बड़ी सदस्य संख्या होने के बावजूद प्रभावी नहीं हो पाते है।

(2) सरकार की गतिविधियों का प्रभावः- सरकार की गतिविधियेां तथा उनके निर्णय लेने की क्षमता भी दबाव समूह के प्रभाव को को निश्चित करती है। सरकार का ढ़ाचा अनिवार्य रूप् से दबाव समूह के प्रभाव को स्पष्ट करता है। जहाँ निरकुंश शासन व्यवस्था में दबाव समूह का प्रभाव नगण्य हो जाता है। वहीं लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में दबाव समूहो के समक्ष पर्याप्त अवसर रहता है। वे लोकतन्त्र में बेहद प्रभावशाली हो जाते है।

(3) सरकार के निणर्य लेने की क्षमता का प्रभावः- दबाव समूह की प्रभावशीलता भी अनेक कारणों से प्रभावित होती है। उनमें सरकार की निर्णय लेने की क्षमता भी एक है। यदि सरकार सक्षम है , त्वरित निर्णय लेने में समर्थ है तब कई बार नागरिक समाज से बने दबाव समूह के पास कार्यों को करने का अवसर ही नहीं रह जाता है। उन शासन व्यवस्था में दबाव समूह ज्यादा सक्रिय एवं कारगर रहते है। जहाँ पर सरकारें अनिर्णय की स्थिति में तथा असंवेदनशील होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दबाव समूह की प्रभावशीलता कई कारणों से प्रभावित होती है। सरकार की नीति निर्माण की क्षमता दबाव समूह के प्रभव को तय करते है। कतिपय यही कारण है पश्चिम के उदार लोकतन्त्रों में भी दबावसमूहों के प्रभाव शक्ति मेंअंतर पाया जाता हैं। विकासशील देशों मेंभी सरकार की नीति निर्णय प्रक्रिया की संरचना, दल पद्धति का स्वरूप् तथा राजनीतिक व्यवस्था का संचालन भी दबाव समूहों के प्रभाव को घटाते एवं बढ़ाते दिखते है।

12.13 दबाव समूह की सक्रियता के विभिन्न स्थानः-

यह स्वीकार तथ्य है कि लोकतन्त्र में दबाव समूह अपरिहार्य है। उनका लोकतन्त्रों में व्यापक प्रभाव रहता है। इस संबंध में एलनबाल का कथन उल्लेखनीय है-'' उदारवादी लोकतन्त्रों में दबावसमूहों की कार्यविधियाँ मुख्यतः कार्यपालिका तथा संसदीय स्तरों पर निर्णयकारी प्रक्रियाओं को प्रभावित करेन से संबध रखती है। इसमेंसे किसी भी स्तर पर बल देने का प्रयास आंशिक रूप से इन तीन भिन्नताओं पर निर्भर करेगा।'' राजनीतिक संस्थायें, दल पद्धति, राजनीतिक संस्कृति।'' दबाव समूह हर लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था मेंसक्रिय रहते है। इनकी सक्रियता का प्रमुख जोर उन संस्थाओं पर रहता है जिनसे इनके हितों की रक्षा और पूर्ति संबंधी निर्णय लिये जाते है। दूसरे शब्दों मेंकहे तो सरकार के सभी अंगों के साथ दबाव समूह सक्रिय रहता है। वे हर निर्णय निर्माण, क्रियान्वयन के स्तर पर सक्रिय रहते है। वे कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायिका के साथ निकट संबंध रखते हुए , अपने हितों की पूर्ति कराने का प्रयास करते है। वे नौकरशाही के साथ भी घनिष्ठ संबंध रखते है। उनकी सक्रियता के विभिन्न स्थान निम्न हैः-

1.कार्यपालिका पर प्रभावः- समय गुजरने के साथ विधायिका की शक्तियों का क्षय हुआ और कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हुई। कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र मेंवृद्धि हुई। कतिपय यही कारण है कि आधुनिक समय मेंदबाव समूह का लक्ष्य क्षेत्र ;ज्तंहमज ।तमंद्ध कार्यपालिका होती है। संसदात्मक

एवं अध्यक्षात्मक शासन दोनों ही व्यवस्थाओं मेंकार्यपालिका की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से विधि निर्माण के कार्य संलग्न रहती है। बजट निर्माण करना, कर प्रस्ताव, महत्वपूर्ण पदों के लिये नियुक्तियाँ आदि कार्यों मेंकार्यपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। अतः दबाव समूह कार्यपालिका के स्तर पर सक्रिय हो अपने हितों की पूर्ति का प्रयास करते है। इस कार्य हेतु वे मंत्रियां, विभिन्न मत्रांलयों की परामर्शदायी समितियों को , विरोधी खेमों के सदस्यों को प्रभावित करने का प्रसास करते है। वे व्यवस्थापिका मेंभी प्रश्नों को उठाकर कार्यपालिका को प्रभावित करने मेंसफल हो जाते है। आज के समय में कार्यपालिका के शक्तिशाली स्वरूप को देखते हुए दबाव समूह अपनी पूरी शक्ति कार्यपालिका के ऊपर लगाकर उनको प्रभावित करने का प्रयास करती है। संसदीय शासन व्यवस्था मेंआज व्यवस्थापिका अनुचर बन कर रह गई है। कतिपय यही कारण है कि आज कार्यपालिका दबाव समूहों के द्वारा सर्वाधिक प्रभावित किया जाता है।

2.व्यवस्थापिका पर प्रभावः- व्यवस्थापिका सरकार का वह अंग है जो कानून बनाने का कार्य करती है। यही कारण दबाव समूह विधायिका को प्रभावित कर कानूनों को अपने हितों के अनुरूप बनवाने का प्रयास करते है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे चुनाव प्रचार, आर्थिक सहायता, द्वारा पहले विधायकों को अपने ऊपर आश्रित बना लेते है। उसके बाद वे उन्हीं के द्वारा अपने लिये विधि निर्माण करवाते है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण अमेरिका मेंमिलता है जहाँ चुनाव मेंदबाव समूह प्रत्याशियों के चयन से लेकर निर्वाचन तक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। कई बार यही कारण है कि अमेरिका मेंकाँग्रेस के सदस्य दलों की अपेक्षा दबाव समूह से अधिक घनिष्ठता दर्शाते है। इस संबंध मेंडी0 एम0 बर्मन ने लिखा है-'' कॉग्रेस (विशेषकर प्रतिनिधि सभा) के सदस्य अपने को दबाव समूह के पंजों में दबा हुआ महसूस करते है। अपने दल के आदेशों की तुलना मेंवे दबाव समूहों के आदेशों को ज्यादा महत्व देते है।''

इस संबंध मेंएलन वाल का विचार महत्वपूर्ण है। वे मानते है कि संसदीय शासन मे दबाव समूह की सक्रियता बहुत महत्वपूर्ण है। आज व्यवस्थापिका कानून निर्माण की औपचारिकता ही निभाती है। यही कारण है दबाव समूह दल के बड़ें नेताओं, अधिकारियों पर ध्यान केन्द्रित करते है। दबाव समूह राजनीतिक दलों का अधिक प्रभावित करते है। अमेरिका में जहां अध्यक्षात्मक शासन है वहाँ पर विधायकों के ऊपर दलीय अनुशासन कठोर नहीं होता है। वहां दबाव समूह विधायिका के सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयास किया। वे कई बार उनसे दल के विरूद्ध दबाव समूह के हित में मतदान करते हुए भी दिखायी पड़ते है।

3.न्यायपालिका पर प्रभावः- लोकतन्त्रों मेंन्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने का प्रयास किया गया है। संविधान के द्वारा न्यायपालिका को ही संविधान की रक्षा तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा की जिम्मेदारी दी गई है। कुछ देशों में न्यायपालिका के पास न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति होती है जिसकू द्वारा वे विधायिका एवं कार्यपालिका के ऊपर प्रभाव स्थापित करने मेंसफल हो जाते है।

न्यायिक पुनरावलोकन के द्वारा न्यायपालिका की सर्वोच्चता अन्य दो अंगों पर स्थापित हो जाती है। इन व्यवस्थाओं मेंआम धारणा के विरूद्ध दबाव समूह न्यायपालिका में सक्रिय हो अपने हितों को साधने का प्रयास करती है। एलेन बाल के शब्दों में -'' अमेरिका मेंदबाव समूह ऐसे न्यायधीशों के चुने जाने के लिये प्रयत्नशील रहते है जो बहुधा राजनीतिक रूप से सक्रिय रहे होते है। वे ' टेस्ट केसेज' का इस्तेमाल करके और न्यायधीशों के कुछ निर्णयों का प्रभावित करने के लिये जन अभियान चलाकर, न्यायधीशों पर दबाव डालने की कोशिश करते है।''

भारत में भी न्यायधीशों को प्रभावित करने के प्रयास पूर्व में भी हुए है। और आज भी इसके उदाहरण मिल जाते है। भारत मेंप्रीवियर्स, तथा बैकों के राष्ट्रीयकरण के मुकदमें मेंसर्वोच्च न्यायालय मेंसुनवाई के समय दबाव समूह काफी सक्रिय दिखायी पड़े थे। कुछ विद्वान इन संकेतों को लोकतन्त्र के लिये शुभ संकेत नहीं मानते है। इसके बावजूद आधुनिक समय में दबाव समूह की कार्यप्रणाली, प्रभाव ऐसा है जिससे सरकार का कोई अंग बच नहीं सकता है।

4.प्रशासनिक स्तर पर प्रभावः- दबाव समूह प्रशासनिक अधिकारियों को भी प्रभावित करने का प्रयास करते है। सभी नीतियों, कानूनों का क्रियान्वयन प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा होता है। प्रदत्त विधायन मेंकानून बनाने मेंअधिकारियों एवं विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है। ऐसी स्थिति में दबाव समूह सक्रिय हो इनसे अपने हितों की पूर्ति करवाने का प्रयास करते है। एलन वाल का मत है कि विधि निर्माण तथा क्रियान्वयन के समय अपनी तकनीकी ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण अधिकारियों की स्थिति कई बार मंत्रियों से भी श्रेष्ठकर हो जाती है। ऐसे में दबाव समूह को अपने हित साधने का अवसर इन अधिकारियों को प्रभावित कर प्राप्त हो जाता है। विकासशील देशों में दबाव समूह की सक्रियता प्रशासनिक स्तर पर ज्यादा दिखायी पड़ता है।

5.निर्वाचन के स्तर पर प्रभाव:-दबाव समूह निर्वाचन के स्तर पर भी प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करते है। इकबाल नारायण के शब्दों में-'' कई बार दबाव समूह जब अपने हितों की पूर्ति करने मेंअसफल हो जाते है तो वे चुनाव के अवसर पर आर्थिक शक्ति अथवा अन्य आधार पर राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करते है। जाति, प्रजाति, सम्प्रदाय , क्षेत्र तथा शक्ति के द्वारा वे सबसे पहले सभी राजनीतिक दलों क संभावित प्रत्याशियों की सूची में अधिकाधिक संख्या में अपने सदस्यों को शामिल करवाने का प्रयास करते है। इसके लिये दलों का आर्थिक समर्थन करते है। यदि वे ऐसा कराने में असफल होते है तो वे संबंधित दल के विरूद्ध प्रचार अभियान शुरू कर देते है। चुनाव जैसे-जैसे महंगा होता जा रहा है वैसे-वैसे दबाव समूहों का महत्व बढ़ता जा रहा है। आज दबाव समूह का प्रभाव निर्वाचन मेंज्यादा है क्योंकि मँहगे चुनाव में प्रत्याशियों की निर्भरता धन के लिये इन दबाव समूहों पर ज्यादा हो गई है। अतः विजयी होने के बाद उन्हें अपने आर्थिक सहयोगी की इच्छानुसार चलना पड़ता है।

दबाव समूह की सक्रियता के ये स्तर लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। सर्वाधिकारवादी तथा निरंकुश शासन व्यवस्था मेंइनकी सक्रियता नहीं चल पाती है। सर्वाधिकारवादी व्यवस्था मेंदबाव समूह का अस्तित्व तो ऐसा है परन्तु उनका प्रभाव बेहद कम होता है। वे राज्य नियन्त्रित उद्योगों के प्रबन्धक की भूमिका मेंरहते है।

24.14 दबाव समूह और लोकतन्त्र:-

दबाव समूह को लोकतन्त्र की आवश्यकता बताया जाता है। लोकतन्त्र मेंसरकारें जनता के पास पांच वर्षों के बाद आती है। पांच वर्ष से पहले राजनीतिक दल तथा दबाव समूह ही राजनीतिक व्यवस्था का संचालन करते है। वे आमजनता केा जागरूक करते है, सरकार कूनीतियों, कार्यक्रमों तथा उनकी खामियों का प्रचार करते है। वे सरकार के ऊपर समूह बनाकर दबाव बनाते है । तथा अपने हितों की पूर्ति करवाते हैं । वे कई बार सरकार के ऊपर अंकुश लगाने के लिये आंदोलन, प्रदर्शन, करना आदि का मार्ग भी अपनाते है। टूमैन ने अपनी पुस्तक गर्वनमेटंल प्रासेस में दबाव समूहों को लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सुरक्षा एवं उसके सरल संचालन के लिये आवश्यक माना है। उनका मानना था कि -'' प्रत्येक व्यक्ति एक से अधिक समूहों का सदस्य होता है अतः पारस्परिक प्रतियोगितारत समूहों के द्वारा खेल के नियमों के पालन मेंमर्यादा उल्लंघन किये जाने पर वह अपनी ओर से तीव्र प्रतिक्रिया ही व्यक्त नहीं करता वरन अपने स्वयँ के समूह की भी मर्यादा का उल्लघंन नहीं करने देता। इस प्रकार सभी समूहों में आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया की ऐसी मर्यादा बन जाती है जिसका पालन सभी करते है। ऐसी स्थिति में किसी समूह या शासन के द्वारा सत्ता के दुरूपयोग की संभावना न्यूनतम रहती है। कोई भी समूह शक्तिशाली नहीं बन पाता तथा विविध समूहों तथा शासन के बीच एक शक्ति का एक सक्रिय संतुलन बना रहता है। यह लोकतन्त्र को आदर्श अवस्था है।'' वह आगे और स्पष्ट करते हुए कहते है कि यदि प्रतियोगिता अमर्यादित होगी तो जनतांत्रिक परम्परायें अक्षुण्ण नहीं रहेगी वरन लोकतन्त्र तभी सफल होगा जब समूह प्रतियोंगितारत रहते हुए भी नियमों एवं सीमाओं का पालन को।

लोकतन्त्र में समूह बनाने की स्वतन्त्रता रहती है। कतिपय यही कारण है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति एक साथ ही जातीय , धार्मिक, क्षेत्रीय , व्यवसायिक, भाषायी, वर्गीय, उपभोक्ता, उत्पादक आदि अनेक समूहों संगठनों का सदस्य होता है। इन संगठनों की सदस्यता औपचारिक नहीं होती परन्तु इसके बावजूद संकट के समय या सरकार के द्वारा अत्याचार के समय इन संगठनों के द्वारा न केवल विरोध किया जाता है वरन बड़ी संख्या मेंसहानुभूति एवं समर्थन जुटाया जाता है। यह लोकतन्त्र के लिये शुभ संकेत है। इसका द्वारा सरकारों के ऊपर नियन्त्रण स्थापित होता है। वे दूसरे संगठनों के साथ प्रतिस्पर्धा में रहते हुए भी वे सरकार को संतुलित एवं नियन्त्रित करने का कार्य करते है। कतिपय यही कारण है लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिये दबाव समूहों की उपस्थिति अनिवार्य है।

दबाव समूह समाज में अतिवादी (उग्र) विचार के विरोधी होते है। विभिन्न समाजों मेंहित समूहों के अलग-अलग हित होते है। इन समूहों में शासन को अपनी ओर खींचने की प्रतियोगिता होती है। इस प्रतियोगिता से समूहों के बीच कुछ नियमों पर सहमति भी हो जाती है। सभी समूह उनका पालन करते है। ऐसे में कोई समूह बनना चाह कर भी नहीं बन पाता है। किसी भी समूह की उग्र एवं असंवैधानिक कार्यों एवं नीतियों को अन्य समूहों के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। यही कारण है कि दबाव समूहों को शक्ति संतुलक भी कहा जाता है। वे आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक शक्तियों के बीच संतुलन स्थापित करते है। वे किसी एक संगठन एवं समूह को अत्याधिक प्रभावशाली नहीं होने देते है। कतिपय यही कारण है कि उन्हें समाज में शक्ति संतुलन को बनाये रखने तथा लोकतन्त्र को मजबूत करने वाला समूह माना जाता है। दूसरे शब्दों मेंकहे तो वे लोकतन्त्र के आधार स्तम्भ है। यह दो चुनाव के अंतराल में राजनीतिक गतिविधियों को संचालित करते है। ये सरकारों को नियन्त्रित करते है। यह सरकारों को उत्तरदायी बनाते है। यह जनता के हितों के लिये सरकार को उनकी माँगों से अवगत कराते है। सरकार को जनहित के प्रति सचेत करते है। ये समाज में विभिन्न समूहों एवं संगठन के उग्र प्रयासों को नियन्त्रित करते है। यह संगठनों को न केवल नियन्त्रित करते है वरन उनके बीच एक संतुलन बनाने का प्रयास करते है। उनके बिना लोकतन्त्र को सुदृढ़ एवं स्थिर रखने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कतिपय यही कारण है कि दबाव समूहों को लोकतन्त्र की ' जीवन डोर ' कहा जाता है।

12.15 विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं (सरकारों) में दबाव समूहः-

रावर्ट सी बोन ने दबाव समूह के ऊपर व्यापक विश्लेषण किया। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक दबाव समूह राजनीतिक व्यवस्था मेंही कार्य करते है। हर राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूहों की स्थिति, उनकी प्रभावशीलता अलग-अलग होती है। बोन ने अध्ययन की सरलता के लिये दुनिया की राजनीतिक व्यवस्थाओं को पाँच भागों में बांटा। विभिन्न शासन व्यवस्था में दबाव समूह की भूमिका इस प्रकार हैः-

12.15.1 ऑग्ल अमेरिका राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह

प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था दबाव समूहों की गतिविधियों को निर्धारित करती है। इन दोनों देशों की राजनीतिक व्यवस्था में ऐसी विशिष्टतायें है जिनके कारण दबाव समूह भी विशेष स्थिति में ढल गये है। इन देशों में दबाव समूह की प्रकृति विशिष्ट प्रकार की बन गई है। इन देशों में दबाव समूह के प्रमुख लक्षण निम्न हैः-

(1) परीस्थितिजन्य दबाव समूहः- इन देशों में बहुसंख्यक दबाव समूह परीस्थिति जन्य होते है। आंग्ल-अमेरिकी व्यवस्था में' खेल के सिद्धान्तों' पर सहमति के कारण सभी दबाव समूह अपने सदस्यों की अवस्था की सुरक्षा तथा सुधार का लक्ष्य रखते है।

(2) विधि सम्मत प्रक्रियाओं में विश्वासः- ऑग्ल-अमेरिकी दबाव समूह विधि सम्मत प्रक्रियाओं मेंविश्वास करते है। वे असवैधानिक साधनों, हिंसा में विश्वास नहीं रखते है। वे क्रान्ति को भी महत्व नहीं देते है। वे प्रचलित ढ़ाचे में विश्वास रखते है तथा उसी मेंआवश्यक फेरबदल कर व्यवस्था मेंहित साधने का प्रयास करते है।

(3) स्वहित पर आधारित एवं परीस्थिति जन्यः- इन देशों मेंअधिकांश दबाव समूह परीस्थितिजन्य होते है। तथा स्वहित मेंकार्यरत होते है। वे विशिष्ट हित वादी होते है। वे कभी सामान्यहित अथवा समाज हित की भावना से न तो प्रेरित होते है और न ही उस दिशा में कार्य करते है।

(4) संस्थागत एवं समुदायात्मक दबाव समूहः- इंग्लैण्ड तथा अमेरिका का समाज एक विकसित समाज है अतः वहांँ पर अधिकांश दबाव समूह संस्थागत तथा समुदायात्मक होते है। यहाँ पर असमुदायात्मक दबाव समूह न के बराबर पाये जाते है।

(5) विशिष्टीकरण पर आधारित विशेषज्ञों का समूहः- अमेरिका एवं इंग्लैण्ड का समाज एक उन्नत एवं विकसित समाज है अतः यहाँ पर कार्य जटिल एवं तकनीकी तरह के होते है। उनको करने के लिये विशिष्ट एवं विशेषज्ञ प्रवृत्ति के लोगों की आवश्यकता होती है। ये पेशेवर एवं विशेषज्ञ लोग पूरे समय अपनेहितों के लिये प्रयासरत रहते है। ऐसे दबावसमूह अन्यत्र नहीं दिखायी पड़ते है।

(6) एक दूसरे पर निर्भरता तथा नियन्त्रण एवं संतुलनः- ब्रिटेन एवं अमेरिका का समाज एक विकसित समाज है। यहाँ के दबाव समूह कानूनों, परम्पराओं, रीतियों मेंविश्वास करने वाले होते है। ये सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों से निर्देशित होते है। ये आत्म संयम में विश्वास करते है। यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण के साथ समायोजन करने का प्रयास करते है। यह दबाव समूह 'संतुलन चक्र' के रूप में विभिन्न संस्थाओं व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को संकुलित करते है।

अमेरिका एवं इंग्लैण्ड मेंपाये जाने वाले दबाव समूहों मेंउपरोक्त विशेषतायें दिखायी पड़ती है। इसके बावजूद इन दोनों देशों में दबाव समूहों मेंकुछ भेद भी दिखायी पड़ते है। इन दोनों देशों मेंसरकार की संरचनाओं व दलीय पद्धति में बड़ा अंतर है जिसका प्रभाव दबाव समूह पर दिखायी देता है। यही कारण है कि दबाव समूह की प्रकृति, संगठन एवं लक्ष्यों में अंतर दिखायी पड़ता है। इनके बीच पाये जाने वाला प्रमुख अंतर इस प्रकार हैः-

(1) नैतिकता एवं आदर्शो के आधार पर अंतरः- अमेरिका मेंदबाव समूहों को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता है। वहां पर उनका इतिहास दागदार रहा है। इंग्लैण्ड मेंदबाव समूहों को संदेह की नजर से नहीं देखा जाता है। राबर्ट सी बोन ने लिखा है-'' अमेरिकी दबाव समूह ऐसी राजनीतिक संस्कृति मेंपरिचालित होते है कि अजीब विरोधाभासी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक तरफ सभी दबाव समूह को अनुचित समझा जाता है दूसरी तरफ उन्हें प्रभाव डालने के विचित्र अवसर उपलब्ध कराये जाते

है।'' अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्था की यह विचित्र स्थिति है कि वहाँ पर सरकार एवं दलों से अपेक्षा नहीं की जाती की वह किसी प्रकार का कोई पहल करेंगें। वहाँ पर जनता से आशा की जाती है कि वे सरकार से तथा दलों से समस्याओं तथा समाधान की माँग करेगें। इस व्यवस्था मेंदबाव समूह महत्वपूर्ण हो जाते है। दूसरी तरफ ब्रिटेन में दबाव समूह को राजनीतिक प्रक्रिया का आवश्यक अंग माना जाता है। संसदीय शासन व्यवस्था , एकात्मक शासन के कारण ब्रिटेन की राजनीतिक संस्कृति दबाव समूहों को अपने मेंलपेटे रहती है। यहाँ पर दबाव समूहों को सकरात्मक रूप् से सरकार का सहयोगी माना जाता है।

(2) शासन व्यवस्था के कारण अन्तर:- अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के कारण दबाव समूह को शासन मेंप्रवेश करने तथा विशेष भूमिका अदा करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का अवसर ब्रिटेन की संसदात्मक शासन व्यवस्था में वे नहीं प्राप्त कर पाते है। अमेरिका मेंशासन प्राप्त रिक्तता के कारण वे ज्यादा प्रभावी एवं शक्तिशाली हो जाते है।

(3) अमेरिका मेंदबाव समूह द्वारा मांगों को प्रस्तुत करना जबकि ब्रिटेन मेंराजनीतिक दलालों के द्वाराः- अमेरिका मेंदबाव समूह की मांगों को प्रस्तुत कर सरकार के ऊपर दबाव बनाने का प्रयास करते है। इसके ठीक विपरीत ब्रिटेन में दबाव समूह के स्थान पर राजनीतिक दल अधिक प्रभावी रहते है। और वे ही इन कार्यों को करते है। संसदीय शासन व्यवस्था मेंदलों की सरकार के उत्थान एवं पतन में विशेष भूमिका रहती है। अंतः यहाँ पर दबाव समूह मांगों के लिये दबाव बनाने का कार्य नहीं करते है।

(4) जनता की राजनीतिक उदासीनता के कारण अमेरिका मेंदबाव समूह की सक्रियताः- अमेरिका की शासन व्यवस्था मेंदेखा गया है कि वहाँ के नागरिक राष्ट्रपति के निर्वाचन में तो बढ़चढ़ कर हिस्सेदारी करती है। परन्तु अन्य राजनीतिक कार्यों मेंउसकी हिस्सेदारी कम ही रहती है। इसके विपरीत ब्रिटेन में जनता अधिक सजग, सक्रिय एवं राजनीतिक रूप् से जागरूक है। यही कारण है कि वह राजनीतिक दलों के साथ मिलकर शासन मेंअधिक प्रभावी भूमिका अदा करती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका तथा ब्रिटेन में अलग-अलग शासन व्यवस्था के अस्तित्व के कारण दबाव समूहों की भूमिका एवं प्रभाव मेंव्यापक अंतर दिखायी पड़ता है। ब्रिटेन मेंराजनीतिक दल एवं जागृत समाज के कारण दबाव समूहों का प्रभाव क्षेत्र कम हो जाता है। वहां पर दलों एवं दबाव समूहों के संबंधों को बढ़ावा दिया जाता है। वहां पर दबाव समूहों एवं प्रशासकीय अधिकारिकयों के साथ संबंधों को शंका की नजर से नहीं देखा जाता है। इसके ठीक विपरीत अमेरिका मेंइन संबंधों को शंका एवं अनैतिक दृष्टि से देखा जाता है। ब्रटेन मेंसंसद सदस्य अनेक श्रम संघों से न केवल जुड़े हुए है वरन उनसे आर्थिक मदद भी प्राप्त करते है। इसके विपरीत अमेरिका मेंदबाव समूहों का संबंध राजनेताओं एवं प्रशासनिक अधिकारियों से गुपचुप एवं रहस्यमयी संबंध

रखते है। उनसे मिलने वाली सहायता भी गोपनीय रखी जाती है। वहाँ उक्सर इन आर्थिक मदद से पदा उठते ही राजनेताओं के राजनीतिक जीवन पर खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि अमेरिका मेंदबाव समूहों का प्रभाव एवं महत्व नहीं है। अमेरिका में दबाव समूहों की गोपनीय एवं रहस्यमयी भूमिका मेंउत्तरोतर वृद्धि होती जा रही है। यहाँ पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि इन दोनों देशों मेंदबाव समूह का अस्तित्व है उनका प्रभाव है परन्तु वे किसी भी राजनीतिक दल को नियन्त्रित करने की स्थिति में नहीं है। इसके विपरीत फ्रांस सहित अन्य यूरोपीय देशों मे दबाव समूहों का नियन्त्रण राजनीतिक दलों के ऊपर देखा जा रहा है। अमेरिका मेंसंघात्मक शासन, शकित पृथक्करण , कांग्रेस की समितियों के असीमित अधिकार, ठोस अनुशासन वाले दलों का अभाव दबाव समूहों को शासन मेंघुसपैठ करने का पर्याप्त अवसर प्रदान कर देता ह। उनकी राजनीति उग्र, व्यापक एवं महत्वपूर्ण हो जाती है।

12.15.2 यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहः-

इटली एवं फ्रांस को छोड़कर सभी यूरोपीय राजय इस समूह में माने जाते है। इन देशों की राजनीति का एक विशेष पैटर्न है। यूरोपीय देशों मेंप0 जर्मनी में आंग्ल-अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप् दबाव समूह अत्याधिक बड़ें एवं प्रभावशाली है। यहाँ के प्रमुख दो दल दबाव समूहों का मिलन का स्थान बन गये है। ये राजनीतिक दलों को धन देते है। इनके 40 प्रतिशत सदस्य दबाव समूह के होते है जो विधायिका में चुन कर आते है। जर्मनी में दबाव समूहों को शंका की नजर से नहीं देखा जाता है। वे शासन संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

फिनलैण्ड, स्वीडन, बेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रिया, स्विटजरलैण्ड आदि राज्यों में राजनीतिक संस्कृतियो की समानता के कारण दबाव समूह की भूमिका भी एक ही प्रकार पायी जाती है। यहाँ की राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह की भूमिका को स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर प्रत्येक कर्मचारी किसी न किसी दबाव समूह से सम्बन्धित रहते है। ये अधिकाशतः श्रमिक संघों के सदस्य होते है। जर्मनी की तरह इन देशों में राजनीतिक दल, दबाव समूहों तथा उनके सदस्यों को प्रत्याशी के रूप् में स्वीकार करते है। सरकार प्रायः नीति निर्माण करते समय सम्बन्धित दबाव समूहों से परामर्श भी करती है। इन देशों में दबाव समूह अपनी शक्ति, प्रभाव के द्वारा सतुंलनकारी यंत्र बन राजनीतिक व्यवस्था के संचालन मेंसहायक होते है।

12.15.3 इटली एवं फ्रांस में दबाव समूह की भूमिकाः-

इटली एंव फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप् शेष यूरोपीय देशों से भिन्न है। राजनीतिक व्यवस्था की विलक्षणता के कारण इन देशों में दबाव समूहों की भूमिका अलग एवं विलक्षण तरह की बन गयी है। फ्रंास में पाँचवें गणतन्त्र से पहले राजनीतिक अस्थिरता का युग था। पाँचवें गणतन्त्र के संविधान के बाद स्थितियों में बदलाव आया। वहां पर कार्यपालिका के शक्तिशाली होने

के कारण दबाव समूहों को नौकरशाही एवं कार्यपालिका से अपने कार्य कराने पड़ते है। वहाँ पर दबाव समूह विशेषीकृत पेशेवर कार्यकर्ताओं के द्वारा संचालित होने लगे है। वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूहों की विशेष भूमिका नहीं है।

इटली के दबाव समूह भी विशेष समूह भी विशेष राजनीतिक संस्कृति के कारण विचित्र बन गये है। जोसेफ लॉ पालोम्बरा ने अपनी पुस्तक '' इस्टेªस्ट ग्रूप इन इटालियन पॉलिटिक्स'' मेंदबाव समूहों की अनोखी प्रकृति का विश्लेषण किया। इटली की विखडिंत एवं अलगाववादी राजनीतिक संस्कृति के कारण दबाव समूहों की अत्याधिक संख्या है। पालोम्बरा ने रोम मेंही तीन हजार से अधिक समूहों की संख्या बतायी है। ये निरन्तर राजनीतिक व्यवस्था मेंहस्तक्षेप करते है। यहाँ के दबाव समूह फ्रांस की तरह राजनीतिक दलों पर '' नियन्त्रण स्थापित करते हुए दिखायी पड़ते है। यहाँ पर दबाव समूहों की प्रकृति, संगठन, गतिविधियाँ एवं कार्यशैली विलक्षण है। ये किसी एक संरचना मेंनहीं बांधे जा सकते है। ये मिश्रित प्रकृति रखते है। इन व्यवस्थाओं में दबाव समूह कट्टरता से भरे हुए केवल अपने को सही मानने वाले होते है। यह दलों का प्रभावित ही नहीं करते वरन उनपर नियन्त्रण भी स्थापित करते है। कई दबाव समूह दलों के पिछलग्गू बन हितों को साधने का प्रयास करते है। इनके अविश्वसनीय रवैये के कारण जनता कई बार इनके प्रति संदेह का रवैया अपनाने लगती हैं।

12.15.4 सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूहः-

सर्वाधिकारवादी व्यवस्था मेंनिर्णय लेने का अधिकार एक स्थान पर केन्द्रित रहता है। ऐसे मेंबाहर से निर्णय निर्माण को प्रभावित करना सरल नहीं रहता है। यहाँ पर दबाव समूहों का अस्तित्व ही विरोधीभासी प्रतीत होता है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि यहाँ पर ऐसे समूहों को कुचल दिया जाता है। इन सर्वाधिकारी राजयों मेंबल प्रयोग पर जोर दिया जाता है। यहाँ पर इनका अस्तित्व होना ही महत्व की चीज है। इनकी पश्चिमी देशों की तरह सक्रियता संभव ही नहीं है।

नाजी जर्मनी में दल के विभिन्न गुट, पुलिस, सैनिक निकाय, नौकरशाही, बड़े व्यापारी हितों तथा हिटलर के सलाहकारों के बीच प्रतिस्पर्धा रहती थी जो इस बात का प्रमाण था कि निरंकुश शासन व्यवस्था में संस्थात्मक एवं समुदायात्मक दबाव समूह किसी न किसी रूप् में विद्यमान रहे है। यहाँ कठोर नियन्त्रण के पीछे दबाव समूह क्रियाशील रहते है तथा कभी-कभी प्रभावी ढ़ग से प्रकट भी होते हैं साम्यवादी व्यवस्था में भी अधिक सख्ती एवं हिंसा के बावजूद दबाव समूहों का अस्तित्व मिलता है। वहां पर साम्यवादी दल के अंदर ही समूहों मेंप्रतिस्पर्धा दिखायी पड़ती है। यहां पर दल के अधिकारी तथा बुद्धिजीवियों के समूहों को दबाव समूह के रूप् मेंलिया जाता है। रूस एवं चीन मेंसेना भी दबाव समूह के रूप् में कार्य करती दिखायी पड़ती है। रूस मेंयुद्ध नायक मार्शल जुकोव को तथा चीन में मार्शल जिन पियाओ को रक्षामंत्री पद से हटाया जाना इसका संकेत है। यहां पर प्रदर्शनात्मक दबाव समूह का अस्तित्व सदैव रहता है।

12.15.5 विकासशील राष्ट्रों मेंदबाव समूहः-

विकासशील देशों में राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं सरंचनायें संक्रमण के दौर से गुजर रही है। वहाँ पर राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक संस्कृति अभी स्थापित नहीं हो पाई है। अतः इन व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की प्रकृति, कार्यशैली एवं प्रभाव मेंअंतर पाया जाता है। यहाँ का समाज परम्परावादी है जिसके कारण असमुदायत्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों के रूप् मेंकुलीन, जातीय, नृजातीय, वर्गीय, गुटीय, हितों के आगे बढ़ाने का प्रयास करते है। इनमें कुछ आधुनिक तत्वों की उपस्थिति संस्थात्मक दबाव समूहों को भी जन्म देते है। सभी विकासशील देशों में स्वतन्त्रता संघर्ष के समय से ही टे"ड यूनियन का गठन तथा महत्वपूर्ण भूमिका स्थापित हो गई थी। यही कारण है कि यहाँ पर स्वतन्त्रता बाद ट्रेड यूनियनों ने संस्थात्मक दबाव समूह का रूप् धारण किया।

इन राज्यों मेंकुछ प्रदर्शनात्मक दबाव समूह भी पाये जाते है। इनका प्रभाव अन्य देशों से ज्यादा रहता है। विकासशील राज्यों मेंसेनाओं से संबन्धित संस्थात्मक दबाव समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। सैनिक नेतृत्व भावनात्मक एकता के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव डालता है। यहाँ पर सेना एक प्रमुख दबाव समूह है।

यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इन विकासशील देशों में विकासशील देशों मेंविकास के साथ संस्थागत एवं समुदायात्मक दबाव समूहों की संख्या एवं महत्व मेंवृद्धि होगी। राजनीतिक व्यवस्थाओं में सुविकसित राजनीतिक दलों के अभाव के कारण प्रदर्शनात्मक दबाव समूहों का स्थान एवं महत्व बढ़ रहा है। विद्यार्थियों का आंदोलन विकसित राज्यों मेंअधिक होने की संभावना रहती है। ये विद्यार्थी आंदोलन विकसित राज्यों में अधिक प्रभावशाली दबाव समूह के रूप में दिखायी देते हैं। विकासशील देशों में विद्यार्थियों की मूलभूत सुविधाओं के अभाव के कारण प्रदर्शनात्मक दबाव समूह के रूप् मेंविकसित होने की प्रबल संभावना है। इस प्रकार यहां पर समुदायात्मक तथा संस्थागत दबाव समूहों के प्रभावशाली होने की परीस्थितियाँ बनती जा रही है। दूसरी तरफ सेना एवं विद्यार्थियों के प्रदर्शनात्मक दबाव समूहों के उदय के भी लक्षण दिख रहे है। यह भी सत्य है कि समय गुजरने के साथ ही विकासशील देशों में इनकी संख्या मेंवृद्धि होगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। कही पर यह सृजन की भूमिका में तो कही विध्वंस की भूमिका मेंहै। राजनीतिक संस्कृति में परिवर्तन के साथ दबाव समूहों की प्रकृति मेंपरिवर्तन आता जा रहा है। मानव सामाजिक प्राणी है। अतः चेतना एवं जागृति के साथ वह समूह मेंसंगठित होगा और आने वाले समय में दबाव समूह का प्रभाव एवं महत्व बढ़ता जायेगा। अमेरिका में प्रदर्शनात्मक दबाव समूहों भरमार तथा सेनाओं का शासन व्यवस्थाओं में दखल इस बात का संकेत है कि भविष्य मेंदबाव समूहों का अस्तित्व एंव

भूमिका अलग होगी। भविष्य में राजनीतिक दलों के सहयोगी के रूप् में दबाव समूह का महत्व बढ़ेगा।

अभ्यास के प्रश्नः-

(1) मजदूर संघों को कहा जाता है-

(1) लेगर आर्गनाइजेशन (2) लेबर असेम्बली (3) टे"ड यूनियन (4) कोई नहीं

(2) वर्तमन मेंदबाव समूह है-

(अ) लोकतन्त्र विरोधी (ब) लोकतत्र समर्थक एवं सहयोगी

(स) अलोकतान्त्रिक (द) सभी

(3) निम्न में से कौन अज्ञात साम्राज्य है-

(अ) राजनीतिक दल (ब) राजनेता (स) राजनीतिक संस्थायें (द) दबाव समूह

(4) दबाव समूह होते है-

(अ) राजनीतिक (ब) अराजनीतिक(स) दोनों (द) कोई नहीं

(5) निम्न में से कौन सा राजनीतिक दल का लक्षण नहीं है-

(अ) ऐच्छिक संगठन (ब) जनहित संगठन (स) औपचारिक संगठन

(द) निश्चत शक्ति

12.16 सारांश

दबाव समूह का इतिहास उतना ही पुराना है जितना की लोकतन्त्र का। पश्चिम के देशों में दबाव समूह का उदय हुआ। आज दुनिया के सभी देशों में इनका अस्तित्व पाया जाता है। यह सत्य है कि लोकतन्त्र जितना अधिक परिपक्व एवं मजबूत होगा उतना ही वहां पर दबाव समूहों का अस्तित्व होगा।

समय गुजरने के साथ जन आंकाक्षाओं मेंआये उभार एवं बढ़ती जरूरतों ने सरकार के ऊपर दबाव बनाने एवं उनसे त्वरित रूप से लाभ पाने के लिये दबाव समूह का उदय हुआ। आज अमेरिका से शुरू हुई दबाव समूहों की यात्रा लगभग दुनिया के सभी देशों मेंपहुँची है। वह चाहे संसदीय शासन हो या अध्यक्षात्मक एक चीज सामान्य रूप् से पायी जाती है, वो दबाव समूह। यहाँ आश्चर्य है कि दबाव

समूह केवल लोकतन्त्र में ही नहीं दिखायी पड़ते वरन वे सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्थाओं में सैनिक तन्त्र, अधिकारी तन्त्र के रूप् में तथा साम्यवादी व्यवस्थाओं मेंदलीय समूह, अधिकारी समूह के रूप् में दृष्टिगत होती है।

दबाव समूह का स्वरूप् विभिन्न शासन व्यवस्थाओं मेंबदल जाता है। विकसित शासन व्यवस्थाओं में इनका स्वरूप अलग एवं प्रगतिशील अथवा विकासशील शासन व्यवस्थाओं में इनका स्वरूप बदल जाता है। ये आज बेहद , प्रभावशाली, एवं शक्तिशाली हो गये है। ये दुनिया की सभी शासन व्यवस्थाओं में पाये जाते है। कतिपय यही कारण था कि फाइनर इन्हें ' अज्ञात साम्राज्य' कहता था।

12.17 शब्दावलीः-

समुदायात्मक दबाव समूह (**Associational Pressure Group**)- समुदाय के हितों के लिये सगंठित समूह इसमें आते है। जैसे व्यापारी संघ, किसान संघ, मजदूर संघ।

प्रदर्शनकारी दबाव समूह (**Anomic Pressure Group**)- ये वे दबाव समूह है जो माँगों को लेकर हिंसक, संविधान विरूद्ध कार्य करने से परहेज नहीं रखते। जैसे छात्र संगठन, नक्सल संगठन आदि।

संस्थागत दबाव समूहः- वे दबाव समूह जिनका संसगठित ढा़चा होता है तथा जो किसी संस्था से जुड़े होते है। जैसे - भारतीय पुलिस सेवा संघ, सैनिक कल्याण परिषद, भारतीय प्रशासनिक सेवा संघ।

जनहित याचिकाः- व्यापक जन कल्याण के निहितार्थ सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय मेंडाली गई याचिका को जनहित याचिका कहते है। यह किसी तीसरे पक्ष द्वारा प्रेषित होती है।

लॉबींगः- अपने हितों की पूर्ति के लिये कानून बनाने वालों से विधानमण्डल के सभाकक्ष मेंया अन्य स्थान पर मिलना हित साधना, कानून बनवाना लॉबींग कहलाता है।

12.20 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 स, 2. ब, 3. द, ,4. ब, 5. स

12.19 सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1.मल्ल वी0पी0, सिंह अजय, राजनीति विज्ञान

2.गेना आर0वी0, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें

3.जैन आर0वी0, तुलनात्मक राजनीति

4.राय गांधी जी, तुलनात्मक राजनीति

5.जौहरी जे0सी0, जौहरी सीमा, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

12.12 सहायक एवं उपयोगी पाठ्य सामग्री:-

1.सोडारो माइकल, कम्पेरटिव पालिटिक्स

2.गाबा, ओ0पी0, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा

3.संधू ज्ञान सिंह, राजनीति सिद्धान्त

4.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें

12.22 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1.दबाव समूह से क्या समझते है? इनकी प्रमुख विशेषतायें बताइये।

2.दबाव समूह को परिभाषा दीजिये तथा आधुनिक शासन व्यवस्था मेंमहत्व स्पष्ट कीजिये।

3.दबाव समूह के विभिन्न वर्गीकरणों स्पष्ट करते हुए वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में उनकी भूमिका स्पष्ट कीजिये।

4.दबाव समूह पर एक निबन्ध लिखिये।

इकाई 13: प्रतिनिधित्व- अर्थ, प्रकृति , प्रतिनिधित्व के प्रकार

इकाई संरचना

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 बहुल मतदान
13.4 निर्वाचन की विभिन्न प्रणालियाँ
13.5 प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
13.6 प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
13.7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
13.8 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
13.9 मतदान की प्रणालियाँ
13.9.1 बहुमत के आधार पर निर्वाचन
13.9.2 द्वितीय मतदान व्यवस्था
13.9.3 वैकल्पिक मतदान व्यवस्था
13.10 अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व
13.10.1 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली
13.10.1.1 एकल हस्तान्तरणीय व्यवस्था
13.10.1.2 सूची प्रणाली
13.11 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण
13.12 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दोष
13.13 संचित मतदान प्रणाली
13.14 सीमित मतदान प्रणाली
13.15 सांम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली
13.16 व्यवसायिक प्रतिनिधित्व
13.16.1 व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के दोष
13.17 आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक शर्तें
13.18 सारांश
13.19 शब्दावली
13.20 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.21 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.22 सहायक उपयोगी सामग्री
13.23 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

लोकतन्त्र के सफल होने के लिये आदर्श प्रतिनिधित्व बहुत आवश्यक है। यदि प्रतिनिधित्व सही, निष्पक्ष, न्यायपूर्ण नहीं है तो लोकतन्त्र ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता। प्राचीन समय में छोटे-छोटे नगर-राज्य थे जिसके कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव था। जिसमें प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं थी। आधुनिक समय में बड़े राष्ट्रों के कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अव्यावहारिक हो गया। कतिपय यही कारण है कि प्रतिनिधित्यात्मक लोकतन्त्र की आवश्यकता पड़ी।

प्रतिनिधित्यात्मक लोकतन्त्र में प्रतिनिधित्व की आवश्यकता होती है। सामान्य गुप्त मतदान से प्रतिनिधियों का निर्वाचन बहुमत के आधार पर होता है। ऐसे में कई बार अल्पंख्यक वर्ग बहुमत पाने में असफल हो उचित प्रतिधित्व पाने से वंचित हो जाता है। इसीलिये राजनीति विज्ञानियों ने प्रतिनिधित्व के अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व हो सके।

अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधित्व के लिये अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें से अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली, द्वितीय मतपत्र प्रणाली, संचित मत प्रणाली, सूची प्रणाली, वैकल्पिक मत प्रणाली आदि प्रमुख हैं। फ्रांस जैसे देश में राष्ट्रपति के चुनाव में द्वितीय मतपत्र प्रणाली चलन में है। भारत में राष्ट्रपति के चुनाव में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के एकल संक्रमणीय मत पद्धति प्रचलित है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली कुछ खामियों के बावजूद अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने वाली सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है।

आधुनिक युग लोकतंत्र का युग है। लोकतन्त्र के दो रूप हैं - प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तथा प्रतिनिधि लोकतन्त्र। कुछ प्राचीन यूनानी नगर राज्यों तथा भारत के कुछ गणतन्त्रों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के कुछ प्रमाण मिलते हैं। आधुनिक समय में बड़ें राज्यों के उदय के साथ प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र संभव नहीं है। आज स्विट्जरलैण्ड के पाँच कैंटनों को छोड़कर प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र कहीं दिखायी नहीं पड़ता। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र निर्वाचन पर आधारित है। जनता स्वयं शासन का संचालन नहीं करती वरन् अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से संचालन का कार्य करती है। प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये एक निश्चित अवधि के बाद आम निर्वाचन की आवश्यकता पड़ती है। निर्वाचन में भाग लेने तथा मतदान में भाग लेने के अधिकार को मताधिकार कहते हैं। आधुनिक समय में 'व्यस्क मताधिकार' के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तर्गत एक निश्चित उम्र के पुरूष एवं स्त्रियों को शिक्षा, संपत्ति, लिंग जाति के आधार पर बिना किसी भेदभाव के मताधिकार दिया जाता है। तब यह व्यस्क मताधिकार कहलाता है। वयस्क मताधिकार सभी स्त्री पुरूष को प्रदान किया जाता है इसलिये इसे सार्वजनिक मताधिकार भी कहा जाता है। ब्रिटेन, अमेरिका तथा भारत में यह आयु 18 वर्ष, स्विट्जरलैण्ड में 20 वर्ष तय की गई है। महिला मताधिकार को लेकर प्रारम्भ से भेद रहा है। अमेरिका में 1917 में, इंग्लैण्ड में 1928 तथा स्विट्जरलैण्ड में 1971 को स्त्री मताधिकार प्रदान किया गया। राज्य अनिवार्य

मतदान की भी व्यवस्था कर सकता है। वैध कारणों से मतदान न करने पर आस्ट्रेलिया सहित कुछ देशों में दंड का प्रावधान है।

13.2 उद्देश्यः-

- प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं प्रकार को समझना।
- प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धान्तों को समझना।
- अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के सिद्धान्तों को समझना।
- आधुनिक समय में दुनिया में प्रयोग में लाये जा रहे प्रतिनिधित्व के सिद्धांतोंको समझना।
- प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का उदय तथा आधुनिक समय में उसके चलन को समझना।

13.3 बहुल मतदान

बहुल मतदान अथवा भारपूर्ण मतदान को भेदपूर्ण मतदान कहते हैं। इसमें मतदान में भेदभाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसमें कुछ नागरिकों को अन्य की तुलना में विभिन्न आधारों पर अधिक मत दिये जाते हैं। जैसे बेल्जियम में 1893 के सविंधान ने 25 वर्ष की आयु से दिया जाता था, परन्तु उसके उपरांत उस व्यक्ति को एक और मत प्रदान किया गया जिसकी एक वैध संतान हो 35 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो तथा राज्य को 5 फ्रैंक कर देता हो। यही अतिरिक्त मत उस भू-स्वामी को दिया गया जो कम से कम 2000 फ्रैंक मूल्य की संपत्ति रखता हो तथा 25 वर्ष से अधिक आयु के ऊपर उस व्यक्ति को दो अतिरिक्त मत प्रदान किये जिसके पास उच्चतर माध्यमिक डिग्री अथवा किसी संस्था से डिप्लोमा हो। 1921 के संशोधन द्वारा इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। 1909 के अधिनियम के अन्तर्गत भारत के मुसलमानों को बहुल मत प्राप्त थे। इसमें सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से एक मत तथा अपने धार्मिक सम्प्रदाय के लिये सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्र में एक अन्य मत प्रदान किया गया। 1919 के अधिनियम में साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था ईसाइयों, एंग्लोइंडियन तथा सिक्खों को तथा 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय के द्वारा दलित जातियों को भी प्रदान की गई। जे0 एस0 मिल0 ने बहुल मतदान का समर्थन किया। उनका मानना था कि बुद्धिमान लोगों को अधिक मत प्राप्त होने चाहिए। उसका मानना था कि -''उस व्यक्ति को दो या अधिक मतों की उचित अनुमति दी जा सकती हे। जो उच्चतर कार्यों में से कोई कार्य करते हैं। यह न्यूनतम शिक्षित जनसंख्या के भार के प्रतिकारक के रूप में कार्य करता है।

13.4 निर्वाचन की विभिन्न प्रणलियाँ

निर्वाचन का सामान्य अर्थ होता है अपनी पसन्द की प्रतिनिधि का चुनाव। निर्वाचन की दो प्रणलियाँ प्रचलित हैं- 1 प्रत्यक्ष निर्वाचन 2 अप्रत्यक्ष निर्वाचन

1.प्रत्यक्ष निर्वाचन:- प्रत्यक्ष निर्वाचन वह है जिसमें मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करे तो उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। यह आज के समय में लोकप्रिय निर्वाचन व्यवस्था है। इसमें प्रत्येक मतदाता निर्वाचन स्थान पर विभिन्न उम्मीदवारों में से किसी एक के पक्ष में मतदान करता है। सर्वाधिक मत पाने वाला व्यक्ति विजेता घोषित कर दिया जाता है। आधुनिक समय में दुनिया के अधिकांश देशों जैसे ब्रिटेन, अमेरिका, भारत, कनाडा तथा स्विट्जरलैण्ड के प्रथम सदन के निर्वाचन में इसी पद्धति को स्वीकार किया जाता है।

2.अप्रत्यक्ष निर्वाचनः- प्रत्यक्ष निर्वाचन के विपरीत जब मतदाता कुछ प्रतिनिधियों का चुनाव करे तथा वे किसी अन्य व्यक्ति का चुनाव करें तो यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि 'निर्वाचक मण्डल' कहे जाते हैं। उदाहरण के लिये अमेरिका के मतदाता उन निर्वाचकों को चुनते हैं जो राष्ट्रपति का चुनाव करते है।

13.5 प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुणः- विद्वानों ने प्रत्यक्ष निर्वाचन के कुछ गुण बताये हैं। इनमें से प्रमुख गुण निम्न हैं-

1.राजनीतिक जागृति:- प्रत्यक्ष निर्वाचन मतदाताओं में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करता है। इसमें मतदाता चुनाव प्रक्रिया के दौरान अनेक रैलियों, सभाओं में भाग लेता है। जिसके द्वारा उसको सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों के विषय में जानकारी होती है। इसके साथ मतदान के तरीके के विषय में भी वह अवगत होता है।

2.मतदाता एवं प्रतिनिधियों के मध्य संबंधः- प्रत्यक्ष निर्वाचन में मतदाता तथा प्रतिनिधियों के बीच घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। इसमें चुनाव लड़ रहे लोगों का भविष्य मतदाता तय करते हैं। अतः प्रत्येक चुनाव लड़ने वाला व्यक्ति अधिकाधिक व्यक्तियों से मिलता है। वह जनसंपर्क अभियान चलाता है। यह चुनाव दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध विकसित करने में सहायक होता है।

3.उत्तरदायित्व की भावनाः- प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था में जनता स्वयं निर्वाचन प्रक्रिया में भाग लेती है। वह दल विशेष, प्रत्याशी विशेष के लिये सक्रिय होती है। अतः प्रतिनिधि चुनाव के बाद अपने मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। उन्हें पता होता है कि मतदाता ने ही उन्हें 'फर्श से अर्श' तक का सफर कराया है। अतः वे मतदाताओं अथवा जनमत को सदैव अपने पक्ष में रखने का प्रयास करते हैं।

4.प्रजातान्त्रिक भावना के अनुकूलः- प्रत्यक्ष निर्वाचन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है। यह प्रजातन्त्र की भावना के पूर्णतः अनुकूल है। जनता सीधे तौर पर निर्वाचन में भाग लेती है। जिससे उसकी भावना तुष्ट होती है।

13.6 प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोषः-

प्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख दोष इस प्रकार हैः-

1.खर्चीला शासनः- प्रत्यक्ष निर्वाचन का यह प्रमुख दोष है। इसमें निर्वाचन प्रक्रिया के दौरान चुनाव लड़ रहे लोग चुनाव जीतने के लिये अधिकाधिक धन व्यय करते हैं। यह प्रक्रिया चुनाव को अधिक खर्चीला बना देती है। इसका परिणाम यह होता है कि योग्य परन्तु धन-बल में कमजोर व्यक्ति चुनाव नहीं लड़ पाता है। आज के भारत, अमेरिका जैसे देशों में यह दोष प्रमुखता से देखा जा रहा है।

2.अयोग्या व्यक्तियों की भूमिकाः- प्रत्यक्ष निर्वाचन का यह महत्वपूर्ण दोष है। इसमें चुनाव बहुमत से होता है और सार्वभौम वयस्क मताधिकार के दौर में सभी अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। ऐसे में अशिक्षित, अक्षम लोग भी भावनाओं में बहकर जाति, धर्म, भाषा तथा संकीर्ण स्वार्थों के लिये मतदान करते हैं। कई बार इसके परिणामस्वरूप अयोग्य व्यक्ति चुनाव जीतने में सफल हो जाते हैं। जोकि लोकतन्त्र के लिये बड़ा खतरा है।

3.कुशल एवं योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन नहीं- प्रत्यक्ष निर्वाचन में धनबल एवं बाहुबल का प्रभाव इतना बढ़ जाता है कि सामान्य व्यक्ति चुनाव में भाग लेने, जनप्रतिनिधि बनने से दूर भागता है। यदि कोई प्रयास करता है तो धनबल एवं बाहुबल के सामने ठहर नहीं पाता है। यही कारण है कि इसमें योग्य एवं कुशल व्यक्तियों का निर्वाचन नहीं हो पाता है।

4.सार्वजनिक शिक्षा नहीं- चुनाव प्रक्रिया का विश्लेषण करने का यह तथ्य भी सामने आता है कि व्यक्ति को भ्रामक प्रचार से भ्रमित कर दिया जाता है। सामान्यजनों के सामने गलत तथ्य एंव भ्रामक विश्लेषण प्रस्तुत किये जाते हैं। जिससे जनमत ही गलत बन जाता है।

13.7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख गुण इस प्रकार है-

1.योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन:- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता प्रतिनिधियों का निर्वाचन नहीं करती बल्कि एक निर्वाचक मण्डल चुनाव करता है। यह ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो तर्कपूर्ण, विवेकपूर्ण निर्णय करते हैं। उनके निर्णय के परिणामस्वरूप सही एवं योग्य व्यक्तियों का चुनाव होता है। यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक प्रमुख गुण है।

2.कम खर्चीला निर्वाचनः- कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें मतदान का अधिकार सभी के पास नहीं होता जिसके कारण चुनाव का क्षेत्र व्यापक नहीं हो पाता। कतिपय यही कारण है कि चुनाव में खर्च भी कम होता है। कम खर्चीला होना इसका प्रमुख गुण है। इसके कारण सामान्य व्यक्ति भी चुनाव में सहभागिता कर सकता है।

3.अशिक्षित जनता वाले निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयोगीः- विद्वानों का यह मत है कि उन लोकतन्त्रों में जहाँ शिक्षा का स्तर नीचे है, जनता को स्वशासन का अनुभव नहीं है। वहाँ जनता गलत चुनाव भी कर सकती है अतः यह अशिक्षित निर्वाचन क्षेत्रों वाले राज्यों के लिये उपयुक्त है।

4.बड़े निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयोगीः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को बड़े राज्यों के लिये बहुत अनुकूल माना जाता है। इसमें आम निर्वाचन में होने वाली समय एवं धन के व्यय से मुक्ति मिलती है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन से बड़े से बड़ा निर्वाचन सहजता से सम्पन्न हो जाता है।

5.दलगत बुराइयों से दूरः- इस चुनाव में जनता एक बार निर्वाचक मंडल का चुनाव कर लेते है और बाद में निर्वाचक मंडल अपने प्रतिनिधियों का । इस पूरी प्रक्रिया में प्रत्यक्ष निर्वाचन की तरह दलगत स्वार्थ नहीं दिखायी पड़ता है।

6.नवजात लोकतन्त्र के लिये अनुकूलः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन को नवोदित लोकतन्त्र के लिये उपयुक्त माना जाता है। इनकी मान्यता है कि जिन समाजों में राजनीतिक शिक्षा, चेतना, स्वशासन का अभाव एवं आर्थिक विषमता है वहाँ के लिये यह उपयुक्त है इससे वहाँ पर भावना प्रधान निर्णय नहीं होते।

13.8 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोषः-

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख दोष निम्न हैः-

1.यह व्यवस्था अप्रजातान्त्रिक हैः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आलोचक इस पर प्रहार करते हुए कहते है कि यह प्रजातान्त्रिक भावना के अनुकूल नहीं है, जनता सीधे अपने प्रतिनिधियों से नहीं जुड़ती है। वह उनको चुनने के लिये राजनीतिक अधिकार से वंचित रहती है। यह इसका प्रमुख दोष है।

2.सामान्य जन की उदासीनताः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में सामान्य नागरिक सीधे निर्वाचन से नहीं जुड़ा रहता है। यही कारण है कि वह पूरी राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति उदासीन रहता है। यह उदासीनता लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के लिये शुभ संकेत नहीं है। लोकतन्त्र जन सक्रियता से चलता है। यदि जनता उदासीन हो गई तो लोकतन्त्र ही मर जायेगा।

3.भ्रष्ट एवं अनैतिक माध्यमों का उपयोगः- प्रारम्भ में यह माना गया कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन में धन-बल का प्रयोग कम होगा। बाद के वर्षो में पाया गया कि वास्तव में इस व्यवस्था में निर्वाचक मंडल

को प्रभावित करने के लिये धन-बल का सर्वाधिक प्रयोग हुआ। अमेरिका में राष्ट्रपति के चुनाव में ऐसा देखा गया। अरस्तू के शब्दों में -''थोड़े से व्यक्ति को भ्रष्ट करना अधिक लोगों के भ्रष्ट करने की तुलना में सरल है।''

4.राजनैतिक शिक्षा का अभावः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता न तो सीधे सम्पर्क में आती है और न ही मुख्य निर्वाचन में भाग लेती है। जिसके कारण वह राजनीतिक शिक्षा को प्राप्त नहीं कर पाती है। यह इसका प्रमुख दोष है।

5.जनता एवं प्रतिनिधियों के बीच संपर्क का अभावः- यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रमुख दोष है। इस व्यवस्था में जनता तथा उनके प्रतिनिधियों के बीच सीधा संवाद नहीं होता। प्रतिनिधि जनता की समस्या, जरूरत से अवगत नहीं होते। जिसके कारण वे अपने कर्तव्यों का निर्वहन ठीक प्रकार से नहीं कर पाते हैं। यह लोकतन्त्र के लिये शुभ संकेत नहीं है।

6.उत्तरदायित्व का अभावः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में प्रतिनिधि सीधे जनता से जुड़े नहीं होते जिसके कारण वे जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। यह लोकतन्त्र की बड़ी कमजोरी सिद्ध होगी।

7.व्यवहार में यह प्रत्यक्ष निर्वाचनः- अमेरिका के राष्ट्रपति पद के निर्वाचन का अनुभव यह बताता है कि व्यवहार में अप्रत्यक्ष निर्वाचन भी प्रत्यक्ष बन जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की बुराइयों को समेट लेता है।

13.9 मतदान की प्रणालियाँ

व्यवहार में लोकतन्त्र की दो प्रणालियाँ दिखायी पड़ती है-(1) प्रकट मतदान (2) गुप्त मतदान

1.प्रकट मतदानः- जब मतदान खुले में सबके सामने हाथ उठाकर या खुले संकेत से किया जाता है तो वह खुला मतदान कहलाता है। यह मतदान का अत्यन्त प्राचीन तरीका है। प्राचीन काल में यूनान एवं कुछ अन्य स्थानों पर खुला मतदान की व्यवस्था थी। आज भी स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैंटनों में यह परंपरा चल रहीं हैं।

जे0 एक0 मिल, ट्राटस्की, मांटेस्क्यू ने खुले मतदान का समर्थन किया। मांटेस्क्यू के शब्दों में -''यह ऐसा माध्यम है जिसमें अधिक प्रबुद्ध लोग साधारण लोगों की सहायता करते हैं और उन्हें शिक्षित कर सकते हैं।'' मिल के शब्दों में- ''किसी अन्य सर्वाजनिक कर्त्तव्य की भाँति मतदान के कर्त्तव्य का निष्पादन भी लोगों की आँखों तथा आलोचना के सामने होना चाहिए।'' यह प्रणाली 1901 तक डेनमार्क में, 1920 तक जर्मनी में प्रचलित थी।

2.गुप्त मतदानः- गुप्त मतदान की व्यवस्था खुले मतदान की एकदम उलट है। इसमें मतदान गुप्त रूप से किया जाता है। उसका मतदान कोई अन्य व्यक्ति नहीं समझ पाता है। आज विश्व में गुप्त मतदान तेजी से बढ़ रहा है। खुले में लोगों की घटती संख्या ने भी गुप्त मतदान को लोकप्रिय बनाया। गुप्त मतदान में हिंसा या भय का वातावरण नहीं रहता। कमजोर व्यक्ति भी बिना भय के मताधिकार का प्रयोग कर पाता है। हैरिगंटन ने गुप्त मतदान व्यवस्था को मुक्त एवं स्वतन्त्र मतदान की अनिवार्य शर्त माना। ट्राटस्की ने गुप्त मतदान की आलोचना करते हुए कहा था - ''गुप्त मतदान व्यवस्था ऐसी सबसे गंदी चालबाजी है जिसे सदैव उदारवाद के नाम पर प्रस्वावित किया गया है।''

मतदान की कुछ अन्य विधियाँ इस प्रकार हैः-

13.9.1 बहुमत के आधार पर निर्वाचनः-

इसका अर्थ है कि चुनाव में अधिकतम मत पाने वाले व्यक्ति को विजयी घोषित कर दिया जाता है। इसके अन्तर्गत विजयी होने के लिये स्पष्ट बहुमत या मतों का कोई कोटा प्राप्त करना आवश्यक नहीं होता है। आधुनिक समय में अधिकांश देशों में यह तरीका ही प्रचलित है। भारत में भी यही विधि प्रचलित है। इस निर्वाचन व्यवस्था में गंभीर दोष है कि कई बार बहुत कम मतों को प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी विजेता हो जाता है। आलोचक इसे अल्पमत का बहुमत का शासन कहते है। उदाहरण के लिये किसी चुनाव में तीन प्रत्याशियों ने क्रमशः 2000, 1800,1500 मत प्राप्त किये तो इसमें सर्वाधिक मत 2000 मत पाने वाला प्रत्याशी विजयी घोषित कर दिया जायेगा। इसमें यह देखा गया है कि मतों में बहुत मत प्रतिशत पाने वाला व्यक्ति भी विजयी हो जाता है।

13.9.2 द्वितीय मतदान व्यवस्थाः-

इसमें यह व्यवस्था की गई कि विजेता को डाले गये मतों का 50 प्रतिशत से अधिक पाना आवश्यक है। यदि कोई प्रत्याशी डाले गये मतों का 50 प्रतिशत से कम (स्पष्ट बहुमत) प्राप्त करता है तो चुनाव रद्द कर दिया जाता है। पुनः चुनाव में सर्वाधिक मत पाने वाले प्रथम दो प्रत्याशियों में चुनाव होता है। यदि प्रथम दो में से कोई चुनाव नहीं लड़ना चाहता तो अगला व्यक्ति यह अवसर पाता है। द्वितीय मतदान व्यवस्था में बहुमत के अभाव में द्वितीय मतदान से विजेता का फैसला होता है। फ्रांस में राष्ट्रपति का चुनाव इसी विधि से होता है। इसमें स्पष्ट बहुमत से निर्वाचन होता है। इस विधि की आलोचना का प्रमुख आधार इसमेदोबारा निर्वाचन कराना पड़ता है। इससे समय एवं धन का अपव्यय होता है। कतिपय इसी दोष को दूर करने के लिये वैकल्पिक मतदान व्यवस्था का निर्माण हुआ।

13.9.3 वैकल्पिक मतदान व्यवस्थाः-

इसे वरीयता या सापेक्षतापूर्ण मतदान की व्यवस्था के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें विजयी होने के लिये प्रत्याशी को कुल डाले गये मतों का स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके लिये दोबारा चुनाव नहीं होता है।

वैकल्पिक मतदान व्यवस्था में मतदाता को ऐसा मतपत्र दिया जाता है जिसमें प्रत्याशियों का नाम तथा चुनाव चिन्ह बायें और दिये जाते हैं। और दाहिने तरफ खाली खाने होते हैं। जिसमे मतदाता को 1,2,3,4 आदि लिखकर अपनी पंसद का क्रम दिखाना होता है। मतदान के बाद वैध मतों संख्या में 1+1 = 2 से भाग देकर भागफल में 2 जोड़कर चुनाव ''कोटा'' निकाल लिया जाता है। उदाहरण के लिये किसी मतदान में वैध मत 200 हैं तो कोटा 200/1+1 = 2 =100, 100+ 1=101 होगा।

इस व्यवस्था में गिनती की विशेष प्रक्रिया अपनायी जाती है। सबसे पहले प्रथम वरीयता के मतों की गिनती होती है। यदि प्रथम वरीयता के मतों से कोई प्रत्याशी ''कोटा'' प्राप्त कर लेता है तो उसे विजेता घोषित कर दिया जाता है। यदि कोई भी प्रत्याशी निर्धारित ''कोटा'' नहीं प्राप्त कर पाता है तो सबसे कम मत पाने वाले प्रत्याशी को हटा दिया जाता है और उसके मतपत्रों में अंकित द्वितीय पसंद के मतों को अन्य प्रत्याशियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। द्वितीय वरीयता के मतों को जोड़ने से यदि किसी प्रत्याशी को ''कोटा'' प्राप्त हो जाता है तो उसे विजेता घोषित कर दिया जाता है। यदि द्वितीय मत से भी ''कोटा'' प्राप्त नहीं होता तो तृतीय वरीयता के मतों को हस्तान्तरित किया जाता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक ''कोटा'' प्राप्त न हो जाये। भारत में राष्ट्रपति के चुनाव में यही प्रक्रिया अपनायी जाती है।

13.10 अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

सामान्यतः प्रतिनिधित्व से बहुमत के प्रतिनिधित्व का बोध होता है क्योंकि निर्वाचन में उम्मीदवारों का चुनाव बहुमत के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक समाज में अल्पसंख्य समुदाय भी होता है। सामान्य निर्वाचन प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकता। कतिपय यह कारण है कि सभी देशों में अल्पसंख्यकां को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गई है। जे0एस0मिल एवं लेवी ने अल्पसंख्यकां के प्रतिनिधित्व को मजबूती से उठाया। मिल ने अपने पुस्तक ''रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट'' में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विस्तार से चर्चा की। मिल के शब्दों में -'' सच्चे प्रजातंत्र के अन्तर्गत प्रत्येक समुदाय को आनुपातिक ढंग से प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये।''

आधुनिक समय में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न एक गंभीर प्रश्न है। इसकी किसी भी स्थिति में अवहेलना करना अन्यायपूर्ण होगा। अल्पसंख्यकों को साथ में जोड़े बिना वास्तविक लोकतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

मिल के शब्दों में -'' प्रजातंत्र का विशुद्ध अर्थ उस शासन से है, जो सारी जनता का शासन हो, एक समान प्रतिनिधित्व के आधार पर सारी जनता द्वारा हो।''

विभिन्न विद्वानों और विचारकों ने भी अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विचार किया है। इस संबंध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये है। इसमें से प्रमुख सिद्धान्त निम्न है-

1.आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

2.सूची प्रणाली

3.सीमित मतदान प्रणाली

4.संचित मतदान प्रणाली

5.वैकल्पिक मत प्रणाली

6.सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली

7.द्वितीय मतदान प्रणाली

13.10.1 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणालीः-

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इंग्लैण्ड के विद्वान थामस हेयर ने अठारहवीं शताब्दी में किया। यही कारण है कि कुछ विद्वान इसे हेयर प्रणाली भी कहते है। इस पद्धति को अपनाने के लिये आवश्यक है कि बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होना चाहिये। ऐसे निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक मतदाता को उतने संख्या में मत देने का अधिकर होता है। जितने उम्मीदवार चुने जाते है। इस व्यवस्था में विजय का आधार बहुमत नहीं वरन् निश्चित कोटा होता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को व्यवहारिक बनाने के लिये दो विधियाँ विकसित की गई। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तीन तत्व है-

i.बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होना चाहिए।

ii.प्रत्याशी का निर्वाचन बहुमत से नहीं वरन् मतों का निश्चित कोटा के आधार पर होना चाहिए। यह कोटा कुल वैध मतों को भरे जाने वाले स्थान से भाग देने पर भागफल में एक जोड़कर प्राप्त किया जा सकता है।

iii.जहाँ तक संभव हो विधायिका में निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व गणितीय दृष्टि से ठीक हो।

डायसी के शब्दों में - ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली वह है जिसमें बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र हो, प्रत्याशी का निर्वाचन बहुमत से नहीं वरन् कोटा प्राप्त करने से होना चाहिये। साथ ही विधायिका में ऐसा प्रतिनिधित्व हो जो गणितीय दृष्टि से सटीक हो।''

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि निर्वाचकों के विचारों को विधायिका में यथासंभव उसी अनुपात में प्रतिनिधित्व दिलाने के लिये जितने निर्वाचक है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को व्यवहारिक बनाने के लिये दो विधियाँ विकसित की गई-

- एकल हस्तान्तरणीय मत व्यवस्था ; (Single transferable vote system)
- सूची व्यवस्था (List system)

13.10.1.1 एकल हस्तान्तरणीय मत व्यवस्थाः-

एकल हस्तान्तरणीय मत व्यवस्था को सबसे पहले डेन्मार्क के एक मन्त्री कार्ल एंडरे ने प्रस्तुत किया। परन्तु इसे हेयर ने और व्यावहारिक बनाया अतः इसे ''हेयर प्रणाली'' भी कहा जाता है। इस व्यवस्था में मतदाता को ऐसा मत पत्र दिया जाता है जिसमें बायें ओर सभी प्रत्याशियों के नाम एवं चिन्ह अंकित होते हैं तथा दाहिने छोर पर खाली खाने होते हैं। उसे इन खाली में अपने पसन्द के क्रम 'वरीयता' अंकित करने होते है। वह सभी अथवा कुछ को भर सकता है। मतगणना के समय अवैध मतपत्रों को अलग कर दिया जाता है। वैध मतों में चुने जाने वाले सीटों की संख्या में एक जोड़कर भाग दे दिया जाता है यही भागफल एक जोड़कर 'कोटा' प्राप्त किया जाता है। इस सूत्र को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

निर्वाचन के लिये कोटा से अधिक या बराबर मत प्राप्त करना आवश्यक होता है। यदि मतगणना में किसी को कोटा प्राप्त नहीं हो पाता है तो सबसे कम मत प्राप्त होने वाले व्यक्ति को बाहर कर दिया जाता है और उसके द्वितीय वरीयता के मत दूसरे प्रत्याशियों को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। यदि फिर भी 'कोटा' प्राप्त नहीं होता है तब सबसे कम मत पाने वाले प्रत्याशी को बाहर कर उसके मतों को अन्य प्रत्याशियों में हस्तान्तरित कर दिया जाता है। निर्वाचन कोटा प्राप्त करने वाले व्यक्ति विजयी होते है। प्रथम मतगणना में कोटा प्राप्त होने के बाद उसके कोटा से अधिक द्वितीय वरीयता के मत शेष प्रत्याशियों को हस्तांतरित कर दिये जाते है। इस प्रकार मतों का हस्तान्तरण तब तक चलता रहता है। जब तक आवश्यक संख्या में सदस्य निश्चित मत संख्या प्राप्त नहीं कर लेते।

यह प्रणाली थोड़ी जटिल है फिर भी नार्वे, डेनमार्क, स्वीडन, फिनलैण्ड में प्रचलित है। भारत में राज्य सभा, विधान परिषद के चुनाव में इसका प्रयोग होता है।

13.10.1.2 सूची प्रणालीः-

आनुपातिक मत पद्धति का दूसरा रूप सूची प्रणाली है। इस प्रणाली में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र में 15 से 20 सदस्य होते हैं। इस प्रणाली में जो प्रत्याशी खड़े होते हैं, उनके दल द्वारा अपने-अपने प्रत्याशियों की सूची बना ली जाती है। प्रत्येक मतदाता कुल चुने जाने वाले लोगों के बराबर मत देता है। एक उम्मीदवार को एक मत ही प्राप्त होता है। गणना से पूर्व कोटा पहले से तय कर लिया जाता है। इस प्रणाली में उम्मीदवारों द्वारा पृथक-पृथक प्राप्त मतों की संख्या की गणना नहीं की जाती है वरन् विभिन्न सूचियों में प्राप्त मतों की गणना की जाती है। यह देखा जाता है कि किस दल ने कितने प्रतिशत मत प्राप्त किये हैं। स्थानों का विभाजन उसी प्रतिशत के अनुसार दलों के पक्ष में किया जाता है।

यह भी हो सकता है कि कोई दल विजयी होने के लिये आवश्यक प्रतिशत न पा सका हो। यह भी हो सकता है कि अपने मतों का प्रतिशत किसी पड़ोसी अथवा अन्य बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में ले जाकर वहाँ इस शेषांश के संचय के माध्यम से एक या अधिक स्थान पाने का प्रयास करता है। वह किसी अन्य दल को बचे मत दे सकता है जिससे ''साझे प्रत्याशी'' के लिये स्थान प्राप्त किया जा सके।

सूची प्रणाली में मतदान व्यक्ति के आधार पर नहीं वरन् पार्टी के आधार पर किया जाता है। यह सरल प्रणाली है। इसमें सभी दलों, समूहों को स्थान दिया जाता है। विजयी उम्मीदवारों की संख्या उनके द्वारा प्राप्त मत संख्या के अनुपात में तय की जाती है। यह प्रणाली कम खर्चीली भी है।

13.11 आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुणः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के प्रमुख गुण इस प्रकार है-

1.अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्वः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख गुण है। यह प्रणाली अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करती है। इसके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। जिससे इनके अन्दर सुरक्षा की भावना का विकास एवं सन्तोष की प्राप्ति होती है।

2.सभी वर्गो का हित साधनः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रणाली में संख्या बल में कमजोर अल्पसंख्यकों का भी प्रतिनिधित्व होता है। इसमें प्रत्येक मत का इस्तेमाल होता है। कुल मिलाकर यह प्रणाली सम्पूर्ण समाज के हित में है।

3.नागरिक चेतना का विकासः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में प्रत्येक मत का अपना महत्व होता है। सभी वर्ग के लोग मतदान प्रक्रिया में उत्साह के साथ भाग लेते है। यह प्रक्रिया लोगों में उत्साह का संचार करती है। यह उत्साह उन्हे राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय करता है। जिससे राजनीतिक चेतना का विकास होता है।

4.भ्रष्टाचार का अन्तः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख गुण है। इसमें भ्रष्टाचार का अन्त हो जाता है। यह ऐसी प्रणाली है जिसमें सभी दलों का प्रतिनिधित्व होता है। इसमें किसी एक दल का प्रचण्ड बहुमत नहीं होता। अधिकाशतः मिश्रित सरकार बनती है जो संतुलित रहती है। इसमें सरकारों की मनमानी एवं भ्रष्टाचार की संभावना कम रहती है।

5.राजनीतिक शिक्षा का प्रसारः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में मतदाताओं को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। इसमें सभी मतदाताओं को अपनी पसन्द जारी करने का अवसर प्राप्त होता है। यह उन्हें राजनीतिक व्यवस्था में सक्रिय बनाती है तथा राजनीतिक शिक्षा भी प्रदान करती है।

6.राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धनः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख गुण है कि इसमें राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है। कोई भी दल स्वार्थों से प्रेरित होकर राष्ट्रीय हितों की अनदेखी नहीं कर पाता। प्रत्येक वर्ग, दल के प्रतिनिधित्व से संसद अथवा विधायिका में सत्तारूढ़ दल की पर्याप्त प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। अतः वे राष्ट्रीय हितों की अनदेखी नहीं कर पाते हैं।

7.श्रेष्ठ व्यक्तियों का शासनः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में श्रेष्ठ व्यक्ति शासन के कार्य को करते हैं। वे विधायिका में अपनी योग्यता, प्रतिभा का परिचय देते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में चुनाव की पद्धति योग्य व्यक्तियों को चुनाव में सफल करती है। मिल के शब्दों में- ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की तुलना में कोई अन्य निर्वाचन प्रणाली नहीं है जिसके द्वारा श्रेष्ठ व्यक्तियों को विधायिका में लाया जा सके।''

8.उम्मीदवार एवं मतदाताओं में घनिष्ठ सम्बन्धः- इस प्रणाली में मतदाताओं एवं उम्मीदवारों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। मिल के शब्दों में - ''इन परिस्थितियों में निर्वाचक और प्रतिनिधि के बीच सशक्त ओर महत्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होता है क्योंकि प्रत्येक मतदाता उम्मीदवारों से अपनापन का अनुभव करता है और प्रत्येक प्रतिनिधि मतदाता से घनिष्ठता महसूस करता है।

9.गैरीमेण्डरिंग जैसी बुराइयों का अन्तः- गैरीमेण्डरिंग आधुनिक समय में दिखायी पड़ रही एक बुराई है। इसमें निर्वाचन क्षेत्रों में सत्तारूढ़ दल अपने हितों के अनुरूप निर्वाचन क्षेत्रों में बदलाव करता है। यह एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में हो पाता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में होती है अतः वहाँ पर गैरीमेण्डरिंग का भय नहीं रहता है।

10ण् प्रजातन्त्रवादीः- प्रजातन्त्र जनता का शासन है। अतः जनता का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व (सभी वर्गों , पंथों) करने के लिये आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली ही कारगर है। लार्ड एक्टन के शब्दों में- ''यह अति प्रजातन्त्रवादी है क्योंकि इससे उन सहस्त्रों व्यक्तियों का शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है जिनकी वैसे कोई सुनवाई नहीं होगी। यह समानता के सिद्धान्त के निकट है क्योंकि किसी मत का अपव्यय नहीं किया जाता। प्रत्येक मतदाता का व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व होता है।

13.12 आनुपातिक प्रतिनिधित्व के दोषः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में अनेक गुण हैं परन्तु इसके साथ इसमें कुछ दोष भी दिखायी पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में स्ट्रांग का कथन प्रासंगिक हो जाता है- ''सैद्धान्तिक दृष्टि से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली सभी प्रकार से श्रेष्ठ प्रतीत होती है, किन्तु व्यवहार में स्थिति ऐसी नहीं है।'' इसके प्रमुख दोष निम्न है-

1.जटिल शासन प्रणालीः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह एक प्रमुख दोष है। यह निर्वाचन प्रणाली जटिल है। सामान्य मतदाता के समझ से परे है। विशेष रूप से मतगणना की प्रक्रिया भी जटिल है। प्रो0 जे0पी0 सूद के शब्दों में - ''यह पद्धति इतनी जटिल है कि इसके अन्तर्गत मतदाता और उम्मीदवार दोनों गणना पदाधिकारियों की दया पर निर्भर करते है।''

2.मजबूत सरकारों का अभावः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख दोष है। इसमें स्थायी सरकार का निर्माण नहीं हो पाता है। इस पद्धति में किसी दल विशेष को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता है। इतिहास में ऐसे कई अवसर आये हैं जब मिश्रित सरकारें बनी हैं और अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पायी हैं। फाइनर के शब्दों में - ''विभाजन तथा पृथक्करण को प्रोत्साहित करके यह कार्यकारिणी के स्थायित्व को धक्का पहुँचाती है।''

3.एक सदस्यीय एवं छोटे क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्तः- यह निर्वाचन पद्धति बड़े तथा बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयुक्त है परन्तु एक सदस्यीय एवं छोटे निर्वाचन क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्त होती है।

4.चुनाव का आधार योग्यता न होकर दलीय गुटबन्दीः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में चुनाव का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। मतदाता एवं प्रतिनिधियों के बीच सम्पर्क नही हो पाता है। मतदाता, चुनाव योग्यता के आधार पर न कर दलीय आधार पर करते हैं।

5.स्वतन्त्र एवं निर्दल उम्मीदवारों के विरूद्धः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह दोष है कि इसमें स्वतन्त्र एवं निर्दल उम्मीदवारों के लिये कोई स्थान नहीं होता है। इसमें केवल पार्टी टिकट पर खड़े उम्मीदवार ही चुनाव लड़ पाते हैं।

6.मतदाता एवं निर्वाचकों के मध्य मजबूत सम्बन्ध का अभावः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक होते हैं। इसके परिणामस्वरूप निर्वाचकों एवं उम्मीदवारें के बीच सम्पर्क एवं सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। प्रतिनिधि दल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। फाइनर के शब्दों में - ''इसे अपनाने पर प्रतिनिधि द्वारा अपने क्षेत्र की देखभाल समाप्त हो जाती है।''

7.अनेक दलों एवं गुटों का जन्मः- इस निर्वाचन प्रणाली को अपनाने से पृथक वर्ग एवं हित समूह की आशा जगती है। इसके परिणामस्वरूप अनेक दलों एवं गुटों की संख्या बढ़ जाती है। जर्मनी के वीमर

संविधान में इसे अपनाये जाने से वहाँ दलों की संख्या 30 से अधिक होती है। लास्की के शब्दों में - ''इसके अन्तर्गत अनेक दल एवं गुटों का जन्म होता है।''

8.वर्गीय हितों की पूर्तिः- इस पद्धति में विधायिका राष्ट्रीय हितों का संवर्धन नहीं करती वरन् क्षेत्रीय एवं वर्गीय हितों की पूर्ति करती है। विकास एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान वर्गीय हितों के आधार पर किया जाता है। सिजयिक के शब्दों में - ''वर्गीय प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप से दूषित वर्गीय व्यवस्थापन को प्रोत्साहित करता है।''

9.राष्ट्रीय एकता के लिये घातकः- इस प्रणाली में संकीर्ण हितों की पूर्ति के लिये प्रयास किये जाते हैं। राष्ट्रीय हितों की अनदेखी की जाती है। इसमें राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रम नहीं होते हैं। प्रो0 स्ट्रांग के शब्दों में- ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली संकीर्ण विचारधारा को जन्म देती है जो सामाजिक स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।''

10.उपचुनाव की व्यवस्था नहीं- कुछ आलोचकों का मानना है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में उपचुनाव की व्यवस्था नहीं है जिसके कारण जनता का मिजाज सरकार की लोकप्रियता की परख नहीं हो पाती है। फाइनर के शब्दों में - ''उपचुनाव से यह ज्ञात होता है कि हवा किस ओर बह रही है, परन्तु ऐसा उपचुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में सम्भव नहीं है।''

विभिन्न विद्वानों ने इस प्रणाली की व्यापक आलेचना की है। लास्की के शब्दों में - ''यह योजना जनजीवन के स्तर को उन्नत बनाने में असफल रही है।'' फ्रांसीसी विद्वान एसमिन के शब्दों में - ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की स्थापना करना द्विसदनीय व्यवस्था द्वारा प्रदत्त अमृत को विष में परिवर्तित करना है।

यह सत्य है कि यह प्रणाली सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्त है। यह विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयोगी सिद्ध हुई है।

13.13 संचित मतदान प्रणाली:-

इस मतदान प्रणाली के लिय बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता को उतने मत दिये जाते हैं जितने सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाने वाले हैं। प्रत्येक मतदाता को यह विशेष अधिकार होता है कि वह अपने समस्त मत चाहे तो एक प्रत्याशी को दे दे या अलग-अलग प्रत्याशियों को दे। यह व्यवस्था अल्पसंख्यकों को एक साथ संगठित हो अपने पूरे मत किसी विशेष प्रत्याशी को देने से, चुने जाने का अवसर प्रदान कर देती है।

इस मत प्रणाली में अनेक दोष दिखायी पड़ते है। इसमें अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। इस प्रणाली का दूसरा महत्वपूर्ण दोष है कि मतदाताओं के अनेक मत व्यर्थ हो जाते

है। कई बार परिस्थितिवश अल्पसंख्यकों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। मतगणना मे भी यह मतदान प्रणाली जटिल है।

13.14 सीमित मतदान प्रणालीः-

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिये सीमित मतदान प्रणाली की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। इसका प्रयोग बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में किया जाता है जिसमें कम से कम तीन सदस्य निर्वाचित होने की व्यवस्था हो। इस प्रणाली में प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक मत तथा कुल निर्वाचित होने वाले लोगों से कम प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये किसी क्षेत्र विशेष से 4 सदस्यों का निर्वाचन होना है तो वहाँ मतदाताओं को अधिकतम 3 मत प्राप्त हो सकते है। इसमें मतदाता किसी प्रत्याशी को एक से अधिक मत नहीं दे सकता।

इस मतदान प्रणाली में अल्पसंख्यकों को कुछ प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त हो जाता है किन्तु जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व की संभावना नहीं रहती। केवल बड़े अल्पमत वर्गों को प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त होता है।

13.15 सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणालीः-

सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को पृथक निर्वाचन प्रणाली भी कहा जाता है। भारत में यह उपनिवेशवाद के दौरान अंग्रेजों की देन है। इस प्रणाली में धर्म अथवा सम्प्रदाय के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते है। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान में मुसलमानों के लिये यह सिद्धान्त अपनाया गया। 1919 के सिक्खों को पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था में प्रत्येक सम्प्रदाय के लिये स्थान सुरक्षित कर दिये जाते है। एक सम्प्रदाय के लिये आरक्षित स्थान उस वर्ग से भरे जाते है। इस निर्वाचन प्रणाली में एक सम्प्रदाय के लिये आरक्षित स्थान पर उस वर्ग के व्यक्तियों द्वारा ही निर्वाचन किया जाता है। उदाहरण के लिये मुस्लिम मतदाता मुस्लिम प्रतिनिधि का चुनाव करता है तथा सिक्ख मतदाता सिक्ख प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं।

यह निर्वाचन प्रणाली धार्मिक अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व अवश्य देती है परन्तु इसका उद्देश्य, प्रभाव समाज के लिये ठीक नहीं है। इससे समाज में सांप्रदायिक भावना के विकास की संभावना प्रबल हो जाती है। देश कई भागों में बंट जायेगा और साम्प्रदायिकता की आग फैल जायेगी। इससे दंगों की संभावना प्रबल होगी और राष्ट्रविरोधी शक्तियों को बल मिलेगा। अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई इस योजना का मकसद भारत के समाज को बांटकर इसकी एकता एवं स्वतन्त्रता संघर्ष में लगी शक्ति को कम करना था। यह उनकी ''फूट डालो राज करो'' की नीति का क्रियान्वयन था।

13.16 व्यावसायिक प्रतिनिधित्वः-

प्रतिनिधित्व का यह आधुनिक सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि प्रतिनिधितव का वर्तमान सिद्धान्त ''क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त'' न्यायपूर्ण नहीं है। उनका मानना है कि प्रतिनिधित्व क्षेत्र के आधार पर न होकर व्यवसाय के आधार पर होना चाहिए। इनका मानना है कि विशिष्ट हित रखने वाले सामाजिक, आर्थिक, व्यवसायिक समूहों को विधायिका में स्थान मिलना चाहिए। गार्नर के शब्दों में- ''प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की तथाकथित प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के स्थान पर व्यवसायिक, कार्य सम्बन्धी या पेशेवर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी चाहिए जो प्रादेशिक रेखाओं की उपेक्षा करें, क्योंकि वे प्रमुख रूप से बनावटी होती है तथा उन सीमाओं को नहीं दर्शाती जो विभिन्न वर्गों के वास्तविक हित को भिन्न करती है और जिनसे आधुनिक समाजों का गठन हुआ है।''

सरल शब्दों में व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के विचार की प्रमुख मान्यता यह है कि केवल जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों का बंटवारा ठीक नहीं है। इसके स्थान पर विभिन्न व्यवसायों, धन्धों की गणना होनी चाहिए और उनके आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। इस प्रकार विधायिका में व्यापारी वर्ग द्वारा चुने गये व्यापारी, श्रमिक वर्ग द्वारा श्रमिक, कृषक वर्ग द्वारा चुने गये कृषक, अध्यापकों द्वारा चुने गये अध्यापकों आदि का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जी0डी0एच0 कोल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के प्रबल समर्थक थे उनका कहना था- ''पूर्णतया वास्तविक एवं प्रजातान्त्रिक प्रतिनिधित्व व्यावसायिक प्रतिनिधित्व है। इसका अभिप्राय है कि समाज में उतने पृथक रूप से चुने गये प्रतिनिधियों के समूह होने चाहिए जितने प्रचलित विशिष्ट कार्यो के समूह हो।''

कोल ने आगे और स्पष्ट करते हुए लिखा- ''संसद सभी नागरिकों का सभी तरह से प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है परन्तु वास्तव में वह उनमें से किसी का किसी तरह प्रतिनिधित्व नहीं करती। उन्हें उन समस्याओं से निपटने के लिये चुना जाता है जो इसके सामने आती हैं परन्तु इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं देता कि विभिन्न प्रकार की समस्यायें पैदा हो सकती हैं जिनसे निपटने के लिये विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की जरूरत होती हैं। हमारे संसदीय शासन की व्यर्थता से बचने का एक तरीका हो सकता है कि प्रत्येक व्यवसाय एवं प्रत्येक संघ के कार्य के लिये प्रतिनिधियों के अलग-अलग निकाय हों। वास्तविक प्रजातन्त्र किसी अकेली सर्वशक्तिमान प्रतिनिधि सभा में नहीं बल्कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था में संभव हो सकता है।''

13.16.1 व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के दोषः-

इस सिद्धान्त में कुछ दोष दिखायी पड़ते हैं जो इस प्रकार हैं-

1.राष्ट्रीय हित की अनदेखीः- व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त में व्यवसाय एवं वर्ग के आधार पर प्रतिनिधित्व होता है जिसके कारण वे अपने हितो की पूर्ति में लगे रहते हैं और राष्ट्रीय हित गौण हो जाते हैं।

2.वर्ग अथवा व्यावसायिक संघर्षः- व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त में विभिन्न वर्गों में एक तरह से होड़ अथवा संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह किसी भी समाज के लिये हितकर नहीं होता। यह इस सिद्धान्त का प्रमुख दोष है।

3.सम्पूर्ण मानव हितों की अनदेखीः- कुछ आलोचकों का मत है कि यह सिद्धान्त केवल व्यावसायिक हितों को महत्व देता है। यह सम्पूर्ण मानव हितों के ही अंग है। व्यक्ति के सभी हित नागरिक हित के अन्तर्गत ही आते हैं। मैरियट के शब्दों में-''नागरिक का महत्व, डॉक्टर, वकील, व्यापारी, सोनार से कहीं अधिक है।''

4.सामाजिक एवं नागरिक एकता की क्षतिः-यह सिद्धान्त सामाजिकता की भावना पर गहरा कुठाराघात करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः उसके हितों की पूर्ति सामाजिक एवं नागरिक आधार पर हो सकती है। व्यवसाय एवं वर्ग के आधार पर प्रतिनिधित्व होने से सामाजिक एकता को क्षति होगी।

5.अव्यावहारिक सिद्धान्तः- इस सिद्धान्त को लागू करने में व्यावहारिक क्षति होगी। यह पता करना मुश्किल है कि किस हित को कितना महत्व प्रदान किया जाये। लास्की के शब्दों में - ''यह समझ से परे है कि चिकित्सा सम्बन्धी कार्य संसद के प्रयोजनों के लिये किस प्रकार अनिवार्य हैं।''

6.अनुपयोगी सिद्धान्तः- यह सिद्धान्त अनुपयोगी है। व्यावसायिक आधार पर चुने गये प्रतिनिधि सार्वजनिक हित, राष्ट्रीय हित के प्रश्नों पर विचार नहीं रखते हैं। अतः यह सिद्धान्त लोकतन्त्र में अनुपयोगी हो जाता है।

13.17 आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक शर्तें

- लोकतन्त्र में प्रतिनिधित्व का बहुत महत्व है। यदि प्रतिनिधित्व ठीक से नहीं होता है तो लोकतन्त्र का भविष्य भी अन्धकारमय हो सकता है। यदि प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर नहीं है, निष्पक्ष नहीं है तो लोकतन्त्र प्रभावित होता है। सामान्य शब्दों में कहें तो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रतिनिधित्व के बिना आदर्श लोकतन्त्र की कल्पना नहीं कर सकते हैं। आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये कुछ आवश्यक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, आदर्श प्रतिनिधित्व की कुछ प्रमुख शर्तें इस प्रकार हैं-

1.स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनावः- आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है कि निर्वाचन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष हो। यदि निर्वाचन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष नहीं होगा तो समाज के सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पायेगा। अतः सभी को उचित एवं न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है कि निर्वाचन पक्षपात पूर्ण न हो कर स्वतन्त्र हो।

2.सार्वभौम वयस्क मताधिकारः- समाज में विषमता पाई जाती है। सभी को लोकतन्त्र में राजनीतिक अधिकार दिये जाते हैं। जब तक समाज के हर वर्ग को मताधिकार नहीं मिलेगा तब तक वे अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर पायेंगे। यही कारण है कि आधुनिक समय में सार्वभौम वयस्क मताधिकार दिया गया जिससे सभी स्त्री-पुरूष एवं कमजोर वर्ग के लोग अपने मतों का प्रयोग कर सकें।

3.मतदाता एवं जनप्रतिनिधियों में घनिष्ठ सम्बन्धः- आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है कि मतदाता एवं प्रतिनिधियों में घनिष्ठ सम्बन्ध हो। यह घनिष्ठ मतदाताओं को जागृत करता है तथा जनप्रतिनिधियों को अंकुश में रखता है। वे जनप्रतिनिधियों को उनके कर्तव्यों के प्रति सचेत करते हैं। इसके लिये एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों को अपना कर पूर्ति की जा सकती है।

4.अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्वः- समाज में अनेक जाति, धर्म के लोग होते हैं। लोकतन्त्र में सभी की सहभागिता आवश्यक है। समाज में वर्ग विशेष की आबादी कम भी होती है। अतः ऐसे भी बहुमत आधारित चुनाव प्रक्रिया में यह असफल हो जाते हैं। अतः उनकों पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयास आवश्यक है। इन प्रयासों में उव वर्ग का मनोनयन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अच्छे विकल्प हो सकते हैं।

5.जनसंख्या आधारित छोटे निर्वाचन क्षेत्रः- आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है जनसंख्या आधारित छोटे निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिए। इससे जन प्रतिनिधि अपने क्षेत्र विशेष के प्रति अपने कर्तव्यों को कर पायेंगे। वे क्षेत्र विशेष की समस्याओं को दूर कर क्षेत्र की जनता के हितों की रक्षा कर सकेंगे। यहीं प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की मूल मंशा है। अतः कहा जा सकता है कि छोटे निर्वाचन क्षेत्र आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है।

6.प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष निर्वाचन का उचित संतुलनः- प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था प्रजातन्त्र की धारणा के अनुकूल है। आधुनिक समय के विशाल राष्ट्रों के कारण प्रत्यक्ष निर्वाचन सम्भव नहीं है। कतिपय यही कारण है कि अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र को अपनाया गया है। साथ ही कुछ पदों पर जहाँ प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व हो सकता है। वहाँ पर प्रत्यक्ष निर्वाचन भी अपनाया गया है। भारत में ये दोनों गुण मिलते हैं। जहाँ लोकसभा के चुनाव में जनता सीधे (प्रत्यक्ष) रूप में भाग लेती है। वहीं राष्ट्रपति एवं राज्यसभा में अप्रत्यक्ष (परोक्ष) रूप से भाग लेती है।

अभ्यास के प्रश्नः-

1.'मतों को गिनना नहीं तोलना चाहिए' यह कथन है।

अ फाइनर ब लावेल स रेन द लास्की

2.'सामान्य व्यक्ति को मताधिकार देने से पूर्व उसे शिक्षित, करना चाहिए' यह कथन है-

अ ग्रीन ब मैकाइवर स बेथम द मिल

3.निम्न में से कौन व्यवसायिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त का समर्थक है-

अ कोल ब मैरियट स हेयर द सभी

4.अच्छे प्रतिनिधित्व के लिये क्या आवश्यक नहीं है-

अ सार्वभौम व्यस्क मताधिकार ब प्रादेशिक प्रतिनिधित्व स खुला मतदान

द अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

5.निम्न में से कौन सा अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त है-

अ आनुपातिक प्रतिनिधित्व ब सूची प्रणाली स वैकल्पिक प्रणाली द सभी

13.18 सारांशः-

आधुनिक समय में दुनिया में प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र पाया जाता है। राज्यों का आकार एवं आबादी इतनी अधिक है कि सभी नागरिक शासन संचालन की प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकते है। ऐसे में नागरिक समाज से उनके प्रतिनिधि ही विधि निर्माण एवं शासन की क्रिया में भाग लेते है। जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन संचालन का कार्य करती है। सामान्यतः आमचुनाव में विधानिक के सदस्यों अथवा जनप्रतिनिधियों का निर्वाचन जनता करती है। जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन संचालन की व्यवस्था को प्रतिनिधित्व कहा जाता है। आज राज्यों के बड़े आकार एवं विशाल जनसंख्या के अतिरिक्त सामान्य जनता विधि निर्माण एवं शासन संचालन एवं विधि निर्माण में असमर्थ होती है। इसके अतिरिक्त शासन एवं विधि निर्माण कार्य की जटिलता सामान्य नागरिकों के समथर्न एवं समझ से परे होती है। कतिपय इन्हीं कारणों से प्रतिनिधित्व की आवश्यकता होती है।

प्राचीन राजतन्त्रात्मक युग में प्रतिनिधित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। मध्ययुग में इसके संकेत मिलने प्रारम्भ हो गये थे। जे0ए0कारी के शब्दों में -'' चर्च के धार्मिक प्रतिनिधियों के एकत्र होने के साथ ही प्रतिनिधित्व का श्रीगणेश हुआ। ब्रिटेन मे नये कर लगाने के लिये प्रजा की राय जानने से प्रतिनिधियों का राजदरबार में आमन्त्रित करने की परम्परा ने प्रतिनिधित्व का मजबूत एवं स्थायी बना दिया। ब्रिटेन में प्रतिनिधित्व समय के साथ स्थायी एवं व्यापक हो गया। आगे जाकर यह परम्परा वहाँ संसदीय शासन एवं द्वि सदनात्मक विधायिका (हाउस ऑफ कामन्स एवं हाउस आफ लार्डस) के उदय तथा प्रधानमंत्री के नेतृत्व की जनक बन गई। आगे जाकर यूरोप के फ्रांस में इस्टेटस जनरल, जर्मनी में डाइट, स्पेन में कटिस का जन्म इसी आधार पर हुआ।

13.19 शब्दावलीः-

साम्प्रदायिक निर्वाचनः- यह अंग्रेजों द्वारा 1909 में मुस्लिम तुष्टिकरण हेतु भारत मं लायी गयी व्यवस्था थी जिसमें उनके लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाया गया था।

गैरीमेंडरिंगः- एकल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में पायी जाने वाली बुराई है। इसमें सत्तारूढ़ दल अपने हितों के अनुरूप निर्वाचन क्षेत्र में बदलाव करता है। यह अमेरिका मे बहुत प्रचालित है।

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रः- नागरिकों के द्वारा सीधे तौर पर विधि निर्माण एवं शासन के कार्य में भाग लेना ही प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र है। आज भी स्विटरजरलैण्ड के कुछ कैटंन (राज्यों) में प्रचलित है।

13.23 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

1.स,2.द,3.अ,4.स,5.द

13.21 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1.सिंहल एस0सी0, तुलनात्मक राजनीति

2.प्रसाद मणि शंकर, तुलनात्मक राजनीति

3.जौहरी जे0सी0, जौहरी सीमा, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

4. मल्ल वी0पी0, राजनीति विज्ञान

5.गाबा,ओ0पी0, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा

13.13 सहायक एवं उपयोगी पाठ्य सामग्री -

1.गेना सी0वी0, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें
2.सोडारे माइकल, कम्परेटिव पालिटिक्स
3.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें
4.संधू ज्ञान सिंह, राजनीति सिद्धान्त

13.24 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1.प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते है? इसके प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये।

2.प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं उत्पति स्पष्ट कीजिये तथा व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

3.अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने वाली प्रणलियों की व्याख्या कीजिये।

4.आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से क्या समझते है ? इसके गुण दोष की व्याख्या कीजिये।

5.सार्वभौम व्यस्क मताधिकार पर निबन्ध लिखिये।

इकाई 14 : राजनीतिक अभिजन

इकाई सरंचना

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 राजनीतिक अभिजन का अर्थ एवं परिभाषायें
14.4 अभिजन की विशेषतायें
14.5 अभिजन के प्रकार
14.6 पैरटो का अभिजन संचरण सिद्धान्त
14.7 मोस्का के अभिजन संबंध विचार
14.8 पैरटो एवं मोस्का के विचारों में अंतर
14.9 मिचेल्स के अभिजन संबंध विचार
14.10 सी0 राइट मिल्स के अभिजन संबंध विचार
14.11 जेम्स बर्नहम के अभिजन संबंध विचार
14.12 अभिजन एवं लोकतंत्र
14.13 अभिजन का परिसंचरण एवं प्रजातन्त्र
14.14 फाइनर का अभिजन संचरण का सिद्धान्त
14.15 राजनीतिक अभिजन एवं समाजवाद
14.16 विकासशील देशों में अभिजन
14.17 मूल्याकंन
14.18 सारांश
14.19 शब्दावली
14.20 अभ्यास के प्रश्न
14.21 संदर्भ ग्रन्थ सूची
14.22 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर
14.23सहायक एवं उपयोगी सामग्री
14.24 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना-

लोकतन्त्र का प्रचलित (शास्त्रीय) उदारवादी सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी तक लोकप्रिय रहा। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं इक्कीसवीं शताब्दी के पूर्वाध में लोकतन्त्र का नया उदारवादी सिद्धान्त प्रकाश में आया जिसे अभिजन सिद्धान्त कहा जाता है। यद्यपि अभिजन सिद्धान्त का बीज यूनानी चिन्तनों प्लेटों, अरस्तू के विचारों में पहले से ही दिखाई पड़ते हैं। इस संबंध मे एस0पी0 वर्मा का कथन उल्लेखनीय है- ''राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त का विकास 1950 के दशक में अमेरिका में सुम्पीटर जैसे अर्थशास्त्रियां, लासबेल जैसे राजनीतिशास्त्रीयों , सी0 राइट मिल्स जैसे समाजशास्त्रियों द्वारा विभिन्न रूपों में की गई। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में पैरेटो, मोसका, रार्बट मिचल्स और जार्ज अर्टिगा की विभिन्न कालखण्डों में महती भूमिका रही ।

यह सिद्धान्त यह मानता है कि प्रत्येक समाज में एक अल्पसंख्यक वर्ग होता है जो प्रभावी ढ़ग से शासन करता है। इनकी मान्यता है कि प्रत्येक शासन शासक एवं शासित में बंटा होता है। यह सिद्धान्त मानता है कि कूछ चुने लोग अथवा श्रेष्ठ, विशिष्ठ लोग राजनीतिक शक्ति एवं प्रभाव के स्वामी सदैव बने रहते हैं। इस संबंध में डगलस वर्ने का कथन उल्लेखनीय है- ''कोई भी राजसत्ता अपने आपको प्रजातान्त्रिक बतलाने की चाहे कितनी भी चेष्ठा क्यों न करे उसके संगठन में वर्गवादी तत्व सदैव विद्यमान रहते हैं। व्यक्ति सोच सकते है कि वे राजनैतिक प्रक्रिया में भाग ले रहे है, लेकिन वास्तव में उनका प्रभाव चुनाव तक ही सीमित रहता है। सत्ता के केन्द्र में एक सामाजिक विशिष्ठ वर्ग होता है जो महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है।'' यह सिद्धान्त लोकतन्त्र के शास्त्रीय सिद्धान्त को अस्वीकार करता है जिसमें माना जाता है कि सरकार निर्माण शासन, संचालन में आम लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। वास्तव में यह कुछ संभ्रात अथवा विशिष्ट लोगों का बहुसंख्यक लोगों पर शासन है। डूवर्जर के शब्दों में- ''प्रजातन्त्र केवल सिद्धान्त में लोगों का शासन है व्यवहार में यह लोगों में से उभरे संभ्रात वर्ग का शासन है।'' यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है निर्णय लेने की क्षमता थोड़े लोगों के पास रहती है। यह थोड़े से लोग देश की राजनीतिक प्रक्रिया में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। सभी आमलोग युद्ध, संधि, क्रान्ति तथा संसदीय वाद-विवाद आदि संभ्रातों द्वारा प्रभावित एवं संचालित होते हैं। लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त प्रजातन्त्र एवं कुलीन तंत्र के शास्त्रीय सिद्धान्त का अद्भुत मिश्रण है। यह सिद्धान्त लोकतन्त्र के इस तत्व को कि सत्ता का निवास लोगों में है तथा कुलीनतंत्र के इस तत्व को कि सत्ता कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित होती है, को मिश्रित कर देता है। लोकतन्त्र का शास्त्रीय (प्राचीन) सिद्धान्त जहाँ शासन सत्ता, निर्वाचन आदि में लोगों (आमजन) की भागीदारी को स्वीकार करता है। वही विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त सत्ता के वितरण में विशिष्ट वर्ग एवं संभ्रात वर्ग, बुद्धिमान, धनी, चतुर, सक्षम लोगों को भागीदार मानता है। प्रजातन्त्र का शास्त्रीय सिद्धान्त जहाँ यह मानता है कि सार्वजनिक नीति विस्तृत एवं अनौपचारिक विचार विमर्श से उत्पन्न होती है। वही विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त मानता है कि यह न तो

संभव है और न ही वांछनीय है। विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त प्रजातन्त्र के शास्त्रीय सिद्धान्त के आदर्शवादी सिद्धान्त को न केवल शंका से देखते है वरन् उस पर प्रहार करते हैं। वे मानते है कि निर्वाध निर्माण की प्रक्रिया में यथा संभव अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी उचित नहीं होगी। इसके परिणाम भयंकर होंगें। इससे चूर्त नेतृत्व का उदय, चापलूस संस्कृति का उदय, भीड़ का दमनपूर्ण व्यवहार, आदि पनपने की प्रबल संभावना सदैव बनी रहेगी। विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त यह मानता है कि लोकतन्त्र के प्राचीन सिद्धान्त को व्यवहार में तो लागू नहीं किया जा सकता। यह इसे एक काल्पनिक एवं अव्यवहारिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते है।

14.2 उद्देश्यः- इस इकाई के निम्न उद्देश्य हैः-

- अभिजन सिद्धान्त का अर्थ एवं विशेषताओं को जानना।
- पैरेटो एवं मोस्का के अभिजन सिद्धान्त को समझना।
- अभिजनों के प्रकार तथा समाज में उनके महत्व को समझना।
- राजनीतिक अभिजनों में परिवर्तन की प्रक्रिया को समझना।
- राजनीतिक अभिजन एवं लोकतन्त्र के संबंध को समझना।
- फाईनर के अभिजन संचरण मॉडल को समझना।

14.3 राजनीतिक अभिजन का अर्थ एवं परिभाषाः- राजनीतिक अभिजन अथवा विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त के बीज यूनानी चिन्तन में प्लेटो एवं अरस्तू के विचारों में ही दिखायी पड़ते हैं। ये दोनों ही विद्वान यह स्वीकार करते थे कि शासन की कला एवं क्षमता सभी के पास नहीं होती है। अतः शासन का अधिकार केवल योग्य लोगों के पास होना चाहिए। अरस्तू के शब्दों में - ''समाज में कुछ लोग शासन करने के लिये पैदा हुए है तथा कुछ लोग शासित होने के लिये पैदा हुए है।'' विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त विशिष्ट वर्ग (श्रेष्ठवर्ग) को महत्वपूर्ण भूमिका देने का पक्षधर है। राजनीतिक अभिजन सीमित अर्थवाली धारणा है। इसमें सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले लोग शामिल नहीं होते हैं। राजनीति अभिजन वह है जो राजनीतिक व्यवस्था के संचालन और निर्णय निर्माण में सहभागी होते हैं। कतिपय यह कारण है। कि कुछ लोगों ने राजनीतिक अभिजन को निर्णय निर्माण एवं राजनीतिक व्यवस्था के लिये निर्णयकर्ता कहा।

अभिजन शब्द अंग्रेजी में Elite कहा जाता है जिसे लैटिन भाषा के शब्द Elgcne से लिया गया है। इसका अर्थ होता है पसंद द्वारा चुनाव (Selection by choice)होता है। अंग्रेजी में Eligcne अर्थ नेतृत्व से लिया जाता है। इसका प्रयोग आगे जाकर 'विशिष्ट' अर्थों में किया गया।

पैरेटो ने जहाँ इसे 'शासक अभिजन', मोस्का ने 'शासक वर्ग', राबर्ट डॉल ने इसे शासक अभिजन कहा है। अभिजन शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 17 वीं शताब्दी में विशेष, श्रेष्ठ संदर्भों में किया गया। बाद में इसका प्रयोग उच्च, श्रेष्ठ, कुलीन वर्गों के लिये किया जाना लगा। इस सिद्धान्त को स्थापित करने में एच0डी0लासवैल, मोस्का, पैरेटो, जेम्स बर्नहम, रार्बट डाल, मिचेल्स, सार्टोरी, सी0 राइटमिल्स, वॉटमोर, मैनहाइम तथा शुम्पीटर आदि का महत्वपूर्ण योगदार रहा। राजनीतिक अभिजन की परिभाषा अनेक विद्वानों ने इस प्रकार की है-

सी0 राइट मिल्स के शब्दों में- ''हम शक्ति अभिजन की व्याख्या शक्ति के साधन के रूप में कर सकते हैं। शक्ति अभिजन वह है जो आदेश देने वाले पदों को धारण करते है।''

पैरेटो के शब्दो में- ''वे व्यक्ति जो अपने कार्यक्षेत्र के अर्न्तगत सबसे अधिक उच्च श्रेणी पर हैं वे ही अभिजन हैं।''

लासवैल के शब्दों मे- ''एक राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति को धारण करने वाला वर्ग ही राजनीतिक अभिजन होता है। शक्ति धारण करने वाले वर्ग में नेतृत्व करने वाला वर्ग तथा वह सामाजिक समुदाय आते हैं जिसमें ये यह वर्ग आता है जिसके प्रति एक निर्दिष्ट समय में यह उत्तरदायी होता है।''

रार्बट ए डॉल के शब्दों में- ''प्रत्येक राजव्यवस्था में अभिजन का एकीकृत अल्पसंख्यक समुदाय अस्तित्व में होता है जो शासकीय नीतियों, नियमों तथा उस समाज से समूह अन्य सभी राजनीतिक विषयों पर अपना प्रभाव डालता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अभिजन एक संगठित अल्पसंख्यक समूह होता है। यह अपनी क्षमता, सामर्थय से बहुसंख्यक समाज पर शासन करता है। ये ऐसा समूह होता है जो राजनीतिक रूप से बहुत प्रभावशाली होता है। शासन का संचालन हर स्थिति में इन्हीं के द्वारा किया जाता है। नीतियों का निर्माण करना, उनका क्रियान्वयन करना इस लघु समूह के द्वारा ही किया जाता है। ये अपने प्रभाव, प्रभाव के द्वारा राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

14.4 अभिजन की विशेषतायें-

अभिजन समाज में वह समूह होता है जो समाज का नेतृत्व करता है। ये संख्या में कम होते हैं परन्तु इनकी प्रभाव क्षमता बहुत व्यापक होती है। यह सुविधा एवं विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग होता है। इनके हित समाज से अलग होते हैं। अभिजन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैः-

1.अल्पसंख्यक उच्चवर्ग:- ये शासन में सदैव प्रभावी रहते हैं। संख्या बल में कम होने के बावजूद इस अल्पंसख्यक समूह का शासन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था तथा उसका क्रियान्वयन सदैव इनके हाथ में ही रहता है। ये संख्या में कम होने के बावजूद अपने प्रभाव, पैसे से

सघन प्रचार अभियान चलाकर जनमत को अपने पास में करने का प्रयास करते हैं। ये किसी न किसी प्रकार से अपनी उच्च स्थिति को बनाये रखते हैं।

2.अलग हितों की अभिवृद्धि:- अभिजन के हित सदैव जनसामान्य के हितों से भिन्न होते हैं। ये सदैव अपने हितों की पूर्ति के लिये सजग रहते हैं। ये जनसामान्य के हितों के प्रति संवेदनशीलता प्रदर्शित करते हैं परन्तु उनके हितों के विपरीत अपने हितों के संवर्धन में सक्रिय रहते हैं। संख्या बल में कमी के बावजूद अपने प्रभाव, पैसे, सघन प्रचारतंत्र के बलबूते आमजन में अपनी मौजूदगी बनाये रखते हैं।

3.बहुमत का निष्क्रिय एवं प्रभावहीन होनाः- अभिजन वर्ग जो संख्या मे बेहद कम होता है वह सदैव सक्रिय एवं प्रभावशाली रहता है। बहुमत शासन संचालन, विधि निर्माण के कार्य में न तो सक्रिय रहता है और न ही इस पर नियन्त्रण रख पाता है। वे अपनी श्रेष्ठता एवं प्रभाव को बनाये रखने के लिये इस प्रकार के साधन का प्रयोग करते हैं। इस हेतु वे अनैतिक एवं नैतिक तथा विधिक इस प्रकार के साधन का प्रयोग करते हैं। वे येन केन प्रकारणे बहुमत को प्रभावहीन बनाकर रखते हैं।

4.समाज में विशिष्ट स्थानः- अभिजन का समाज मे विशिष्ट स्थान होता है। वे अपने स्थान, प्रभाव को लेकर बहुत सजग रहते हैं। वे निरन्तर अपने स्थान को बनाये रखने तथा प्रभाव को बढ़ाने को लेकर सक्रिय रहते हैं।

5.जनता के द्वारा निर्वाचनः- राजनीतिक अभिजन सदैव जनता के द्वारा निर्वाचित होता है। प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था में यह समय अलग-अलग होता है। ये जनता की आंखों में धूल झोंककर उनका मत प्राप्त कर ही सत्ता प्राप्त करते हैं। वहीं से यह विशिष्ट बनते हैं। ये अपनी राजनीतिक छवि को लेकर बहुत संवेदनशील रहते हैं।

14.5 अभिजन के प्रकार:-

आधुनिक समय में कई तरह के अभिजनों का अस्तित्व समाज में पाया जाता है। ये आर्थिक अभिजन, राजनैतिक अभिजन, धार्मिक अभिजन, जातिगत अभिजन के रूप में पाये जाते हैं। पैरेटो ने अभिजन के दो रूप बताये हैं- अभिजन एवं अभिजनेतर। उसने अभिजन को दो भागों में बांटा हैः-

1.शासक अभिजनः- वह कहता है कि जो व्यक्ति शासन को नियन्त्रित सत्ता का उपभोग करता है वह शासक अभिजन कहलाता है। बाद के वर्षों में उनके अनुयायी एवं शिष्या मेरी कोलम्बिसका ने इसे चार भागों में बांटाः-

- कुलीन वर्गः- प्रत्येक समाज में एक उच्च वर्ग होता है जिसके पास विशेषाधिकार होता है, उसकी समाज में विशेष भूमिका होती है। यह कुलीन वर्ग कहलाता है।

- पूँजीपति वर्गः- यह पूँजीपति वर्ग भी शासक अभिजन का हिस्सा होता है। इसकी समाज में विशेष भूमिका होती है। इसकी धन अथवा पूँजी पर विशेष पकड़ होती है।
- सैनिक वर्गः- सैनिक वर्ग भी शासक अभिजन होता है। यह समाज एवं राज्य मे विशेष एवं शक्तिशाली भूमिका रखता है। उसके समर्थन से ही शासक सत्ता में रहता है।
- धर्माधिकारी वर्गः- यह धर्म पर विशेष पकड़ रखने वालों का समूह होता है। यह धर्म का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इनका सम्मान शासक भी करते हैं। ये विशेष अधिकारों एवं सम्मान के स्वामी होते हैं।

2.अशासक अभिजनः- ये अपने आप में अलग वर्ग होता है। ये शासक तो नहीं होते हैं परन्तु शासन सत्ता में इनका प्रभाव होता है। यही कारण है कि ये जन सामान्य से अलग विशेष अधिकारों एवं सुविधायों को उपयोग करते हैं। इस वर्ग में डॉक्टर, शिक्षक, इंजीनियर, वकील आदि बुद्धिजीवी आते है।

अपने अध्ययन 'मस्तिष्क और समाज' (Mind and Society) में पैरेटो अशासक अभिजन की अपेक्षा शासक अभिजन को ज्यादा महत्वपूर्ण मानता है। वह बताता है कि यह वर्ग बल प्रयोग एवं चालाकी दोनों का प्रयोग कर शासन करता है। राजनीतिक सक्रियता के सभी पक्ष इनके नियन्त्रण में रहते हैं। राजनीतिक अभिजन में परिवर्तन होते रहते हैं। पुराने अभिजन भ्रष्ट हो समाप्त हो जाते हैं। उनके स्थान पर नये लोग आ जाते हैं। पैरेटों मानता है कि समाज का प्रत्येक अभिजन इस प्रक्रिया से अंततः नष्ट हो जाता है। उसका स्थान दूसरे लोग लेते हैं।

14.6 पैरेटो का अभिजन के परिसंचरण का सिद्धान्त;(**Circulation of elite**)- पैरेटो ने अभिजन के परिसंचरण का सिद्धान्त दिया। उसने अपने सिद्धान्त में बताया कि अभिजन स्थायी नहीं होते हैं। अपने अयोग्यता, अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार के कारण अनेक लोग अविशिष्ट हो जाते है। ठीक इसी प्रकार कुछ सामान्य लोग अपने गुणों, योग्यता एवं क्षमता में वृद्धि कर अभिजन (राजनीतिक) बनने की ओर अग्रसर हो जाते है। वह मानता है कि यह परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यह परिवर्तन स्वचालित है। वह इसके साथ यह भी जोड़ता है कि यदि यह प्रक्रिया तेज गति से चलती है तो यह शासन के लिये एवं जनकल्याण के लिये हितकर रहती है। तीव्र परिवर्तन वाली व्यवस्था में कुशल एवं योग्य शासन का जन्म होता हैं यह स्वभाविक है कि पद से हटने का भय अभिजनों को पथ से विचलित नहीं होने देता और वे निरन्तर योग्यता एवं क्षमता के साथ जनकल्याण के कार्य में सक्रिय रहते हैं। पैरेटो का स्पष्ट मानना है कि यदि परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी

होती है तो भ्रष्टाचार और अयोग्य शासन का जन्म होता है जो जन सामान्य के लिये हितकर नहीं है। अयोग्य एवं भ्रष्ट शासक को हटाने के लिये अंततः क्रान्ति की आवश्यकता होती है। कतिपय ऐसे समय में जनता का नया रूप (सरकार बनाने एवं बिगाड़ने वाली) सामने आता है। जनता नये रूप में अभिजन मे समान व्यवहार करती है। पैरेटो का यह सिद्धान्त संघर्ष को स्वभाविक मानता है क्योंकि विशिष्ट वर्ग एवं सामान्य वर्ग के हित परस्पर विरोधी होते हैं अतः परस्पर संघर्ष के द्वारा संतुलन की स्थापना होती है और भ्रष्ट शासन पर अंकुश लगता है। एक नये संवेदनशील एवं योग्य सरकार का जन्म होता है।

14.7 गीटानो मोस्का के राजनीतिक अभिजन संबंधी विचारः-

मोस्का का राजनीतिक अभिजन संबंध सिद्धान्त पैरेटो के सिद्धान्त से भिन्न है। मोस्का मानता है कि समाज दो वर्गों में विभाजित होता हैः- 1- शासक वर्ग 2- शासित वर्ग।

जो वर्ग शासन करता है वे अल्पसंख्यक अथवा सीमित संख्या में होते हैं। ये वर्ग संख्या में कम होने के बावजूद अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये सदैव संगठित रहता है। दूसरी तरफ शासित वर्ग होते हैं जो बहुसंख्यक होते हैं तथा अंसगठित होते हैं। वो मानता है कि इन दोनों वर्गों में सदैव परिवर्तन होता रहता है। वह मानता है कि शासित वर्ग अथवा साधारण वर्ग में तीव्र मतभेद रहते हैं। मोस्का अपनी पुस्तक The Rulling Class में कहता है- ''सभी प्रकार के समाजों में नितान्त अल्पविकसित या जिन्हें कठिनाई से सभ्य कहा जाता है, ऐसे समाज में पूर्णतया विकसित तथा अतिशक्तिशाली समाज तक में दो वर्ग प्रकट होते हैं- वह वर्ग जो शासन करता है वह वर्ग जिसपर शासन किया जाता है। शासक वर्ग संख्या में छोटा होता है, सभी राजनीतिक क्रियाकलापों को करता है तथा शासन सत्ता पर एकाधिकार कर लेता है तथा उससे प्राप्त सभी सुख सुविधाओं का उपभोग करता है। दूसरा वर्ग जो संख्या में बड़ा होता है शासक वर्ग द्वारा ऐसे ढ़ग से ऐसे निर्देशित तथा नियन्त्रित होता है जो कभी वैद्य तथा कभी स्वेच्छाचारी प्रतीत होता है। व्यवस्थित अल्पमत का संगठित बहुमत पर प्रभुत्व अपरिहार्य है।''

वह आगे स्पष्ट करता है कि प्रत्येक समाज में शासक वर्ग अपने को सत्ता में बनाये रखने के लिये नैतिक एवं कानूनी आधार खोज निकालने का प्रयत्न करता है और उन्हें इन सिद्धान्तों एवं विश्वासों के जो सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त और स्वीकृति है तर्क संगत एवं आवश्यक परिणाम के रूप में प्रस्तुत करता है। इस शासक वर्ग की नीतियाँ चाहे वह स्वार्थवश ही क्यों न बनी हो, एक नैतिक एवं कानूनी आवरण के साथ रखी जाती हैं और एक निश्चित सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। मोस्का के शब्दों में - ''राजनीतिक नियन्त्रण को नेतृत्व एवं कार्यान्वित करने की की क्षमता में है।'' मोस्का की मान्यता थी कि राजनीतिक अभिजन की सदस्य संख्या समय के ससाथ घटती एवं बढ़ती रहती है। शासित वर्ग के लोग भी इसमें सम्मलित होते रहते हैं।

14.8 मोस्का एवं पैरैटो के विचारों में अंतरः- दोनों ही विचारकों ने अभिजन सिद्धान्त की व्यापक व्याख्या की। दोनों ही समाज में दो वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते थे। इनके बावजूद दोनों के विचारों में अंतर के मुख्य बिन्दु निम्न हैः-

1.पैरटो जहां दोनों वर्गों में अंतर परिवर्तन का आधार मनोवैज्ञानिक मानता है वहीं मोस्का परिवर्तन का कारण सामाजिकता को स्वीकार करता है।

2.पैरेटो की स्पष्ट मान्यता थी कि कोई भी अभिजन वर्ग का सदस्य स्वयं हटना नहीं चाहता है, वह तो हटाया जाता है। उसके शब्दों में - ''इतिहास शमशानों की भूमि है।'' मोस्का मानता है कि शासक वर्ग संगठन पर निर्भर करता है। संगठन की शक्ति, योग्याता के द्वारा विशिष्ट वर्ग का शासन चलता है।

3.पैरेटो विशिष्ट वर्ग में परिवर्तन के लिये क्रान्ति एवं संघर्ष पर बल देता है वही मोस्का परिवर्तन स्वभाविक एवं जरूरी मानता है। सामाजिकता के परिवेश में जब संगठन अपने आपको अनुकुल नहीं रख पाता है तब उस वातावरण में संगठन पर नेतृत्व वर्ग की पकड़ ढ़ीली हो जाती है तब परिवर्तन आता है। मोस्का की मान्यता थी कि परिवर्तन ''समझा बुझाकर'' होना चाहिए। किसी भी परिवर्तन के लिये हिंसा, क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती है। यह स्वभाविक रूप से शान्ति से संभव है।

4.पैरेटो के शब्दों में प्रत्येक समाज में शासक एवं शासित दो अलग वर्ग होते हैं। अतः प्रजातन्त्र और अन्य सरकारें सभी समान होती है। मोस्का इसके विपरीत प्रजातन्त्र एवं अन्य सरकारों में स्पष्ट अंतर करता है। वह मानता है कि शासक वर्ग तथा शासित वर्ग में क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है।

14.9 मिचेल्स के अभिजन संबंधी विचारः-

पैरेटो के बाद उसके शिष्य मिचेल्स ने अभिजन संबंधी विचार दिये। वह स्पष्ट रूप से मानता था कि आम जनता कभी भी अपनी अयोग्यता, अक्षमता के कारण शासन कार्यों , नीति निर्माण के योग्य नहीं होती। वह मानता था कि शासन करने वालों में सदैव परिवर्तन होता रहता है। वह भी शासन करने वालों के लिये 'अल्पतंत्र' शब्द का प्रयोग करता है। वह मानता था कि कोई लोकतान्त्रिक व्यवस्था वास्तव में दलीय व्यवस्था होती है। दल के ऊपर कुछ नेताओं का नियन्त्रण रहता है। ये नेता किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं रहते हैं। ये अभिजन (नेता) लोकतन्त्र में अपना अधिपत्य बनाये रखते हैं। वो आगे इसी से प्रेरित हो कर मिचेल्स ने ''अल्पतं का लौह नियम'' का सिद्धान्त दिया। वह स्पष्ट करता है कि लोकतन्त्र में बहुमत का शासन नहीं होता वरन् अल्पमत का शासन किसी न किसी रूप में बना रहता है। यह अल्पंसख्यक लोग अपनी योग्यता, क्षमता, प्रतिभा, मेधा से शासन में सदैव प्रभावी रहते हैं। वे सत्ता के संघर्ष में आगे निकलकर सदैव सत्ता को प्राप्त करने में सफल रहते हैं। सत्ता प्राप्ति की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती है। यह नियम लोहे के समान अटूट एवं मजबूत है। मिचेल्स के

शब्दों में- ''संगठन की चर्चा करना अल्पतन्त्र की प्रवृत्ति की चर्चा करना है। जनता के संदर्भ में संगठनतंत्र नेता की स्थिति अलग बना देता है। यह अल्पतंत्र का लौह नियम है।

मिचेल्स अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखता है कि अधिकतर व्यक्ति स्वभाव से आलसी, उदासीन होते हैं। वे शासन कार्या को समझने तथा करने में असमर्थ होते हैं। ये झूठे, आश्वासनों एवं प्रसन्नता से सतुष्ट हो जाते हैं। वे अपने से योग्य लोगों के समक्ष विनम्र एवं आज्ञाकारी बने रहते हैं। ऐसे योग्य एवं क्षमतावान लोग बहुसंख्यक वर्ग की इस कमी का भरपूर फायदा उठाकर सत्ता को अपने जैसा बनाये रखने के लिये उनका समर्थन (वोट) प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। इस हेतु वे उनकी प्रशंसा करने, सपने दिखाने, अनैतिक माध्यमों के प्रयोग आदि करने से भी परहेज नहीं रखते हैं। मिचेल्स के शब्दों में- ''ये नेता एक बार सत्ता में आ जाते हैं तो कोई भी उन्हें शक्ति के शिखर से हटा नहीं सकता।''

संगठन के बिना आधुनिक युग में राजनीतिक दल परिणाम नहीं प्राप्त कर सकता है। यह लौह नियम ऐसा है जिससे किसी भी प्रगतिशील राजनीतिक दल का निकल पाना संभव नहीं है। सत्ता के शीर्ष पर बैठे व्यक्ति आसानी से सत्ता नहीं छोड़ते हैं। उन्हें सत्ता से अलग करना एक कठिन कार्य है। मिचेल्स के शब्दो में- ''इन्हें नियन्त्रित करने के लिये बनाये कानून भी कुछ समय बाद प्रभावहीन हो जाते हैं। नेताओं की शक्ति में किसी भी प्रकार की कमी नहीं होती है। उन्हें समय-समय पर क्रान्तियों के द्वारा ही हटाया जाता है। इससे भी विशेष अंतर नहीं पड़ता क्योंकि उनके स्थान पर नया शासक आ जाता है जो उतना ही निरकुंश होता है। सत्ता सदैव कुछ लोगों के हाथों में बनी रहती है। उनका प्रयोग मनमाने तरीके से होता है। इस प्रकार अभिजन (विशिष्ट) वर्ग सदैव सत्ता में बने रहते हैं। भोली-भाली जनता सदैव शासित होती रहती है।

14.10 सी0 राइट मिल्स के अभिजन संबंधी विचारः-

सी0 राइट मिल्स ने अभिजन संबंधी विचार प्रस्तुत किये। उसने 'शक्ति अभिजन' जैसी नई शब्दावली का प्रयोग किया। वह मानता था कि कुछ लोग समाज में शक्तिशाली पदों पर आसीन रहते हैं। वे उन्हें 'शक्ति अभिजन' संबोधित करता था। वह स्पष्ट करता था शक्ति अभिजन का आधार आर्थिक एवं सामाजिक होता है। आधुनिक समाज में शक्ति उन्हें संगठनों में केन्द्रित होती है जिनकी वृत्तरूपी समाज में केन्द्रीय स्थिति होती है और जो व्यक्ति इन संगठनों में शिखर पर होते हैं। ये शक्ति अभिजन ;च्वूमत म्सपजमद्ध कहलाते हैं।

मिल्स ने मोस्का के 'शासक वर्ग' के स्थान पर 'शक्ति अभिजन' शब्द देता है। वह स्पष्ट करता है कि वर्ग शब्द से आर्थिक शक्ति का मान होता है तथा शासक से राजनीतिक शक्ति का मान होता है। अतः आर्थिक वर्ग जो राजनीतिक रूप से शासन करता है। मिल्स अपने अभिजन संबंधी सिद्धान्त में व्यक्तियो के स्थान पर संस्थाओं को जोड़ता है। वह स्पष्ट करता है कि अब राजनीतिक शक्तियों का

संस्थानीकरण हो चुका है। अब शक्ति व्यक्ति के स्थान पर संस्थाओं में केन्द्रित होती है। नागरिक अब संस्थानिक सत्ता का पालन करती है। इन सत्ताधारियों के चयन में जनता को पूरी छूट होती है। वह मानता है कि नेताओं में बदलाव संस्थाओं के ढाँचे में बदलाव कर ही किया जा सकता है। इनके संचालन में चुनाव महत्वपूर्ण होता है।

14.11 जेम्स बर्नहम के राजनीतिक अभिजन संबंधी विचारः-

जेम्स बर्नहम ने अपने 'प्रबन्धकीय क्रान्ति' नामक निबन्ध में अभिजन संबंधी विचार को मार्क्सवाद से जोड़ने का प्रयास किया। उनकी मान्यता थी कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर आर्थिक सामाजिक व्यवस्था पर ऐसे थोड़े से व्यक्तियों का अधिपत्य होगा। यह थोड़े से व्यक्ति सम्पूर्ण शक्तियों के न केवल स्वामी होगें वरन् वे समाज का नेतृत्व भी प्रदान करेंगे। बर्नहम ने इन थोड़े व्यक्तियों के लिये 'प्रबन्धकीय अभिजन' शब्दावली का प्रयोग किया।

बर्नहाइम पहला अभिजनवादी विचारक था जिसने इस सिद्धान्त के साथ आर्थिक तत्व को जोड़ा। वह अपने सिद्धान्त में आगे स्पष्ट करता है कि समाज में नेतृत्व उसी के पास रहता है जो आर्थिक रूप से सबल होते हैं। वह कहता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियाँ घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती हैं। इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। वह कहता है कि अभिजन वर्ग का आधार 'आर्थिक शक्ति' है। वह सत्ता में आर्थिक तत्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है। वह अपने सिद्धान्त में 'नौकरशाही' को बहुत महत्वपूर्ण मानता है। उसकी मान्यता है कि यह शक्तिशाली नौकरशाही के साथ राजनीतिक अभिजन को जोड़ता है। इस अभिजन को वह टिकाऊ मानता है।

विभिन्न विचारकों के द्वारा विशिष्ट वर्ग के लिये तथा राजनीतिक अभिजन संबंधी विचार दिये। इन सभी विचारों से अभिजन सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। इनके विचारों में अंतर है परन्तु इस बात पर सभी सहमत है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में शासन शक्ति केवल कुछ लोगों में रहती है। इस बात पर भी सभी सहमत दिखते हैं कि एक बार सत्ता में आने के बाद अभिजन सदैव अपनी स्थिति को बचाने अथवा सत्ता में बने रहने का प्रयास करते हैं। ये सभी विचारक इस बात पर भी सहमत दिखते हैं कि निर्णय लेने की क्षमता अन्तिम रूप से अभिजन के पास ही रहती है। पैरेटो, मोस्का, मिचेल्स, बर्नहाइम तथा मिल्स सभी अभिजन को विशिष्ट शासक वर्ग के रूप में मानते हैं। राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैः-

1.अभिजन, शक्ति और प्रभाव का प्रयोग इसलिये करते हैं क्योंकि इसमें कुछ विशेष गुण होते हैं जैसे प्रशासनिक क्षमता, बौद्धिक योग्यता आदि होते हैं।

2.प्रत्येक राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था में अल्पसंख्यकों या व्यक्तियों के छोटे समूह का उदय होता है। वे महत्वपूर्ण पदों पर स्थापित होते हैं और निर्णय प्रक्रिया में सक्रिय रहते है।

3.राजनीतिक अभिजन सत्ता में रहते हुए जनसमर्थन से मुक्त रहते हैं।

4.वे समाज में शक्ति प्रयोग का वैध अधिकार रखते हैं। वे बिना भय एवं संकोच से अपनी इस शक्ति का प्रयोग करते हैं।

5.अपनी सत्ता को बचाये रखने के लिये अभिजन हर प्रकार के माध्यम जैसे झूठ, फरेब, हिंसा तथा अनैतिक माध्यमों का प्रयोग करने से नहीं हिचकिचाते।

6.अभिजन वर्ग सदैव साधारण वर्ग से अलग उच्च स्थिति में रहता है। वे विशेष स्थिति तथा विशेषाधिकार सम्पन्न होते हैं।

7.ये संख्या में कम होते हैं परन्तु सत्ता पर नियन्त्रण रखते हैं।

8.लोकतन्त्र में अभिजन वर्ग में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यह अभिजन अथवा विशिष्ट वर्गों के बीच एक प्रतियोगिता होती है।

14.12 अभिजन तथा लोकतन्त्रः-

लोकतन्त्र का सामान्य अर्थ जनता का शासन होता है। लोकतन्त्र स्वतन्त्रता एवं समानता पर आधारित होता है। इस व्यवस्था में सरकार सदैव जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कोई भी उच्च पद प्राप्त कर सकता है। मैन्हाइम 'लोकतन्त्र को खुली प्रतियोगिता' मानता है। शुम्पीटर के शब्दों में- ''लोकतन्त्र को राजनीतिक विनिश्चय कर लेने का एक संस्थापक समझौता है जिसमें राजनीतिक निर्णय लेने की शक्ति जनता के मत द्वारा प्राप्त कर प्रतियोगिता एवं संघर्ष माध्यम से प्राप्त करते हैं।

लोकतन्त्र का अभिजनवादी सिद्धान्त का तात्पर्य राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के शासन से है जो जनता के द्वारा निर्वाचित होते हैं। यहाँ जनता के द्वारा निर्वाचित व्यक्ति राजनीतिक अभिजन के रूप में शासन करते हैं। इनकी स्पष्ट मान्यता है कि राजनीतिक अभिजन के अभाव में लोकतन्त्र संभव हो ही नहीं सकता। लोकतन्त्र का अभिजनवादी सिद्धान्त स्वतन्त्रता एवं खुली प्रतियोगिता में विश्वास रखते हैं। यह सिद्धान्त यह मानता है कि कोई भी व्यक्ति जिसके पास क्षमता होती है। योग्यता होती है वह अभिजन बन सकता है। लोकतन्त्र का अभिजनवादी सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि एक बार अभिजन बन सत्ता पर काबिज होने के बाद भी वे निश्चित नहीं रह सकते। यदि वे प्रतियोगिता में असफल होते हैं तो नये अभिजन के उदय की संभावना बनी रहती है।

उदारवादी लोकतन्त्र में बहुमत के आधार पर कुछ लोग (अल्पतंत्र) शासन सत्ता का प्रयोग करते हैं। जनता के विश्वास पर्यन्त ही वह सत्ता के शीर्ष पर आसीन हो 'राजनीतिक अभिजन' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उनके ऊपर बहुसंख्यक जनता के नियन्त्रण का दायित्व रहता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। अल्पमंत्र द्वारा बहुसंख्यक समाज को नियन्त्रित किया जाता है। राजनीतिक नेतृत्व (अभिजन) ही प्रायः बहुसंख्यक जनता को नियन्त्रित करते हुए दिखायी पड़ते हैं। यह सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि 'जनता का शासन' एक भ्रम है, एक कपोल कल्पना तथा भ्रामक अवधारणा है। आरोन के शब्दों में- ''किसी भी समाज में शासन सत्ता कुछ लोगों के हाथ में रहने के अतिरिक्त अन्य लोगों के हाथों में रहना असम्भव है। जनता के लिये सरकार तो होती है, जनता द्वारा शासन नहीं होता है।''

राजनीतिक अभिजनवादी सिद्धान्त शास्त्रीय उदारवादी सिद्धान्त के अनुसार लोकतन्त्र में समानता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। ये मानते है कि पूर्ण समानता न तो प्राकृतिक है और न ही व्यवहारिक ही है। वे कहते है कि शासक एवं शासितों के बीच, सत्ताधारियों, एवं शासितों के बीच समानता कोरी कल्पना है। वे स्पष्ट रूप से मानते है कि असमानता, योग्यता, कुशलता, ज्ञान प्रतिभा के कारण होती है। वे मानते है कि जनसाधारण में जटिल राजनीतिक समस्याओं को समझने की क्षमता आम लोगों में नहीं होती है। कतिपय यही कारण है कि यह कार्य स्वभाविक रूप ये अधिक क्षमतावान, योग्य, प्रतिभाशाली लोगों (अभिजन) के पास स्वभाविक रूप से पहंुच जाता है। मैन्हाइम के शब्दों में- ''वास्तविक रूप से नीतियों को अभिजन ही निर्धारित करते हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज लोकतान्त्रिक नहीं है। लोकतन्त्र के लिये यह पर्याप्त है कि प्रत्येक नागरिक के पास निश्चित अवधि के बाद अपनी भावनाओं को महसूस कराने की सम्भावना तो है क्योंकि राजनीतिक अभिजन के शासनाधिकार प्राप्त करने के लिये जनता के मतों के लिये प्रतियोगिता करनी है क्योंकि विभिन्न प्रतिस्पर्धी अभिजन वर्गों में सत्ता प्राप्ति के लिये प्रतियोगिता जारी रहती है। अतः वे स्वमेव अंततः जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। यह सिद्धान्त अभिजन वर्ग के बीच निरन्तर चलने वाली प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता में विश्वास करता है। ब्राइस का मत उल्लेखनीय है- ''संभवतः किसी भी प्रकार के शासन को महान नेताओं की इतनी आवश्यकता नहीं होती है जितनी लोकतन्त्र को।'' लोकतन्त्र के लिये अभिजन अपरिहार्य है। सफल एवं प्रभावी लोकतन्त्र के लिये विशिष्ट वर्ग (अभिजन) बहुत आवश्यक है। डाई व जीगलर ने अपनी पुस्तक ''दि आमरनी ऑफ डेमोक्रेसी'' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि लोकतन्त्र की यह विडम्बना है कि जनता का शासन होते हुए भी इसको बनाये रखने तथा कुशलता पूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ाने के लिये विशिष्ट वर्ग (अभिजन) पर निर्भर रहना होता है। प्राचीन समय से आजतक के लोकतन्त्र का बारीक अध्ययन करने ये यह स्पष्ट होता है कि प्रजातन्त्रीय मूल्य जनता के द्वारा सुरक्षित नही रखे जाते वरन् ये अभिजनों के द्वारा ही सुरक्षित रखे जाते हैं। पीटर ब्राचाश ने अपनी पुस्तक ''दी थ्योरी ऑफ डेमोक्रेटिक एलिटिज्म'' में

लिखा है- ''लोकतान्त्रिक खेल के नियमों को बनाये रखने का उत्तरदायित्व जनता के कंधों पर न होकर, अभिजनों के ऊपर होता है।''

14.13 अभिजन वर्ग का परिसंचरण और प्रजातन्त्रः-

प्रजातन्त्र में अभिजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रजातन्त्र में अभिजनों के बीच स्वतन्त्र प्रतियोगिता निरन्तर चलती रहती है। जो व्यक्ति सत्ता प्राप्त करने में सफल होता है व निरन्तर उसे बनाये रखने तथा जनता के बीच लोकप्रियता बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील रहता है। मैन्हाइम इसे अवसर की समानता मानता है। इसमें समाज के विभिन्न स्तरों के व्यक्ति व्यक्तिगत गुणों के आधार पर उस वर्ग में निर्वाचन के माध्यम से सम्मिलित किये जाते हैं। इस संबंध में शुम्पीटर का कथन उल्लेखनीय है- ''वह राजनीतिक निर्णय लेने का ऐसा संघात्मक समझौता है, जिसमें व्यक्ति निर्णय करने की शक्ति को जनता का मत प्राप्त करके प्रतियोगितापूर्ण संघर्ष के माध्यम से प्राप्त करते है।'' पैरेटो ने सर्वप्रथम अभिजन वर्ग के परिसंचरण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने इसमें स्पष्ट किया कि यह संघर्ष अभिजन तथा सामान्य वर्ग के बीच निरन्तर चलता रहता है। इस परिसंचरण सिद्धान्त में प्रतियोगिता (प्रतिस्पर्धा) अनवरत चलती रहती है। अभिजन वर्ग में परिवर्तन इस प्रतियोगिता के कारण होता रहता है।

मोस्का ने अभिजन के परिसंचरण को वैधानिक शासन तक सीमित न रखकर परिसंचरण की गतिशीलता का भी अध्ययन किया। उसने अभिजन वर्ग के सदस्यों की बौद्धिक, नैतिक गुणों को उत्पन्न करने वाली सामाजिक परीस्थितियों एवं परम्पराओं का भी अध्ययन किया। मोस्का ने आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न नवीन समूहों एवं उनके शासन व्यवस्थाओं पर होने वाले प्रभावों का भी अध्ययन किया। उसने आगे यह भी स्थापित किया कि केवल अभिजन ही व्यवस्था में परिवर्तन के लिये उत्तरदायी नहीं होते वरन् अन्य समूहों, छोटे संगठनों की भी अपनी भूमिका होती है।

14.14 फाइनर का अभिजन संचरण का सिद्धान्तः-

फाइनर ने अभिजन संचरण की एक सटीक व्याख्या की। उसने अभिजन संचरण को एक स्वभाविक प्रक्रिया बताया जो निरन्तर चलती रहती है। राजनीतिक व्यवस्था में अभिजन अपनी स्थिति को बनाये रखने में प्रयत्नशील रहते हैं। वहीं दूसरी तरफ नये अभिजन उदयमान होने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इसको सिद्ध करने के लिये उन्होंने 'फ्लास्क एवं संतरे' का मॉडल प्रस्तुत किया। इस मॉडल के द्वारा फाइनर ने सिद्ध किया कि लोकतन्त्र रूपी जल में राजनीतिक व्यवस्था (संतरा) पर कब्जा पाने के लिये अभिजन संघर्षशील रहते हैं। इसमें से कुछ उदयमान अभिजन राजनीतिक व्यवस्था (संतरे) तक पहुंचने का प्रयास करते हुए सफल होते हैं तथा कुछ अभिजन विस्थापित होते हैं तथा डूब जाते हैं। उदयमान अपनी क्षमता, योग्यता, प्रतिभा से ऊपर जाते हैं। प्रतिस्पर्धा के कारण जल में

हलचल होती है और संतरे की स्थिति बदलने लगती है। जो पानी के ऊपर सत्ता (संतरे) पर आसीन थे वे प्रति अभिजन बनने लगते हैं। जो अपनी क्षमता खो देते हैं वे सतह (संतरे) से हटकर जल में डूबने लगते हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र में केवल थोड़े लोग (समूह) ही सत्ता में बने रहते हैं। सत्ता में बने रहने के लिये इनमें संघर्ष चलता रहता है। सत्ता में वे ही रहते हैं जो योग्यता, प्रतिभा साबित करते हैं।

14.15 राजनीतिक अभिजन और समाजवादः-

लोकतन्त्र का आधार स्वतन्त्रता है जबकि समाजवाद का आधार समानता है। वे आर्थिक समानता पर अत्याधिक जोर देते हैं। यह समाजवादी विचार शोषण के विरूद्ध मजदूर वर्ग के संघर्ष एवं उनके द्वारा संगठित क्रान्ति के द्वारा व्यवस्था परिवर्तन पर बल देता है। मोस्का, पैरेटो तथा मिचल्स वर्ग विहीन समाज के विचार से सहमत नहीं है। वे समाजवाद में स्थापित सत्तारूढ़ समूह को अभिजन नहीं मानते। वे इसमें संघर्ष (प्रतिस्पर्धा) तथा परिवर्तन का अभाव देखते हैं। साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था पर रेमण्ड एरन का कथन प्रांसगिक है- ''यहाँ पर प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की अपेक्षा अल्पसंख्यक के पास निश्चित ही अधिक शक्ति है क्योंकि आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति उसमें समाहित है। राजनीतिक टे"ड यूनियन, समस्त संस्थायें, समस्त व्यक्तिगत समूह (व्यवसायिक समूह) वास्तव में अभिजन के प्रतिनिधियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ''अभिजन सिद्धान्त के समर्थन मार्क्स के इस विचार को भी नकार देते हैं जिसमें मार्क्स मानता था कि समाज में केवल दो वर्ग होते हैं। इन दो वर्गों में निरन्तर संघर्ष चलता है। सभी घटनाओं के पीछे आर्थिक कारण होते हैं। अभिजनवादी समाज में अनेक वर्गों, समूहों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इस संबंध में मैक्स बेबर कहता था- ''समस्त परिवर्तन आर्थिक कारणों से नहीं होते हैं। सामाजिक संरचनायें उत्पादन एवं तकनीक को प्रभावित करती है। वे ऐसे सिक्के के समान है जो सरलता से नहीं पिघलते हैं।''

14.16 विकासशील देशों में अभिजन:-

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दुनिया में साम्राज्यवादी शक्तियों का पराभाव प्रारम्भ हुआ और नये लोकतान्त्रिक देशों का उदय हुआ। नई राजनीतिक एवं शासन की व्यवस्था के साथ इन देशों में कुछ सामाजिक एवं राजनीतिक चुनौतियाँ भी सामनें आइं। स्वतन्त्रता संघर्ष में तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक अभिजन की महती भूमिका थी तथा आजादी के बाद भी वे अपने पुराने गौरव के अनुरूप ही नई भूमिका तलाश रहे थे। इन नवोदित राष्ट्रों के अभिजन को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। एडवर्ड मिल्स ने इन देशों की सामस्याओं का व्यापक विश्लेषण करते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन की तीन अवस्थायें बतायी हैं। विकासशील अथवा नवोदित राष्ट्रों के अभिजनों के विभिन्न रूप हैं। शिल्स के अनुसार जहाँ उच्च बुद्धिजीवी विचार सृजन एवं समाज को मार्गदर्शन का कार्य करते हैं। मध्यम बुद्धिजीवी पत्रकारिता, अध्यापन, वकालत का कार्य करते हैं। समाज के समक्ष उत्पन्न नई

चुनौतियों का समाधान भी इस अभिजन वर्ग से ही आता है। कतिपय यही कारण है कि किसी भी शासन व्यवस्था में अभिजन (विशिष्ट) वर्ग का विशेष महत्व होता है। उनके प्रभावी एवं कुशल नेतृत्व के बिना राष्ट्र निर्माण नहीं किया जा सकता है। एक सफल लोकतन्त्र के लिये विशिष्ट वर्ग में निम्न विशेषतायें आवश्यक हैः-

1.लोकतन्त्रीय मूल्यों तथा आदर्शों ने विशिष्ट वर्ग का विश्वास एवं आस्था।

2.विशिष्ट वर्ग का चयन समाज के विभिन्न वर्गों से होना चाहिए। इससे सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व एवं विश्वास विशिष्ट वर्ग में हो जायेगा।

3.प्रभावी शासन संचालन के लिये आवश्यक है कि जनता अनावश्यक अभिजन वर्ग के कार्यों एवं नीतियों में दखल न दें।

4.विशिष्ट वर्ग (अभिजन) का ज्ञान, योग्यता, तथा अनुभव उच्चकोटि का हो। जिससे वे जनसामान्य का सम्मान स्वयं अर्जित कर सके।

5.अभिजनों में सत्ता के लिये प्रतियोगिता हो तो उसका माध्यम चुनाव हो। चुनाव द्वारा ही अभिजनों को शासन का अवसर प्राप्त होना चाहिए।

6.अभिजन (विशिष्ट) वर्ग खुला एवं व्यापक होना चाहिए। इसमें सदैव योग्य एवं क्षमतावान व्यक्ति के प्रवेश का अवसर बना रहना चाहिए।

14.17 मूल्यांकनः-

पिछले कई दशकों से अमेरिका के व्यवहारवादियों तथा वैज्ञानिक आधार पर राजनीतिक प्रणाली का अध्ययन करने वालों ने राजनीतिक जीवन की वास्तविकता के आधार पर इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। आज व्यवहारिक आवश्यकताओं को देखते हुए लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही अनेक दोषों को समेटे हुए वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखने का प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त बन जाता है। प्रत्येक सिद्धान्त से यह आशा रखी जाती है कि वह केवल वास्तविकता का बयान ही नहीं करे वरन् वास्तविक समस्याओं का आदर्शों , मूल्यों के अनुरूप समाधान प्रस्तुत करे । इस सिद्धान्त की आलोचना डंकन तथा ल्यूक्स, डेविस, वांटमोर, वे, गोल्ड स्मिथ, वाकर वैकरैक, पेटसमैन, प्लामनाज आदि ने की। इन विद्वानों द्वारा की गयी आलोचना का मुख्य आधार निम्न हैः-

1.यह सिद्धान्त लोकतन्त्र से साधारण व्यक्ति को दूर करना चाहता है।

2.यह सिद्धान्त प्राचीन विशिष्ट वर्गीय व्यवस्था को बनाये रखना चाहता है अतः यह रूढ़िवादी सिद्धान्त है।

3.विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त वर्तमान व्यवस्था के साथ संतुलन स्थापित नहीं कर सकता। समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता से वर्ग संघर्ष जन्मता है। बिना उसे समाप्त किये सं ामजस्य एवं सहयोग की कल्पना नहीं की जा सकती है।

4.यह सिद्धान्त लोकतन्त्र को केवल राजनीतिक व्यवस्था ही मानता है। यह आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था की अनदेखी करता है।

5.यह सिद्धान्त विचारधारा तथा मूल्यों को महत्वपूर्ण नहीं मानता है।

6.यह सिद्धान्त मानव को साधन तथा शासन को साध्य मानता है।

7.यह सिद्धान्त अभिजन (नेताओं) को विशेष महत्व देता है। यह आमलोगों को विशेष महत्व नहीं देता है।

8.यह सिद्धान्त जनमत की पूर्णतः अनदेखी करता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि जनमत का निर्माण अभिजन (विशिष्ट) वर्ग करता है।

9.यह सिद्धान्त समानता को न तो आवश्यक मानता है और न ही स्वभाविक मानता है।

10.विशिष्ट वर्ग में परिवर्तन का नियम देखने में ठीक दिखता है परन्तु व्यवहार में अव्यवहारिक लगता है क्योंकि कोई भी अपनी मजबूत स्थिति तथा विशेषाधिकार को आसानी से नहीं छोड़ता है।

11.विशिष्ट वर्ग की योग्यता, क्षमता का आधार अस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त अन्य तत्व भी है जो व्यक्ति को समाज में मजबूत एँव प्रभावशाली बनाते हैं।

अभ्यास के प्रश्नः-

1निम्न में से कौन अभिजन सिद्धान्त के समर्थक है-

(अ) पैरेटो (ब) मोस्का (स) मिचेल्स (द) सभी

२.पैरेटो अभिजन को कितने भाग में बाँटता है-

(अ) 1 (ब) 2 (स) 3 (द) 4

3. The Power elite पुस्तक का लेख कौन है-

(अ) पैरेटो (ब) मोस्का (स) सी0 राइट मिल्स (द) मिचेल्स

4.श्ज्ीम त्नससपदह मसपजमश् पुस्तक का लेखक हैं-

(अ) मिचेल्स (ब) बर्नहाइम (स) लासवैल (द) कोई नहीं

5.यदि समानता से प्रजातन्त्र भ्रष्ट होता है तो अति समानता से यह नष्ट होता है- यह कथन है-

(अ) टेलर (ब) मॉटेस्क्यू (स) वोथा (द) वे

6.सी0 राइट मिल्स ने अभिजन के लिये शब्द प्रयोग किया -

(अ) शासक वर्ग (ब) शक्ति अभिजन (स) दोनों (द) कोई नहीं

14.18 सारांशः-

राजनीतिक अभिजन का सिद्धान्त एक लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त को कुछ आलोचना का सामना करना पड़ता है परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वास्तव में सत्ता में कुछ लोग ही प्रभावशाली होते हैं। एक बार सत्ता में काबिज होने के बाद वे निरन्तर अपनी मजबूत स्थिति को बनाये रखने के लिये प्रयासरत रहते हैं। वे कई बार इस हेतु गलत एवं अनैतिक माध्यमों का भी प्रयोग करने से किसी प्रकार का परहेज नहीं करते। यह भी सत्य लगता है कि विशिष्ट अथवा अभिजन वर्ग स्थायी नहीं होता है। इनकी स्थिति ने परिवर्तन समय के साथ होता रहता है। लोकतन्त्र का अभिजनवादी सिद्धान्त न केवल सत्ता में कुछ लोगों के प्रभाव को स्वीकार करता है। वरन् अभिजन को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने की भी वकालत करता है। वे जनहित में अभिजन की शक्ति को स्वस्थ प्रतियोगिता तथा जनता के नियन्त्रण के द्वारा सीमित करने की बात करता है। वे विकेन्द्रित लोकतान्त्रिक संस्थाओं का जाल बिछाकर अभिजन शक्ति का समायोजन लोकतन्त्र की आवश्यकतानुसार करने का समर्थन करते हैं।

14.19 शब्दावलीः-

अभिजनः- इसका तात्पर्य है विशिष्ट। वह जो सामान्य लोगों से अलग शक्ति, पहचान एवं प्रभाव रखता हो अभिजन कहलाता है।

अल्पसंख्यकः- कम संख्या में पाये जाने वाले समूह को अल्पसंख्यक समूह या समुदाय कहा जाता है।

कुलीन वर्गः- यह प्राचीन व्यवस्था में पाया जाने वाला सम्पन्न एवं प्रभावी वर्ग होता था। इनका प्रभाव समाज, शासन, आर्थिक गतिविधियों में होता था।

पूँजीपति वर्गः- यह वह वर्ग था जो उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण रखता है। इनका नियन्त्रण उद्योंगों एवं व्यापार पर होता है। कार्ल मार्क्स इनके विरूद्ध क्रान्ति कर उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित कर समानता स्थापित करना चाहता था।

14.21 सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1.संधू ज्ञान सिंह, राजनीति सिद्धान्त

2.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें

3.सिंघल एस0सी0, तुलनात्मक राजनीति

4.गाबा , ओ0पी0, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा

5.जौहरी, जे0सी0, जौहरी सीमा, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

14.22 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

1.द,2.ब,3.स,4.स,5.ब,6.ब

14.14 सहायक एवं उपयोगी सामग्रीः-

1.सोडारो माइकल, कम्परेटिव पॉलिटिक्स

2.गेना सी0वी0, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें

3.गाबा , ओ0पी0, तुलनात्मक राजनीति की रूपरेखा

4.शुक्ला वी0 राजनीतिक सिद्धान्त

5.गाबा, ओ0पी0 समकालीन राजनीति सिद्धान्त

14.24 निबन्धात्मक प्रश्नः-

1.अभिजन की धारणा से क्या समझते है? इस सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

2.राजनीतिक अभिजन क्या है? पैरेटो एवं मोस्का के विचारों का विश्लेषण कीजिये।

3.लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त पर निबन्ध लिखिये।

4.अभिजन वर्ग के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

इकाई संख्या -15: शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन

इकाई संरचना

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

15.4 शक्ति पृथक्करण की आवश्यकता

15.5 मॉटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषा

15.6 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रभाव

15.7 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना

15.8 अवरोध संतुलन सिद्धान्त का अर्थ

15.9 अमेरिका का अवरोध संतुलन

15.10 भारत में शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन

15.11 अवरोध संतुलन के प्रकार

15.12 अवरोध संतुलन सिद्धान्त की आलोचना

15.13 निष्कर्ष

15.14 सारांश

15.15 शब्दावली

15.16 अभ्यास के प्रश्न

15.17 संदर्भ ग्रन्थ सूची

15.18 सहायक उपयोगी सामग्री

15.19 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.20 निबन्धात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना:-

प्रस्तुत इकाई में हम शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन के सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे। यह आधुनिक समय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में से एक है। इस सिद्धान्त ने आधुनिक शासन व्यवस्था के लिये न केवल एक कसौटी का निर्माण किया वरन् नागरिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा की गारण्टी प्रस्तुत की। मॉटेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को व्यवस्थित ढ़ग से स्थापित किया। उनसे पूर्व यूनानी विचारक सिसरो, प्लेटो, अरस्तू के विचारों में इसके बीज दिखायी देते हैं। उनके बाद लॉक, ब्लैकस्टोन आदि ने इसे आगे बढ़ाया। अवरोध संतुलन का सिद्धान्त का उदय मुख्य रूप से शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त में उत्पन्न हो रही व्यवहारिक समास्याओं का हल प्रस्तुत करने के लिये हुआ। यह सिद्धान्त पूर्ण पृथक्करण के स्थान पर सरकार के अंगों के सुचारू संचालन के लिये सहयोग तथा नागरिक स्वतन्त्रता को बहाल रखने के लिये अंगों के द्वारा एक दूसरे को नियन्त्रित करने की व्यवस्था की गई। यह सरकार के अंगों के आपसी सहयोग एवं एक दूसरे को नियन्त्रित करने का आदर्श संतुलन पर आधारित सिद्धान्त है। इस इकाई में शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन सिद्धान्त के अर्थ, विशेषतायें, गुण-दोष एवं शासन पर प्रभाव का व्यापक विश्लेषण किया जायेगा।

15.2 उद्देश्य:- इस इकाई का अध्ययन के उपरान्त हम-

- शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ एवं प्रभाव को जान सकेंगे।
- शक्ति पृथक्करण का आधुनिक शासन व्यवस्था में महत्व को समझ सकेंगे।
- मॉटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रभाव एवं उसकी प्रमुख आलोचनाओं का समझ सकेंगें।
- अवरोध संतुलन सिद्धान्त का अर्थ एवं उपयोगिता को समझ पायेंगें।
- आधुनिक समय में अवरोध संतुलन सिद्धान्त की विश्व की शासन व्यवस्थाओं में भूमिका का मूल्यांकन कर पायेंगे ।
- अमेरिका तथा भारत में शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन की समझ सकेंगें।

15.3 शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन

शक्ति पृथक्करण का अर्थ एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमिः-प्रारम्भ से ही राजनीति शास्त्र में शक्ति को लेकर राजवैज्ञानिकों में संशय एवं चिन्ता रहीं। वे सदैव राजनैतिक शक्ति के प्रयोग एवं प्रभाव को लेकर खेमो में बंधे रहे। राजनीतिक, संवैधानिक, शक्ति का प्रयोग किस प्रकार हो? उसका क्या प्रभाव नागरिकों की स्वतन्त्रता पर है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास अद्यतन चल रहा है। मानव सदैव से ही राजनीतिक शक्ति के सदुपयोग के लिये एक के बाद दूसरी राजनीतिक व्यवस्था, संरचना का निर्माण करता रहा है। इन सबके बावजूद मानव ने आजतक ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की है जो शत् प्रतिशत राजनीतिक शक्ति के दुरूपयोग से बचाव की गारण्टी दे सके। राजनीतिक शक्तियों के दुरूपयोग से बचाव की अनेक व्यवस्थाओं एवं संस्थागत संरचनाओं का मूल आधार यह है कि शक्ति के प्रयोगकर्ताओं पर ऐसे नियन्त्रण लगाये जायें जिससे प्रयोगकर्ता इसका दुरूपयोग न कर पाये। लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग प्रायः कुछ लोगों के द्वारा किया जाता है। स्वेच्छाचारी अथवा तानाशाहीपूर्ण शासन व्यवस्था में निर्णय लेने एवं शक्ति प्रयोग का अधिकार एक व्यक्ति के हाथ में रहता है। अतः सत्ता के दुरूपयोग से बचाव के लिये इन्हीं निरकुंश शासकों से संबंधित होता है। इनको नियन्त्रित करने से समस्या का समाधान दिखाई पड़ता है। इनको नियन्त्रित करने के तरीके में एक तरीका सत्ता का संस्थाकरण करना है। दूसरे शब्दों में कहे तो शक्ति को व्यक्ति के स्थान पर संस्था में निहित करना है। इस प्रकार राजनीतिक शक्ति का विभाजन कर उसे विभिन्न संस्थाओं एवं व्यक्तियों में बांटकर प्रयोगकर्ता के मनमानेपन पर रोक लगाने का तरीका लंबे समय से चलन में है तथा सफल है। इस संबंध में जोसेफ ला पालोम्बरा का कथन उल्लेखनीय है- ''शक्तियों का पृथक्करण या विभाजन शक्तियों के मनमाने प्रयोग या इनके निरपेक्ष दुरूपयोग से कुछ सुरक्षा व्यवस्था के माध्यम के रूप में, मानव के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक खोजों में से एक है।''

कतिपय यही कारण है कि राजनीतिक शक्तियों को विभाजित कर उसके प्रयोग को नियन्त्रित करने का प्रयत्न रोमन व्यवस्था में दिखता है। इस संबंध मे कार्ल जे0 फ्रेडरिक ने अपनी पुस्तक ''कॉस्टीट्यूशनल गर्वनमेट एण्ड डेमोक्रेसी'' में स्पष्ट रूप से उल्लेखित किया है-'' आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की पेचीदगियों एवं राज्य शक्ति के नियन्त्रण के अनौपचारिक उपकरणों के विकास के बावजूद शक्ति विभाजन एवं शक्ति पृथक्करण आज भी एवं संविधानवाद की एक मात्र पक्की गारण्टी है।''

शक्ति पृथक्करण से शक्ति नियन्त्रित करने का चलन केवल आधुनिक लोकतन्त्रों की विशेषता नहीं है। कम लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं अथवा तानाशाहीपूर्ण शासन व्यवस्थाओं में भी तानाशाह अपनी शक्ति सुरक्षा के लिये शक्ति बँटवारे अथव शक्ति वितरण के माध्यम से ठोस नियन्त्रण व्यवस्था स्थापित कर अपने अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति या गुट को शक्ति के दुरूपयोग करने से रोके रखता

है। इस प्रकार स्पष्ठ है शक्ति के दुरूपयोग से बचाव के लिये शक्ति नियन्त्रण की सुव्यवस्था शक्ति पृथक्करण द्वारा प्राचीन काल से ही चलन मे है।

शक्ति के दुरूपयोग रोकने के लिये शक्ति का संस्थानीकरण तथा उसके बँटवारे का चलन प्राचीन समय से चला आ रहा है। शक्तियों का संस्थाकरण करना वास्तव में शक्तियों का संविधान द्वारा अथवा विधि द्वारा नियन्त्रित करना है। संविधान द्वारा सरकार की स्थापना ही अपने आप में शक्ति नियन्त्रण की व्यवस्था बन जाती है। संविधान द्वारा शक्तियों को दो प्रकार से नियन्त्रित किया जाता हे। प्रथम विधि द्वारा शक्तियों का कार्यात्मक विभाजन किया जाता है। दूसरा विधि द्वारा राज्य की शक्तियों का प्रादेशिक एवं भौगोलिक विभाजन किया जाता है। सरल शब्दों में कहें तो शक्तियों का कार्यात्मक विभाजन ही शक्ति पृथक्करण है। राज्य शक्ति का भौगोलिक विभाजन संघात्मक व्यवस्थाओं में दिखाई पड़ता है। दोनों ही के द्वारा शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित नहीं होने दिया जाता है। इससे शक्ति के दुरूपयोग की संभावना कम हो जाती है।

मानव इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण है कि शक्ति को शक्ति के द्वारा ही नियन्त्रित किया जाता रहा है। शक्ति को नियन्त्रित करने के लिये आवश्यक है कि उसको नियन्त्रित करने वाली संस्था भी उतनी शक्तिशाली एवं प्रभावशाली हो। अतः राजनीतिक शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने के लिये, उनको नियन्त्रित करने की व्यवस्था शासन शक्तियों को पृथक करके की जाती है। इसके निम्नलिखित निहितार्थ होते हैः-

1.शक्ति, शक्ति द्वारा संतुलित हो जाती है।

2.शक्ति ही शक्ति की नियन्त्रक बन जाती है।

3.शक्ति केवल अपने अधिकार क्षेत्र में सीमित रहती है।

4.शक्ति दूसरे अंगों के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण करने असमर्थ हो जाती है।

5.सारे शक्ति (अंग) समान हो जाते है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि राज्य शक्ति की अभिव्यक्ति साधारणतया तीन रूपों में होती है। राज्य शक्ति का एक पहलू राज्य की इच्छा से सम्बन्धित होता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिये संस्थागत संरचना को ही विधानमण्डल (विधायिका) कहते हैं। व्यवस्थापिका ही विधान बनाकर राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति करती है। यह राज्य शक्ति की व्यवहारिक अभिव्यक्ति की संस्था है। राज्य शक्ति की इच्छा को कार्यरूप देने (Execute)वाली संरचनात्मक व्यवस्था राजशक्ति का दूसरा भाग अर्थात् कार्यपालिका होती है। राजशक्ति का तीसरा भाग विधियों को क्रियान्वित करने, उसे लागू करने से संबंधित होता है जिसे न्यायपालिका के नाम से जाना जाता है। व्यवस्थापिका द्वारा बनाये विधियों

को कार्यपालिका के द्वारा क्रियान्वित नीतियों का पालन सही प्रकार से हो रहा है अथवा नहीं, इसका निर्धारण करने का दायित्व न्यायपालिका का होता है। न्यायपालिका ही तय करती है कि कानून संविधान अथवा विधि के अनुरूप है अथवा नहीं। इस संबंध में उसका फैसला अंतिम होता है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि कानून बनाने का कार्य व्यवस्थापिका का है, उसे लागू करने का कार्य कार्यपालिका का है तथा कानून को लागू होने में आ रही बाधाओं को रोकने का दायित्व न्यायपालिका का है। ये तीनों ही सरकार के तीन अंग हैं।

ये तीनों अंगों को लंबे समयसे अलग-अलग स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वानों का यहाँ तक मानना है कि शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना ''राज्य'' नामक संस्था है। यह कथन पूर्णतः सही प्रतीक नहीं होता है। यह जरूर सत्य है कि प्राचीन काल से यूनानी चिन्तन में राज्य के तीन अंगों को पृथक मान लिया गया था। प्लेटो ने अपनी पुस्तक ''लांज'' में मिश्रित राज्य का विचार प्रतिपदित किया। ''अरस्तू'' ने और आगे बढ़कर सरकार को असेम्बली, मजिस्ट्रेट तथा जुडीशियरी नामक तीन भागों में बांटा था। अरस्तू ने सर्वप्रथम सरकार के वैधानिक, प्रशासनिक तथा न्यायिक रूप का संकेत दिया तथा इनके पृथक का भी संकेत दिया। इसी प्रकार रोम के गणतन्त्र में भी शासन के अंगों का विभाजन दिखाई पड़ता है। इस संबंध में रोमन विचारक पोलिबियस तथा सिसरो ने भी संकेत दिये। इन सभी उदाहरणों में स्पष्ट रूप से शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया और न ही इसे सुव्यवस्थित रूप से स्थापित किया गया। इस संबंध में जॉन लॉक के राज्य संबंधी विचारों की अनदेखी नहीं की जा सकती। उन्होंने ने भी राजशक्ति को विधायिका, शासन संबंधी तथा राजनम संबंधी शक्तियों में विभाजित करने की बात की थी।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सरकार को शक्तियों के विभाजन का विचार अति प्राचीन है परन्तु इस संबंध मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य ''मॉटेस्क्यू'' ने किया। उन्होंने इसे एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया। यहाँ पर हरमन फाइनर का कथन उल्लेखनीय है ''व्यक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त प्रथम बार पूर्ण रूप में केवल मॉटेस्क्यू द्वारा ही प्रतिपादित किया गया।'' शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त मॉटेस्क्यू का अपना ही है यद्यपि इसके कुछ संकेत जॉन लौक की पुस्तक ''सिविल गर्वनमेंट'' में भी मिलते प्रतीक होते है। इसमें लौक ने स्पष्ट किया कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका संबंधी कार्यों को पृथक रूप अलग-अलग व्यक्तियों के द्वारा किया जाना चाहिए। इन सबके बावजूद शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का जनक मॉटेस्क्यू ही है। उन्होंने इस सिद्धान्त को प्रतिपदित कर ''आधुनिक शासन व्यवस्था'' तथा ''विधि के शासन'' का मार्ग प्रशस्त किया। इस सिद्धान्त के द्वारा मानव स्वतन्त्रता को निर्बाध बनाने का अप्रतिम कार्य किया। यहाँ सिद्धान्त मानव जाति के इतिहास में एक 'मील का पत्थर' साबित हुआ। यहाँ पर 'बलेकस्टोन' का उल्लेख करना भी आवश्यक हो जाता है जिन्होंने 'शक्ति पृथक्करण'' के

सिद्धान्त को और आगे ले जाकर राजनीति शास्त्र के महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रतिस्थापित किया।

15.4 शक्ति पृथक्रण की आवश्यकता:-

शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त सरकार के तीनों अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के पृथक अस्तित्व एवं स्वतन्त्र रूप से कार्य करने पर बल देता है। यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि यदि तीनों अंग स्वतन्त्र एवं पृथक होगें तो मानव स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकेगी। प्लेटो, अरस्तू, पोलीवियस, सिसरो, लाँक आदि विचारकों ने शक्ति विभाजन को मानव स्वतन्त्रता एवं कुशल शासन के लिये आवश्यक माना। लाँक से पूर्व के विचारक इस सिद्धान्त की व्यापक एवं सपष्ट व्याख्या नहीं कर पाये थे। लाँक प्रथम विचारक था जिसने शक्ति पृथक्करण को कुशल शासन के लिये आवश्यक बताया। उसने पहली बार यह स्पष्ट किया कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, तथा न्यायपालिका के कार्य एक दूसरे से अलग हैं तथा इनको एक नहीं समझा जा सकता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि लाँक व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के कार्यों के पृथक्करण पर अत्याधिक जोर देता था। उसने न्यायपालिका के पृथक्करण पर उसकी स्वतन्त्रता पर विशेष बल नहीं दिया। व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका को एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं अलग रखने का विचार एक महत्वपूर्ण विचार था। यह लाँक का उल्लेखनीय योगदान है। इस संबंध में लाँक ने लिखा है-''जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि निर्माण की शक्ति होती है उसमें विधियों के क्रियान्वयन की शक्ति को अपने हाथ में लेने की प्रबल इच्छा हो सकती है क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की महन दुर्बलता है।''

शक्तिपृथक्करणकी आवश्यकता एवं औचित्य को बड़े ही स्पष्ट रूप से मॉटेस्क्यू ने सिद्ध किया। उसने फ्रांस में लुई चौदहवें के तानाशाहीपूर्ण शासन को बड़े नजदीक से देखा था। फ्रांस के बाद इंग्लैण्ड में प्रवास के दौरान उसने वहाँ के राजा की मर्यादित सत्ता को देखा था। उस समय इंग्लैण्ड के राजा की सत्ता संसद एवं मत्रिमण्डल के उदय के साथ सीमित हो गई थी। वहाँ की बेहतर व्यवस्था को देखकर मॉटेस्क्यू इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजशक्ति का पृथक्करण ही नागरिक स्वतन्त्रता एवं सुशासन का आधार है। इसी से प्रभावित होकर उसने शक्ति पृथक्करण का व्यापक एवं स्पष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है। जिस इंग्लैण्ड की व्यवस्था से प्रेरित होकर वह शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त दे रहा था उस इंग्लैण्ड में संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। वहाँ पर शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त नहीं पाया पाया जाता है। इसके बावजूद भ्रमवश ही उसने जो शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया वह मॉटेस्क्यू की राजनीतिशास्त्र को अमूल्य देन है। पहली बार उसने ही शक्ति पृथक्करण को स्वतन्त्रता की पहली एवं अंतिम आवश्यकता माना था। सी0एफ0 स्ट्रांग ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के महत्व को समझते हुए लिखा-''शासन के तीन विभागों - विधानमण्डल, कार्यपालिका,

न्यायपालिका का उदय वास्तविक कृत्यों के विशेषीकरण ;(Specialization of functions) की प्रक्रिया के फलरूवरूप हुआ। यह प्रक्रिया सभ्यता की प्रगति उसके कार्यक्षेत्र की वृद्धि और उसके उपकरणों की बढ़त हुई जटिलता के साथ ही सिद्धान्त एवं व्यवहार की समस्त शाखाओं में दृष्टिगोचर हुई है। प्रारम्भ में राजा सभी शक्तियों का स्वामी था परन्तु बाद में इन शक्तियों को दूसरे को सौंपने की प्रकृति का विकास हुआ। कार्यों का विशेषीकरण एक आवश्यकता थी और उसके परिणामस्वरूप प्रत्यायोजन एक सीधा सादा प्रयास था। राजा की शक्ति नियन्त्रित की जाने लगी और संवैधानिक साधनों का विचार होने लगा। इसी से एक सिद्धान्त का जन्म हुआ।''

लाँक, मॉटेस्क्यू तथा स्ट्रांग तीनों ने ही शक्ति पृथक्करण को आवश्यक माना तथा इसको अलग-अलग रूप से प्रस्तुत किया। सभी विद्वानों ने शक्ति पृथक्करण की उपयोगिता को अलग-अलग तरीके से सिद्ध किया। आधुनिक समय में भी यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी माना जाता है। आज न्यायपालिका को इसी सिद्धान्त के माध्यम से वयवस्थापिका एवं कार्यपालिका से स्वतन्त्र एवं दबावमुक्त रखने की कोशिश की जाती है। जिससे वे स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष रूप से संविधान की सुरक्षा एवं नागारिक अधिकारों की रखा कर सके। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हेतु शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आवश्यकता हमेशा रहती है। इस संबंध में हरमन फाइनर का कथन महत्वपूर्ण है-'' शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का राजनीतिक विज्ञान में तब तक विशेष महत्व नहीं रहा जब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता का मुद्दा आवश्यक नहीं बन गया। ''

15.5 मॉटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का अर्थ एवं परिभाषाः-

साधारण शब्दों में कहें तो एक दूसरे से स्वतन्त्र होना तथा एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना ही शक्ति पृथक्करण है। इस सिद्धान्त में हय स्वीकार किया जाता है कि सरकार के तीनों अंगों को अपने-अपने कार्यों को करना चाहिए तथा दूसरे अंगों के कार्यक्षेत्र में अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। यह प्रक्रिया शासन के हित में भी है तथा नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये भी आवश्यक है। इस सिद्धान्त के मूल मे यह भावना छिपी है कि जब-जब सरकार के तीनों अंगों की शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है तब-तब निरंकुश शासन, अत्याचार अपने चरम पर पहुँच जाता है। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि शक्तियों के केन्द्रीकरण के स्थान पर उनका विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। विकेन्द्रीकरण सत्ता से मानव पर होने वाले अत्याचार, शोषण पर रोक लग सकती है। सरकार के तीनों अंगों के पृथक एवं स्वतन्त्र होने से वे ने केवल अपने क्षेत्र में कार्य करते हैं वरन् दूसरे अंग के अतिक्रमण के प्रयास पर विराम भी लगाते हैं। इससे स्वभाविक रूप से एक संतुलन कायम होता है। कतिपय यही कारण है शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त से आगे जाकर एक नया सिद्धान्त विकसित हुआ जिसे हम अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त भी कहते हैं।

मॉटेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा था-'' प्रत्येक सरकार में तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैः- व्यवस्थापन संबंधीः- इस शक्ति के अनुसार शासक स्थाई या अस्थाई कानूनों का निर्माण करता है तथा पहले से बने कानूनों का संशोधन तथा समापन करता है। दूसरी शासन संबंधीः-जिसके अनुसार वह संधि करता है अथवा युद्ध की घोषणा करता है। अन्य देशों को राजदूत भेजता है तथा उनके राजदूत को अपने यहाँ स्थान देता है। सार्वजनिक सुरक्षा की स्थापना तथा आक्रमणों से रक्षा की व्यवस्था करता है। तीसरी न्याय संबंधी- इस शक्ति के अनुसार वह अपराधियों को दण्ड देता है। अथवा व्यक्तियों के झगड़ों का निपटारा करता है। व्यवस्थापन तथा शासनसंबंध शक्ति जब किसी एक व्यक्ति अथवा शासकों के समूह में निहित हो जाती है, तो स्वतन्त्रता का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। इस दशा में इस बात का भय रहता है मिक एक राजा अथवा सत्ता अत्याचारी कानूनों का निर्माण कर ले तथा उन्हें अत्याचारपूर्ण ढंग से लागू करे। इसी प्रकार यदि न्याय संबंधी शक्ति को व्यवस्थापन अथवा शासन सबंधी शक्ति से अलग नहीं किया गया तो भी स्वतन्त्रता संभव नहीं होती है। यदि वह व्यवस्था के साथ जोड़ दी जायेगी तो प्रजा के जीवन तथ उसकी स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारी नियन्त्रण का शिकार बनना पड़ेगा क्योंकि उस दशा में ं न्यायकर्ता ही व्यवस्थापक होगा। यदि इसे (न्याय शक्ति) शासन शक्ति के साथ जोड़ दिया जायेगा तो न्यायकर्ता का व्यवहार हिंसक एवं अत्याचारी हो जायेगा।''

मॉटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के विश्लेषण से मुख्य रूप से निम्न तथ्य उभरते हैः-

1.सरकार के तीनों अंगों का स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा तीनों की अलग-अलग शक्तियाँ है।

2.स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने के लिये तीनों शक्तियों का केन्द्रण नहीं होना चाहिए।

मॉटेस्क्यू यह स्वीकार करता है कि सरकार के तीनों अंगों की अपनी अलग विशिष्ट पहचान तथा कार्यक्षेत्र है। अतः इनको अलग रखा जा सकता है। सभी राज्यों में , सरकारों में इन कार्यों का संपादन किया जाता है। यदि इन कार्यों का निष्पादन एक स्थान से होना प्रारम्भ होता है तो नागरिक स्वतन्त्रता गंभीर संकट में पड़ जाती है। इसी से बचने के लिये मॉटेस्क्यू शक्ति के केन्द्रकरण रोकने पर जोर देता है। वह तीनों अंगों को स्वतन्त्र एवं समान रूप से शक्ति सम्पन्न बनाने पर जोर देता है। वह उनके स्वतन्त्र क्रियान्वयन को भी आवश्यक बताता है। जब तीनों अंग समान रूप से शक्ति सम्पन्न होगें तथा तीनों का स्वतन्त्र अस्तित्व होगा तो कोई भी दुरूपयोग करने की स्थिति में नहीं होगा। इसके साथ ही प्रत्येक अंग दूसरे के कार्यों में दखल नहीं दे पायेगा। मॉटेस्क्यू शक्ति के केन्द्रीकरण के स्थान पृथक्करण पर बल देता है। वह मानता है कि तीनों ही शक्तियाँ विशिष्ट है अतः उनको अलग ही रहना चाहिए। जब वे एक स्थान पर केन्द्रित होगी तब मानव स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायेगी।

मॉटेस्क्यू स्वतन्त्रता को श्रेष्ठतम् मानवीय आवश्यकता एवं आवश्यक गुण मानता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि राज्य नामक संस्था के उदय के साथ राजनीतिक स्वतन्त्रता का महत्व बढ़ जाता है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्पष्ट करते हुए वह लिखता है- ''जो हम चाहे उसे करने तथा जो न चाहे उसे न करने की स्वतन्त्रता ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है।'' दूसरे शब्दों में कहे तो ''विधि के अनुसार व्यवहार ही स्वतन्त्रता है।''

वह स्पष्ट करता है कि स्वतन्त्रता मानव का आवश्यक गुण है और मानव को सदैव स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है। हर प्रकार के सरकारों में इस अनिवार्य मानवीय आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती है। इसके लिये एक उदार एवं मानवीय सरोकार से जुड़ी सरकार की आवश्यकता होती है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि सरकार के अंगों द्वारा शक्ति का दुरूपयोग न किया जाय। वह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति के दुरूपयोग रोकने के लिये आवश्यक है कि शक्ति का केन्द्रीकरण रोका जाय। वह इतिहास के अनुभव से यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि ''निरन्तर का अनुभव यह स्पष्ट करता है कि प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास सत्ता है उसकी प्रवृत्ति उस शक्ति के दुरूपयोग करने की होती है और वह अपनी शक्ति को तब तक बढ़ाता जाता है जब तक उसका सामना नियन्त्रक सीमा से नहीं होता है।'' वह स्पष्ट करता है कि यह नियन्त्रक एक ही स्थिति में हो सकता है। जब शक्ति को ही शक्ति का नियन्त्रक व सन्तुलक बना दिया जाय। अतः उसकी यह मान्यता थी कि शक्ति के तीन केन्द्र अलग-अलग होने चाहिए। सत्ता तीन स्थानों पर केन्द्रित हो तथा किसी अंग को दूसरे के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। वह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। कि सत्ता का मद अनिवार्य रूप से पतन की ओर ले जाता है। इस अवस्था से बचने के लिये 'सत्ता पर नियन्त्रण' तथा शक्तियों का सन्तुलन आवश्यक है। वह स्पष्ट करता है कि सत्ता अथवा शक्ति का यह संतुलन तभी संभव हो सकता है जब प्रत्येक अंग अपनी सीमाओं में कार्य करे तथा दूसरे अंग की सीमाओं में अतिक्रमण न करे। यह व्यवस्था तीनों अंगो को पूर्णतः पृथक कर ही हो सकती है। वह मानता था कि स्वतन्त्रता की रक्षा तभी हो सकती है जब शक्तियों का पृथक्करण हो। संक्षेप में मॉटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के मूल तत्व इस प्रकार है-

1.सरकार के तीनों अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, नयायपालिका संबंधी शक्तियों एक दूसरे पृथक तथा स्वतन्त्र हो।

2.सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ अलग-अलग व्यक्तियों में निहित हो।

3.सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ एवं उनके कार्मिकों की शक्तियाँ केवल उनके अधिकार क्षेत्र में सीमित, स्वतन्त्र और सर्वोच्च हो।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि शक्ति को शक्ति से पूर्णतः अलग कर शक्ति को ही शक्ति का नियन्त्रक बनाया जा सकता है। कतिपय यही कारण है कि वह इस बात पर जोर देता है कि -

1.सरकार के प्रत्येक अंग की शक्तियाँ स्पष्ट रूप से एक दूसरे से पृथक की जाय।

2.हर अंग का कार्यक्षेत्र एवं उसकी शक्तियाँ स्पष्ट रूप रेखांिकत हो।

3.किसी भी अंग को अथवा सत्ता को किसी अन्य के अधिकार क्षेत्र में दखल नहीं देना चाहिए।

4.हर अंग को अथवा प्रत्येक सत्ता की शक्तियाँ बराबर होनी चाहिए। सभी का समान महत्व होना चाहिए।

5.हर प्रकार के शासन में केवल शक्ति ही शक्ति का विरोध करने की क्षमता रखती है।

मॉटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त ने मानवीय स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने में महत्वपूर्ण कार्य किया। यह उसका मानव स्वतन्त्रता हेतु दिया गया बहुमूल्य योगदान है। उसी के भांति ति आगे जाकर ब्लैकस्टोन, बाइल आदि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या की। जहाँ ब्लैकस्टोन लिखता है- ''जहाँ कही भी कानून बनाने तथा लागू करने का अधिकार एक व्यक्ति में निहित होता है वहाँ सर्वाजनिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जाता है क्योंकि शासक अत्याचारपूर्ण कानून बनाकर उसे अत्याचारपूर्ण ढ़ग से लागू कर सकता है। यदि न्यायिक अधिकार को व्यवस्थापिका के साथ संयुक्त कर दिया जाय तो प्रजा के जीवन, स्वतन्त्रता तथा संपति के अधिकार स्वेच्छाचारी न्यायाधीशों के हाथ में आ जायेंगें क्योंकि वे अपने निर्णय अपने अनुसार देते है न कि विधि के अनुरूप। यदि न्यायपालिका को कार्यपालिका के साथ जोड़ दिया जाय तो व्यवस्थापिका का स्थान गौण हो जायेगा।

आधुनिक समय में एम0जे0 सी0 वाइल ने शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट एवं व्यवस्थित करने का प्रयास किया। उनका सम्पूर्ण विश्लेषण मॉटेस्क्यू एवं ब्लैंकस्टोन के नजदीक ही दिखायी पड़ता है। उनके शब्दों में - ''राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना और स्थामित्व के लिये यह आवश्यक है कि सरकारों को विधायी, कार्यकारी और न्यायिक इन तीनों अंगों में विभाजित किया जाय। इन तीनों अंगों में से प्रत्येक के पास सरकार के व्यवस्थापन संबंधी, प्रशासकीय और न्यायिक कार्य हो। उन्हें दूसरे अंगों के कार्यों में दखल देने की अनुमति न मिले। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में एक से अधिक अंग अथवा शाखा का सदस्य न हो। इस प्रकार सरकार का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों पर नियन्त्रण अथवा अंकुश रखे और व्यक्तियों का कोई एक समूह सम्पूर्ण सरकारी तन्त्र पर न छा जाये।''

एम0जे0सी0वाइल ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि समाजो की मूल्य व्यवस्था को सुरक्षित करनेका एकमात्र साधन मानव से इस सिद्धान्त के माध्यम से खोज लिया है। वह कहता है - ''मानव मूल्यों की सुरक्षा के लिये जितने भी सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं उन सबमें शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त आधुनिक समय में बौद्धिक दृष्टि से तथा संस्थापक संरचनाओं पर प्रभाव की दृष्टि से अत्याधिक महत्वपूर्ण है। इस संबंध में अमेरिकी संविधान निर्माता मेडीसन का कथन उल्लेखनीय

है- ''व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका संबंधी सारी शक्तियों का एक हाथ में एकत्रित होना, अत्याचारी शासन की उपयुक्त परिभाष कही जा सकती है।''

15.6 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रभावः- शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त एक ऐतिहासिक सिद्धान्त था। उसका व्यापक प्रभाव शासन, सत्ता तथा सरकारों के कार्यों पर पड़ा। इस सिद्धान्त ने सरकारों को मानव मूल्यों के प्रति अधिक संवेदनशील बना दिया। अमेरिका तथा फ्रान्स की शासन व्यवस्था पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ विद्वान तो यहाँ तक मानते हैं कि इस सिद्धान्त ने फ्रांस की क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की। फ्रांस की क्रान्ति (1789) के मुख्य नारे समता, स्वतन्त्रता एवं भाईचारे (बंधुत्व) की आधार शिला इस सिद्धान्त ने रखी। बाद के वर्षों में फ्रांस में मानवीय अधिकारों की जो घोषणा हुई उसमें कहा गया कि जिस देश में शक्ति पृथक्करण की व्यवस्था नहीं है, उस देश में संविधान एवं मानव मूल्य नाम की चीज नहीं है। फ्रांस के 1791 के संविधान में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को एक दूसरे से पृथक रखा गया। फ्रांस में प्रशासकीय विधि एवं प्रशासकीय न्यायालय का अस्तित्व इसी सिद्धान्त का प्रभाव है। अमेरिकी संविधान निर्माता शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित थे। इसी का प्रभाव था कि फिलाडेल्फिया सम्मेलन के प्रमुख सदस्य मेडीसन कहते थे- ''हम निरन्तर मॉटेस्क्यू की अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं।'' अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने भी समय-समय पर शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के संविधान एवं अमेरिकी समाज पर प्रभाव को स्वीकारा है। यहाँ पर फाइनर का कथन उल्लेखनीय है- ''अमेरिका का संविधान जानबूझकर एवं प्रयास करके शक्तियों के पृथक्करण पर एक विस्तृत निबंध बनाया गया है। यह संविधान इस सिद्धान्त पर चलने वाला विश्व में सर्वाधिक प्रसिद्ध राज्य शासन है।'' दुनिया के अनेक देशों ने बाद के वर्षों में इस सिद्धान्त को अपने संविधान में जगह दी। कतिपय यही कारण है अध्यक्षात्मक शासन दुनिया में सर्वाधिक पायी जाने वाली शासन व्यवस्था है। 1948 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा स्वीकृत मानव अधिकारों के सार्वलौकिक घोषणा पत्र की धारा 16 में भी इस सिद्धान्त को मान्यता दी गई है।

15.7 शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचनाः-

यह निर्विवाद सत्य है कि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त ने सभी महाद्वीपों के नागरिकों एवं वहाँ बनने वाले संविधानों को प्रभावित किया। यह ऐसा विचार था जिसने मानव मूल्यों, नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता ऊँचाइयों पर स्थापित किया। इस सिद्धान्त ने निरंकुश शासन, तानाशाही से बचने का व्यवहारिक हल प्रस्तुत किया। यह ऐसा विचार था जिसने सरकार के अंगों को तथा उसके कार्मिकों को दूसरे से पृथक एवं स्वतन्त्र रखकर मानव स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाने का प्रयास किया। इसके बावजूद समय गुजरने के साथ इस सिद्धान्त में कुछ त्रुटियाँ उजागर हुई। व्यवहार में इस पर आधारित शासन व्यवस्था में कई तरह की कमियाँ नजर आई। समय के साथ इस विचार में कई संशोधन भी किये गये। कुछ राजनीति शास्त्रीयों ने इसे अतिवादी विचार बताया तो कुछ ने इसे

अव्यवहारिक बताया। संक्षेप में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधार पर की जाती है-

1.सिद्धान्त के प्रतिपादन का आधार गलतः- मॉटेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त का प्रतिपादन ब्रिटेन की शासन व्यवस्था का अध्ययन कर किया गया था। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जिस शासन व्यवस्था को आधार बनाकर मॉटेस्क्यू शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त दे रहा था वहाँ पर संसदीय शासन व्यवस्था है। संसदीय व्यवस्था का यह आधारभूत तत्व है कि वह व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ संबंध पर आधारित होती। संसदीय शासन में कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इस संबंध में रेम्जे म्योर का कथन महत्वपूर्ण है- ''यदि शक्ति पृथक्करण अमेरिकी शासन व्यवस्था का आवश्यक नियम है तो दायित्व का केन्द्रीकरण ब्रिटिश संविधान का आवश्यक नियम है।''

यहाँ पर यह महत्वपूर्ण है कि मॉटेस्क्यू ने जिस सिद्धान्त को आधार बनाकर शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त दिया वह शासन व्यवस्था विधायिका एवं कार्यपालिका में घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। दोनों ही अंगों का जीवन एवं मरण एक दूसरे पर निर्भर करता है। कार्यपालिका, विधायिका के प्रसाद पर्यन्त सत्ता में रहती है तथा विश्वास समाप्त होते ही कार्यपालिका (सरकार) को पद छोड़ना पड़ता है। वहीं दूसरी तरफ कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान संकट के समय निम्न सदन को भंग कर नये चुनाव कराने की सिफारिश राष्ट्र प्रमुख से कर विधायिका का भंग करा सकता है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मॉटेस्क्यू का सिद्धान्त गलत आँकलन तथा गलत विश्लेषण का परिणाम है। इस सिद्धान्त का आधार ही गलत है। कतिपय यही कारण है कि इसकी व्यापक आलोचना हुई है।

2.किसी भी शासन व्यवस्था में पूर्ण पृथक्करण संभव नहीं:- मॉटेस्क्यू का शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त एक अतिवादी सिद्धान्त है। जो सरकार के अंगों के पूर्ण पृथक्करण को स्वीकार करता है। वह सरकार के अंगों के साथ उनके कार्मिकों के भी पृथक्करण अथवा कार्य विशिष्ठीकरण की बात करता है। व्यवहार में किसी भी शासन में यह संभव नहीं है। अध्यक्षात्मक शासन जो शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित आदर्श शासन व्यवस्था मानी जाती है, उसमें भी अंगों के बीच आवश्यक तालमेल एवं संतुलन पाया जाता है। आज के जटिल शासन व्यवस्था में पूर्ण पृथक्करण एक कपोल कल्पना सिद्ध होगी। आज सरकार के कार्य दायित्व दिनों-दिन व्यापक ही नहीं जटिल एवं तकनीकी प्रवृत्ति के हो गये हैं। इन सभी कारणों से सरकार के अंगों में तालमेल ही अपेक्षित परिणाम दिला सकता है। अमेरिका के संविधान निर्माता जो कि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रबल सर्मथक थे उन्होंने ने भी सीनेट (विधायिका)के कानून निर्माण के साथ सरकार के द्वारा किये गये संधि समझौते की स्वीकृति प्रदान करने की शक्ति दी है। यह कार्य वास्तव में कार्यपालिका है परन्तु विधायिका का दखल दिखायी पड़ रहा है। इसी प्रकार राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों को पुष्टि भी सीनेट द्वारा करने की व्यवस्था भी पूर्ण शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के विरूद्ध है। इसके अलावा राष्ट्रपति तथा

अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों द्वारा संविधान का उल्लंघन करने पर महाभियोग द्वारा पद से हटाने की व्यवस्था भी विधायिका एवं कार्यपालिका के पूर्ण पृथक्करण के विरूद्ध है। अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के द्वारा विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों की संवैधानिकता की न केवल जाँच कर सकती है वरन् उसे अंसवैधानिक घोषित कर सकती है। अमेरिका का राष्ट्रपति जो कार्यपालिका का प्रधान होता है वह न्यायधीशों की नियुक्ति तथा क्षमादान के कार्य कर न्यायिक कार्य करता है। विधायिका द्वारा बनाये गये कानूनों के संबंध में उसके पास 'वीटो का अधिकार' (निषेधाधिकार) है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि अमेरिका जहां पर शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर बहुत जोर था, वह भी पूर्ण रूप से शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को नहीं अपना पाया। अमेरिका में भी सरकारों के अंगों में सांमजस्य एवं सहयोग बनाना पड़ा। वहाँ पर सरकार के सभी अंग दूसरे के कार्यों में आवश्यकतानुसार न केवल दखल दे रहे हैं वरन् व्यापक हित में दूसरे के कार्यों को करते हुए दिखायी पड़ रहें हैं। वास्तव में सत्ता का पूर्ण पृथक्करण पूर्णतः अव्यवहारिक सिद्धान्त है। यह आधुनिक समय में संभव ही नहीं है। आज शासन के अंगों के द्वारा मिश्रित कार्यों का संपादन किया जाता है। आधुनिक समय में कार्यों की अधिकता एवं जटिलता ने प्रदत्त विधायन को मजबूत किया है। इसमें एक अंग का कार्य दूसरा करता है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका के कार्यों एवं शक्तियों में वृद्धि हो जाती है। आकस्मिक स्थिति में कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश पारित करना भी कार्यपालिका का विधायी कार्य है। आधुनिक लोकतन्त्र में कार्यों की अधिकता एवं जटिलता ने इसे अव्यवहारिक बना दिया है वहीं फॉसीवाद, नाजीवादी तथा साम्यवादी विचारधारा वाली सर्वाधिकारवादी शासन में इसकी कोई जगह नहीं है। इस संबंध में गेटेल का कथन महत्वपूर्ण है- ''शासन विभिन्न कार्य करने वाले कई अंगों से बनता है, उनका एक साझा कार्य एवं उद्देश्य होता है। जिनकी सफलता के लिये उनकी एकरूपता तथा सहयोग आवश्यक है। विभिन्न विभागों में पृथकता की एक दृढ़ रेखा नहीं खींची जा सकती है।''

3.तीनों अंगों की शक्ति विभाजन एवं सामंजस्य योजना का अभाव:- यह सिद्धान्त पूर्ण रूपेण अंगों के अलग कार्यक्षेत्र का समर्थक है। इससे कई बार तीनों अंगों में गतिरोध, टकराव उत्पन्न हो जाता है। नई जटिल शासन व्यवस्था में टकराव एवं गतिरोध के स्थान पर सहयोग की आवश्यकता होती है। यदि गतिरोध के साथ शासन आगे बढ़ेगा तो शासन का लक्ष्य ही प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में विभाजन का विचार दिया गया है। परन्तु विभाजन योजना का पूर्ण आभाव है। इस सिद्धान्त में अंगों के बीच गतिरोध अथवा टकराव की स्थिति में समाधान हेतु किसी योजना का पूर्णरूपेण अभाव दिखायी देता है।

4.शक्ति पृथक्करण की आवश्यकता ही नहीं हैः- यह सिद्धान्त पूर्णरूपेण कठोर रूप से कभी भी स्वीकार नहीं हो सकता है। आधुनिक समय में सरकार के सभी अंग सामूहिक रूप से एक ही लक्ष्य

को प्राप्त करने के लिये प्रयासरत रहते हैं। वह लक्ष्य होता है जनकल्याण एवं मानव आकाक्षाओं की पूर्ति करना। यह लक्ष्य आज राष्ट्र राज्य वाले बड़े देशों में सरकार के बड़े कार्यक्षेत्र को इंगित करता है। बड़े व्यापक लक्ष्य को पाने के अंगों के सहयोग एवं सामंजस्य की आवश्यकता होती है न कि असहयोग एवं पृथक्करण। यदि आज पूर्ण पृथक्करण के साथ सरकार कार्य करे तो अपने मूल लक्ष्य को ही नहीं प्राप्त कर पायेगी। सरकार असफल हो जायेगी।

आज आवश्यकता व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच सहयोग की है। इनके सहयोग एवं मार्गदर्शन के बिना लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः आज के समय में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आवश्यकता ही नहीं है।

5.न्यायपालिका की निष्पक्षता एवं नागरिक अधिकारों का अंतः- यदि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को पूर्ण रूपेण लागू किया गया तो न्यायपालिका की सर्वोच्च ता एवं निष्पक्षता प्रभावित हो जायेगी। न्यायधीशों की नियुक्ति विधायिका के द्वारा न होकर जनता के द्वारा होने लगेगी तथा न्यायपालिका न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग नहीं कर पायेगी। इसके अभाव में नागरिक अधिकारों की रक्षा तथा संविधान के प्रावधानों का पालन सुनिश्चित नहीं करा पायेगी। ऐसी दशा में संविधान केवल दिखाने की वस्तु बन कर रह जायेगा। आधुनिक समय में नागरिक अधिकार तथा संविधान की सर्वोच्च ता का सिद्धान्त सर्वोच्च माना जाता है। इन दोनों आदर्षों को आज अनिवार्य रूप से सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाता है।

6.स्वतन्त्रता के लिये शक्ति पृथक्करण आवश्यक नहीं- यह मानना कि सरकार के तीनों अंगों को पृथक कर ही स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जा सकता है पूर्णतः गलत है। नागरिक स्वतन्त्रता हेतु संविधान एवं संविधान के अनुरूप सरकार के अंगों का सुचारू रूप से संचालन आवश्यक है। सरकार के अंगों में बेहतर सांमजस्य ही स्वतन्त्रता की गांरटी है। इसका अच्छा उदाहरण इंग्लैण्ड का है। इंग्लैण्ड के शासन से ही प्रभावित हो कर मॉटेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त दिया था। जबकि इंग्लैण्ड ने संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण वहाँ तीनों अंगों में घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। वहाँ पर सरकार के अंगों में पृथक्करण न होते हुए भी नागरिक स्वतन्त्रता सुरक्षित है। ब्रिटेन की नागरिक स्वतन्त्रता ने ही मॉटेस्क्यू को शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के लिये प्रेरित किया था। यहाँ पर वाशिगटन का कथन महत्वपूर्ण है- ‘‘निरन्तर जागरूकता ही स्वतन्त्रता का सच्चा मूल्य है’’

मॉटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना की जाती है परन्तु यह महत्वपूर्ण है कि मॉटेस्क्यू ने मानव मूल्यों और स्वतन्त्रता को न केवल महिमा मण्डित किया वरन् उसके सुरक्षा के लिये व्यवहारिक उपाय शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के माध्यम से प्रस्तुत किया। वह पहला विचारक था जिसने शक्ति के केन्द्रकरण को स्वतन्त्रता का दुश्मन बताया। उसने सरकार के अंगों के समान रूप से शक्तिशाली बनाकर आगे जाकर अवरोध संतुलन के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया।

आज दुनिया के सभी देशों में किसी न किसी रूप में पृथक्करण सिद्धान्त तथा अवरोध संतुलन के सिद्धान्त का प्रयोग हो रहा है।

15.8 अवरोध एवं सतुंलन का सिद्धान्तः- अवरोध एवं सतुंलन का सिद्धान्त आज बहुत लोकप्रिय एवं उपयोगी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। आज दुनिया के सभी लोकतान्त्रिक देशों में अवरोध संतुलन के सिद्धान्त के द्वारा सरकार के अंगों में सांमजस्य बनाने का कार्य करता हुआ दिखायी पड़ता है। कुछ विद्वान इसे शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का नवीन रूप भी मानते हैं। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि सरकार के सभी अंग समान हो तथा कोई किसी पर दबाव नहीं बनाये। कोई अंग इतना मजबूत एवं शक्तिशाली न बन जाये जिससे मानव स्वतन्त्रता ही खतरे में पड़ जाये। इस सिद्धान्त का आशय है सरकार के विभिन्न अंग एक दूसरे की शक्ति पर इस प्रकार से नियन्त्रण स्थापित करें कि शक्ति का संतुलन बना रहे। कोई भी अंग निरंकुश न हो जाय। दूसरांे शब्दों में कहे तो विभिन्न विभाग पृथक तो हो सकते है परन्तु स्वतन्त्र नहीं। इस व्यवस्था में सरकार का प्रत्येक अंग एक दूसरे की शक्तियों को इस प्रकार सीमित करते है जिससे कि कोई भी अंग नागरिक स्वतत्रन्ता के लिये खतरा नहीं बन पाता है। नियन्त्रण एवं संतुलन सिद्धान्त के अर्न्तगत ऐसा प्रबन्ध किया जाता है कि कानून निर्माण का कार्य वयवस्थापिका करे परन्तु विधायिका की इस शक्ति पर कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। इसमें यह व्यवस्था दिखायी पड़ती है कि विधायिका द्वारा पारित विधेयक तभी कानून बनते हैं। जब कार्यपालिका के प्रधान के हस्ताक्षर न हो जायें। न्यायपालिका के द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के द्वारा न्यायपालिका विधायिका द्वारा बनाये गये कानूनों की वैधता को जांचती है। इससे विधायिका की विधायी शक्तियों पर नियन्त्रण रखा जाता है।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि पूर्ण एवं कठोर शक्ति पृथक्करण न तो व्यवहारिक है और न ही आधुनिक परीस्थितियों में लागू करने योग्य है। सरकार के अंगों में कार्य विभाजन तो ठीक है साथ ही उनमें सहयोग एवं सामंजस्य भी आवश्यक है। यही कारण है कि नियन्त्रण एवं संतुलन के सिद्धान्त में सहयोग तथा एक अंग द्वारा दूसरे को सीमित करने की व्यवस्था की जाती है। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के अव्यावहारिक होने के कारण इस सिद्धान्त के द्वारा शक्ति पृथक्करण को व्यावहारिक एवं अधिक कारगर बनाया गया। नियन्त्रण संतुलन का सिद्धान्त में शासन का प्रत्येक अंग दूसरे पर निर्भर रहता है तथा दूसरे की शक्तियों द्वारा शक्ति के दुरूपयोग को रोकता है। अमेरिकी संविधान इसी अवरोध एवं संतुलन के सिद्धान्त पर कार्य करता है।

15.9 अमेरिका का अवरोध संतुलन:-

अमेरिका के संविधान में अवरोध संतुलन का एक आदर्श उदाहरण मिलता है। वहाँ पर सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ संविधान द्वारा अलग-अलग रखी गई हैं। वहाँ पर शक्ति पृथक्करण का

सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। इसके बावजूद सभी अंग एक दूसरे को नियन्त्रित करते हुए दिखायी पड़ते हैं। अमेरिका में विधायिका का मुख्य कार्य कानून बनाना है। परन्तु वह कार्यपालिका की नियुक्ति संबंधी कार्यों की, संधि समझौते की पुष्टि करती है। राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग भी विधायिका के द्वारा ही पूर्ण किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अमेरिका में विधायिका कार्यपालिका के ऊपर प्रभावी अंकुश लगाती है। विधायिका न्यायपालिका में न्यायधीशों की नियुक्ति कर तथा न्यायधीशों के विरूद्ध महाभियोग लगाकर न्यायपालिका पर प्रभावी अंकुश लगाने का कार्य करती है। ठीक इसी प्रकार कार्यपालिका का प्रमुख कार्य नीतियों कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करना होता है परन्तु वहाँ की कार्यपालिका का प्रधान (राष्ट्रपति) वीटो की शक्ति का प्रयोग कर विधायिका के द्वारा निर्मित कानून को कानून बनने से रोक सकता है। राष्ट्रपति के वीटो का अधिकार अमेरिकी काँग्रेस (विधायिका) पर प्रभावी नियन्त्रण है। इसी प्रकार अमेरिका में कार्यपालिका का प्रधान (राष्ट्रपति) न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का अधिकार का प्रयोग कर न्यायपालिका को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय एक शक्तिशाली न्यायालय है। उसके पास कानूनों की संवैधानिकता की जांच करने तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा करने का महत्वपूर्ण दायित्व है। अपनी इस शक्ति का प्रयोग वह न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के द्वारा करता है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय अपने न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार के द्वारा विधायिका के ऊपर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित रखती है। इसी प्रकार अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय कार्यपालिका के कार्यों, आदेशों की वैधानिकता की जांच कर उस पर नियन्त्रण लगाने की क्षमता रखता है। इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका की संवैधानिक व्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त तो अपनाया गया है साथ में सभी अंगों को इतना ताकतवर एवं महत्वपूर्ण बनाया गया है कि वे दूसरे अंगों के ऊपर प्रभावी अंकुश एवं नियन्त्रण स्थापित कर सकंे। अमेरिकी संवैधानिक व्यवस्था में सरकार के अंगों को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रखा गया है। यह व्यवस्था व्यापक विमर्श के उपरान्त की गई है जिससे सरकार के अंगों के बीच एक 'प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग' की भावना रहे और कोई भी सरकार का अंग इतना शक्तिशाली न हो जाय कि वह दूसरे सरकार के अंग को प्रभावित कर अत्याधिक शक्तिशाली (निरंकुश) बन जाये। अमेरिका के संविधान में अपनायी गई यह अद्भुत एवं दूरदर्शी व्यवस्था थी जिसने नागरिक स्वतन्त्रता के साथ प्रशासनिक कुशलता को सुनिश्चित किया। यह वह व्यवस्था थी जिसने सरकार के अंगों में सामंजस्य एवं सहयोग को बढ़ावा दिया। इस सम्पूर्ण व्यवस्था से नागरिक स्वतन्त्रता के साथ वैधानिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक कुशलता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

15.10 भारत में शक्ति पृथक्करण एवं नियन्त्रण संतुलन व्यवस्थाः

- भारत में संसदीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। सामान्यतः संसदीय शासन व्यवस्था में यह माना जाता है कि इस शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ संबंध

पाया जाता है। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर करता है। मन्त्रिमण्डल का निर्माण तथा उसका जीवन विधायिका के विश्वास पर्यन्त ही रहता है। उसी प्रकार विधायिका का अस्तित्व भी कार्य पालिका (प्रधानमंत्री सहित मन्त्रिमण्डल) पर निर्भर करता है। मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर निम्न सदन को भंग कर नये चुनाव कराये जा सकते हैं। यह कहना कि संसदीय शासन व्यवस्था में शक्ति पृथक्करण नहीं हो सकता पूर्णतः गलत है। वास्तव में संसदीय शासन में सीमित शक्ति पृथक्करण होता है तथा अवरोध संतुलन पर अधिक जोर पाया जाता है। सामान्यतः संसदीय शासन व्यवस्था में संविधान की रक्षा तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिये न्यायपालिका को संविधान द्वारा स्वतन्त्र रखा जाता है। शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिये संसदीय शासन व्यवस्था में अवरोध संतुलन को स्वीकार किया जाता है। भारत की शासन व्यवस्था संसदीय है अतः यहाँ पर भी ''अवरोध संतुलन'' के तत्व दिखायी पड़ते हैं। भारत के संविधान में संसदीय शासन होने के बावजूद शक्ति पृथक्करण तथा नियन्त्रण संतुलन की व्यवस्था की गई है। भारत में विधायिका का कार्य कानून बनाना है परन्तु विधायिका कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग पारित कर उसे पद से हटा सकती है। ठीक इसी प्रकार स्वतन्त्र न्यायपालिका के न्यायाधीशों को भी महाभियोग द्वारा पद से हटाने का कार्य भी विधायिका करती है। भारत में कार्यपालिका अथव मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर राष्ट्रपति (कार्यपालिका का प्रधान) लोकसभा (विधायिका) को भंग कर सकता है। भारत में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एवं सर्वोच्च ता के लिये संविधान द्वारा विशेष प्रावधान किये गये हैं। इसी के लिये सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान की गई है। अपनी इस शक्ति के द्वारा भारत में न्यायपालिका विधायी कानूनों की वैधानिकता की जांच कर सकता है। यदि कोई कानून संवैधानिक प्रतीक नहीं होता तो वह असंवैधानिक घोषित कर सकता है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय अपनी न्यायिक पुनरावालोकन की शक्ति का प्रयोग कार्यपालिका के आदेशों तथा नीतियों के संदर्भ में कर उसे अवैधानिक घोषित कर सकता है। भारत में राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होते हुए भी विधायिका के ऊपर संसद का सत्र बुला सत्रावसन की घोषणा कर, अध्यादेश जारी कर, विधेयकों पर वीटो कर प्रभावी अंकुश लगाता है।

उपरोक्त विवरण ये यह स्पष्ट है कि यद्यपि भारत में संसदीय शासन होने के कारण पूर्ण शक्ति पृथक्करण की व्यवस्था नहीं की गई है परन्तु नियन्त्रण एवं संतुलन की व्यापक व्यवस्था की गई है।

15.11 अवरोध संतुलन के प्रकार:-

शक्तियों के पूर्ण पृथक्करण की व्यापक व्यवस्था अमेरिका में की गई। इसके बावजूद नियन्त्रण संतुलन के द्वारा अंगों में सहयोग एवं नियन्त्रण स्थापित किया गया। विकसित देशों में नियन्त्रण संतुलन की गैर संवैधानिक सरंचनाओं के कारण शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त कम प्रभावी दिखायी पड़ता है। अब अन्य संस्थायें इन दोनों कार्यों को करने लगी हैं। आधुनिक समय में राजनीतिक दल, दबाव, समूह, लोकमत, जनसंचार के साधन इस कार्य को करते हुए दिखायी पड़ते हैं। विकसित

राजनीतिक व्यवस्थाओं में संरचनात्मक व्यवस्थाओं के कारण नियन्त्रण एवं संतुलन का सिद्धान्त आवश्यक होता जा रहा है। विकासशील समाजों में अभी इन सबका इस रूप में विकास नहीं हुआ है। अतः इन देशों में लोकतन्त्र एवं नागारिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये शक्ति पृथक्करण की अभी भी आवश्यकता बनी हुई है। अमेरिका एवं अन्य विकसित राजनैतिक व्यवस्था वाले देशों में दो तरह के नियन्त्रण एवं संतुलन की व्यवस्था दिखायी पड़ती है-

1.संवैधानिक नियन्त्रण संतुलन

2.गैर संवैधानिक नियन्त्रण संतुलन

1.संवैधानिक नियन्त्रण व संतुलन व्यवस्था:-

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की अव्यवहारिकता एवं उससे होने वाले नुकसान के कारण इस सिद्धान्त का पूर्ण रूप से लागू नहीं किया जा सकता । इसके स्थान पर एक नये सिद्धान्त नियन्त्रण व संतुलन सिद्धान्त के द्वारा इस कार्य को करने का प्रयास किया गया। इस हेतु संविधान द्वारा ही इसकी व्यवस्था की गई इसीलिये इसे संवैधानिक नियन्त्रण व संतुलन व्यवस्था कहा गया। इस व्यवस्था में नियन्त्रण की व्यवस्था संविधान द्वारा स्पष्ट होती है। नियन्त्रण करने की सम्पूर्ण व्यवस्था औपचारिक होती है। तथा सामान्य परीस्थितियों में यह प्रभावी होती है। यहाँ पर यह महत्वपूर्ण है कि सामान्य परीस्थितियों से ज्यादा नियन्त्रण की आवश्यकता आपातकाल में होती है। जब कोई सरकार अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करती है तब संवैधानिक व्यवस्थायें उस पर रोक लगाने में असफल रहती हैं। विकासशील देशों में प्रायः देखा गया है कि वहाँ लोकतन्त्र सैनिक क्रान्तियों से समाप्त नहीं हुआ है। वहाँ पर संवैधानिक नियन्त्रण संतुलन होने के बावजूद सरकारों ने अप्रत्याशित शक्तियों को हथिया लिया। अतः इस सिद्धान्त के द्वारा शासन के तीनों अंगों की शक्तियों के लिये ऐसा प्रबन्ध करना होता है जिसमें तीनों अंग एक दूसरे से स्वतन्त्र रहते हुए भी एक दूसरे पर ऐसा नियन्त्रण बनाये रखते हैं, जिससे कि संतुलन बना रह सके। शासन के प्रत्येक अंग को इतना एक दूसरे पर निर्भर बना दिया जाता है कि यदि कोई अंग अपनी जिम्मेदारी न निभाये तो शासन का दूसरा अंग उसे सचेत करने तथा नियन्त्रित करने का कार्य करता है। तीनों अंगों में परस्पर सामंजस्य और नियन्त्रण के साथ स्वतन्त्रता भी बनी रहती है। इस सिद्धान्त का मूल लक्ष्य नियन्त्रण लगाना नहीं है। इसका मूल उद्देश्य संतुलन बनाना है। यह कार्य जटिल है। नियन्त्रण उतना ही स्वीकार्य है जितना की संतुलन हेतु आवश्यक है। यही कारण है कि आज विधायिका के ऊपर कार्यपालिका विधेयकों को स्वीकृति दे कर, अध्यादेश जारी कर नियन्त्रण स्थापित करती है। वही कार्यपालिका के ऊपर विधायिका नियुक्तियों को स्वीकृति दे, महाभियोग स्वीकृति कर, नियन्त्रण प्राप्त होता है। न्यायपालिका विधेयकों तथा कार्यपालिका के आदेशों की वैधानिकता की जाँच के द्वारा विधायिका एवं कार्यपालिका पर

नियन्त्रण स्थापित करती है। इस प्रकार तीनों अंग प्रभावी नियन्त्रण तथा उनमें संतुलन करने का प्रयास करने में सफल हो पाते हैं।

2.गैर संवैधानिक नियन्त्रण और संतुलन व्यवस्थाः- समय गुजरने के साथ नियन्त्रण एवं संतुलन के तरीके भी बदल गये हैं। आधुनिकता के विकास, विज्ञान के विकास ने शासन के तौर तरीकों में भी बदलाव किया है। आज नियन्त्रण हेतु कई गैर संवैधानिक तत्व उभर आये हैं। ये तत्व संवैधानिक व्यवस्थाओं से अधिक प्रभावी तरीके से नियन्त्रण एवं संतुलन करते हुए दिखायी पड़ रहे हैं। आधुनिक समय में राजनीतिक दल, दबाव समूह, हित समूह, नये संचार के माध्यम, सोशल मीडिया, लोकमत ने सरकार के ऊपर अदृश्य रूप से प्रभावी अकंुश लगाना है। आज सरकार के अंगों के ऊपर प्रभावी अंकुश ही नहीं दिखायी पड़ रहा है वरन् सरकारें तथा उनके अंग बेहतर ढंग से संतुलित दिखायी पड़ रहे हैं। विकासशील समाजों में से अभी प्रभावी नहीं हो पाये हैं। परन्तु विकासशील राज्यों तथा उनकी शासन व्यवस्थाओं में इनका प्रभाव दिखायी पड़ने लगा है।

15.12 नियन्त्रण एवं संतुलन सिद्धान्त की आलोचनाः- नियन्त्रण एवं संतुलन का सिद्धान्त आधुनिक समय में एक उपयोगी सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ है। इस सिद्धान्त ने कठोर शक्ति पृथक्करण की अव्यवहारिका को न केवल दूर किया वरन् सरकार के अंगों में नियन्त्रण एवं संतुलन का व्यवहारिक हल प्रस्तुत किया। आज दुनिया के अधिकांश देशों में इस सिद्धान्त का अस्तित्व दिखायी पड़ता है। इन सबके बावजूद विभिन्न कारणों से इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। इसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्न हैः-

1.शासन में गतिरोध की संभावनाः- नियन्त्रण एवं संतुलन का सिद्धान्त की आलोचना कुछ विद्वान इस आधार पर करते है कि इससे शासन के अंगों के बीच सहयोग के स्थान पर टकराव प्रारम्भ हो जाता है। अंगों का टकराव किसी भी शासन व्यवस्था के लिये हितकर नहीं होगा। सरकार अपने अंगों के बीच सांमजस्य से ही अपेक्षित परिणाम दे सकती है। शासन के अंगों बीच उपजा गतिरोध न केवल अपेक्षित परिणाम आने से रोकता है वरन् शासन का मूल उद्देश्य ही समाप्त कर देता है।

2.निर्णय लेने में देरीः- प्रायः देखा जाता है कि शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध एवं संतुलन से सरकार के अंगों के बीच अनिश्चितता एवं अविश्वसनीयता का वातावरण बन जाता है। वे एक दूसरे के मार्ग में बाधायें उत्पन्न करने लगते हैं। यदि अंगों के बीच असहयोग एवं अनिश्चतता होगी तो सरकारें अपने कार्यों को ठीक प्रकार नही कर पायेंगी। उनके बीच उपजा टकराव कई बार निर्णय लेने में व्यवधान उत्पन्न करता है। यह इसका प्रमुख दोष है।

3.अव्यवहारिक सिद्धान्तः- आधुनिक समय में सरकार का स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र का दायरा तेजी से बढ़ रहा है। आज सरकारों को तकनीकी एवं विशेषज्ञता पूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। आज सरकारों के बीच जो चुनौतियां है उनमें त्वरित निर्णय की आवश्यकता रहती है। ऐसे में शक्ति पृथक्करण के

सिद्धान्त की ही तरह नियन्त्रण एवं संतुलन के सिद्धान्त पर सवाल उठने लगे हैं। अमेरिका में विधायिका एवं कार्यपालिका के बीच टकराव के कारण कई अवसरों पर राष्ट्रहित ही खतरे में पड़ गया। उतः कुछ विद्वान इस सिद्धान्त को अव्यवहारिक मानते हैं।

4.नियन्त्रण संतुलन के सिद्धान्त एवं महत्व में कमीः- आधुनिक समय में यह सिद्धान्त अपना प्रभाव एवं महत्व निरन्तर खोता जा रहा है। इसका प्रमुख कारण आज के दौर में सरकार के समक्ष उपजी चुनौतियों का जबाव इस सिद्धान्त के द्वारा नहीं दिया जा सकता है। आज टकराव के स्थान पर सरकार के अंगों के बीच सहयोग एवं सामंजस्य से ही सरकार के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

15.13 मूल्यांकन/निष्कर्ष –

आज दुनिया में शायद ही कोई देश ही जहाँ किसी न किसी रूप में शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन न दिखायी पड़ रहा हो। इस प्रकार की शासन प्रणालियों में किसी न किसी रूप में यह सिद्धान्त दिखायी पड़ता है। समय के साथ शक्ति पृथक्करण के सिद्धानत में उपजी खामियों की भरपाई अवरोध एवं संतुलन के सिद्धानत ने कर दी है। यह भी सत्य है कि इस सिद्धान्त की अवधारणाओं में आये सभी प्रयत्नों के बावजूद यह सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने वाला सर्वाधिक उपयुक्त सिद्धान्त है। तेजी से बदल रही राजनीतिक स्थितियों तथा सरकार के समक्ष आ रही नई चुनौतियों के मुकाबले में यह सिद्धान्त किसी न किसी रूप में खड़ा हो रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सभी महाद्वीपों एवं विकसित-विकासशील देशों में इस सिद्धान्त का प्रसार इसकी सफलता एवं उपयोगिता को दर्शाता है। यह ऐसा विचार है जो किसी न किसी रूप में सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर बाइल का कथन उपयोगी हैः- ‘‘विगत शताब्दियों के इतिहास का परीक्षण करने पर यह भेद खुलता है कि अपनी सभी कमियों के बावजूद शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त में एक अड़ियल विशेषता है कि यह भिन्न-भिन्न रूपों में बार-बार प्रकट होता है। यह इस लक्ष्य की पुष्टि है कि किसी न किसी रूप में शक्तियों का विभाजन तथा शासन कार्यों का पृथक्करण सरकार व शासन की व्यवस्था के अन्तरतम में ही निहित रहता है।’’ कुछ विद्वान ठीक ही कहते है कि- ‘‘शक्तियों का केन्द्रीकरण तथा शक्तियों का पृथक्करण दोनों ही न टलनेवाले तथ्य है।’’

15.14 सारांशः-

शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्राचीन है। इस सिद्धान्त को देने के पीछे मानव स्वतन्त्रता की खोज तथा उसको निरन्तर बनाये रखने की इच्छा थी। यह सत्ता के एक स्थान पर केन्द्रीकरण को रोकने लिये लाया गया सिद्धान्त था जिसका मूल उद्देश्य नागरिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना था। यह सिद्धान्त सरकार के तीनों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को परस्पर एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं नियन्त्रण मुक्त रखना चाहता है। यह सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि जब-जब इन

तीनों अंगों की शक्तियाँ किसी एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती हैं तो वहाँ पर निरंकुश शक्ति का जन्म हो जाता है। निरंकुश सत्ता के आते ही नागरिक स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित एवं निर्बाध बनाये रखने के लिये यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया। नागरिक स्वतन्त्रता के इतिहास में यह मील का पत्थर साबित हुआ।

लाँक पहला राजनीतिक विचारक था जिसने सर्वप्रथम माना था कि नागरिक स्वतन्त्रता के लिये सरकार के अंगों का पृथक्करण आवश्यक है। लाक के बाद मॉटेस्क्यू ने इस सिद्धान्त को नई ऊँचाइयों पर पहुंचाया। सर्वप्रथम मॉटेस्क्यू ने इंग्लैण्ड के संविधान का अध्ययन कर शक्ति पृथक्करण की एक व्यापक एवं व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया। मॉटेस्क्यू के बाद ब्लैकस्टोन, बाइल आदि ने इसे नई ऊंचाइयों पर पहुंचाया। पूर्व में यूनानी विचारकों, सिसरो, अरस्तू, प्लेटो आदि ने विकेन्द्रित सत्ता को मानव के हित में बताया था।

यह सिद्धान्त सरकार के तीनों अंगों को न केवल पृथक एवं स्वतन्त्र रखने की वकालत करता है वरन् इनसे जुड़े कार्मियों को भी स्वतन्त्र रखने का जोर देता है। आधुनिक समय में राज्यों के बढ़ते कार्यक्षेत्र, जटिल एवं तकनीकी प्रवृत्ति के कार्यों की अधिकता ने अंगों के पृथकीकरण को अव्यवहारिक बना दिया है। आज के समय में प्रदत्त विधायन को स्वीकार किया जा रहा है। जिसमें विधायिका के कार्यों को हल्का करने के लिये विधि निर्माण का सीमित दायित्व कार्यपालिका को सौंप दिया जाता है। इस प्रकार आधुनिक सरकार के तीनों अंगों में पूर्ण पृथकता न तो संभव है और न ही व्यवहारिक है। चाहे अध्यक्षात्मक शासन हो या संसदात्मक शासन सभी में अंगों के बीच सहयोग एवं सामंजस्य आवश्यक है। अध्यक्षात्मक शासन जिसे शक्ति पृथक्करण का आदर्श माना जाता है वहाँ भी व्यवहार में अंगों के बीच सहयोग एवं सामंजस्य से ही शासन आगे बढ़ता दिखायी पड़ता है। पूर्ण पृथक्करण न तो सभंव है और न ही व्यवहारिक है। अतः इस दशा में पृथक्करण के सिद्धान्त के आगे और सिद्धान्त अवरोध और संतुलन का सिद्धान्त कारगर दिखता है। यह सिद्धान्त प्रत्येक अंग की स्वतन्त्रता तो सुनिश्चित करता है। साथ में दूसरे का निर्भरता को भी निश्चित करता है। इस सिद्धान्त में प्रत्येक शासन का अंग दूसरे अंग को नियन्त्रित करता हुआ दिखायी पड़ता है। आधुनिक समय मे अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त बहुत कारगर एवं प्रभावी है। अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में विधायिका कार्यपालिका द्वारा (राष्ट्रपति) की गई नियुक्तियों तथा संधि समझौते की पुष्टि करता है और उसे नियन्त्रित करता है। दूसरी तरफ राष्ट्रपति विधायिका द्वारा पारित विधेयकों को वीटो कर कानून बनने से रोक सकता है तथा उसे नियन्त्रित करता है। निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि शक्ति पृथक्करण तथा उसकी अगली कड़ी अवरोध संतुलन का सिद्धान्त एक प्रभावी एवं उपयोगी सिद्धान्त है।

15.15 शब्दावली:-

1.कार्य विशेषीकरणः- इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति की योग्यता के अनुसार विशेष कार्य सौंपा जाना चाहिए।

2.प्रदत्त विधायनः- आधुनिक समय में बढ़े हुए विधायिका के कार्यों को कम करने के लिये कार्यपालिका को कानून बनाने की शक्ति सौंपने की व्यवस्था प्राप्त विधायन है।

3.महाभियोगः- राष्ट्रपति तथा न्यायधीशों को पद से हटाने की विशेष प्रक्रिया महाभियोग कहलाती है।

4.न्यायिक पुनरावलोकनः- विधायिका के निर्मित कानूनों तथा कार्यपालिका के आदेशों को संवैधानिकता की जांच करने की न्यायपालिका की शक्ति न्यायिक पुनरावलोकन कहलाती है।

5.वीटोः- विधायिका द्वारा स्वीकृत विधेयक जब राष्ट्रपति के पास अनुमोदन के लिये जाता है और राष्ट्रपति हस्ताक्षर न कर वापस कर देता है। राष्ट्रपति की यह शक्ति वीटो शक्ति कहलाती है।

6.अध्यादेशः- विधायिका का सत्र न चल रहा हो और आकस्मिक कानूनों की आवश्यकता हो तब कार्यपालिका अध्यादेश जारी करती है। अध्यादेश कार्यपालिका द्वारा निर्गत कानून होता है।

15.16 अभ्यास के प्रश्नः-

1.निम्न में से कौन सा सरकार का अंग है?

(अ) विधायिका (ब) कार्यपालिका (स) न्यायपालिका (द) सभी

2.निम्न में से कौन यूनानी विचारक है?

(अ) सिसरो (ब) प्लेटो (स) अरस्तू (द) सभी

3.मॉटेस्क्यू का शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का उल्लेख है-

(अ) दि गर्वनमेंट (ब) स्पिरिट ऑफ लॉ (स) स्टेट (द) ले विभाजन

4.शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का आदर्श उदाहरण है-

(अ) भारत (ब) इंग्लैण्ड (स) अमेरिका (द) सभी

5.अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त कार्य करता है-

(अ) विधायिका-कार्यपालिका सहयोग एवं नियन्त्रण (ब) कार्यपालिका और न्यायपालिका सहयोग एवं नियन्त्रण (स) विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका सहयोग एवं नियन्त्रण (द) कोई नहीं

15.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1.गेना0 सी0वी0 , तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं

2.मल्ल वी0पी0, भारत का राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारत का संविधान

3.जैन आर0वी0एस0 , तुलनात्मक राजनीति

4.अग्रवाल आर0सी0, आधुनिक सरकारें के सिद्धान्त एवं व्यवहार

5.जैन पुखराज, आधुनिक सरकारें, सिद्धान्त एवं व्यवहार

15.18 सहायक उपयोगी सामग्री:-

1.सोडारो जे माईकल , कम्परेटिव पॉलिटिक्स

2.राम गांधी जी, तुलनात्मक शासन एवं राजनीति

3.गाबा ओ0पी0, राजनीति शास्त्र की रूपरेखा

4.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें

5.सिघंल एस0सी0, आधुनिक सरकारों के सिद्धान्त एवं व्यवहार

15.19 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

1.द, 2.द, 3.ब, 4.स ,5.स

15.20 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1.शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त से क्या समझते है? इसके गुण-दोष की व्याख्या कीजिये।

2.अवरोध संतुलन सिद्धान्त पर निबन्ध लिखिये।

3.अमेरिका में अवरोध एवं संतुलन सिद्धान्त किस प्रकार काम करता है। इसकी व्यापक व्याख्या कीजिये।

4.''पूर्ण पृथक्करण न केवल अव्यववहारिक वरन् अवांछनीय है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

5.शक्ति पृथक्करण एवं अवरोध संतुलन सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? नागरिक स्वतन्त्रता में इसके योगदान को स्पष्ट कीजिये।